संयम स्वर्ण महोत्सव (२०१७-१८) की विनम्र प्रस्तुति क्र० १३

षट्शती

रचयिता
आचार्य विद्यासागर महाराज

प्रकाशक
जैन विद्यापीठ
सागर (म० प्र०)

षट्शती

कृतिकार : आचार्य विद्यासागर महाराज
संस्करण : २८ जून, २०१७ (आषाढ़ सुदी पंचमी, वीर निर्वाण संवत् २५४३)
आवृत्ति : ११००
वेबसाइट : www.vidyasagar.guru

प्रकाशक एवं प्राप्तिस्थान
जैन विद्यापीठ
भाग्योदय तीर्थ, सागर (म० प्र०) चलित दूरभाष ७५८२-९८६-२२२
ईमेल : jainvidyapeeth@gmail.com

मुद्रक
विकास ऑफसेट प्रिंटर्स एण्ड पब्लिसर्स
प्लाट नं. ४५, सेक्टर एफ, इन्डस्ट्रीयल एरिया गोविन्दपुरा, भोपाल, ९४२५००५६२४

आद्य वक्तव्य

युग बीतते हैं, सृष्टियाँ बदलती हैं, दृष्टियों में भी परिवर्तन आता है। कई युगदृष्टा जन्म लेते हैं। अनेकों की सिर्फ स्मृतियाँ शेष रहती हैं, लेकिन कुछ व्यक्तित्व अपनी अमर गाथाओं को चिरस्थाई बना देते हैं। उन्हीं महापुरुषों का जीवन स्वर्णिम अक्षरों में लिखा जाता है, जो असंख्य जनमानस के जीवन को घने तिमिर से निकालकर उज्ज्वल प्रकाश से प्रकाशित कर देते हैं। ऐसे ही निरीह, निर्लिप्त, निरपेक्ष, अनियत विहारी एवं स्वावलम्बी जीवन जीने वाले युगपुरुषों की सर्वोच्च श्रेणी में नाम आता है दिगम्बर जैनाचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज का, जिन्होंने स्वेच्छा से अपने जीवन को पूर्ण वीतरागमय बनाया। त्याग और तपस्या से स्वयं को शृंगारित किया। स्वयं के रूप को संयम के ढाँचे में ढाला। अनुशासन को अपनी ढाल बनाया और तैयार कर दी हजारों संयमी युवाओं की सुगठित धर्मसेना। सैकड़ों मुनिराज, आर्यिकाएँ, ब्रह्मचारी भाई-बहिनें। जो उनकी छवि मात्र को निहार-निहार कर चल पड़े घर-द्वार छोड़ उनके जैसा बनने के लिए। स्वयं चिद्रूप, चिन्मय स्वरूप बने और अनेक चैतन्य कृतियों का सृजन करते चले गए जो आज भी अनवरत जारी है। इतना ही नहीं अनेक भव्य श्रावकों की सल्लेखना कराकर हमेशा-हमेशा के लिए भव-भ्रमण से मुक्ति का सोपान भी प्रदान किया है।

महामनीषी, प्रज्ञासम्पन्न गुरुवर की कलम से मूकमाटी जैसे क्रान्तिकारी-आध्यात्मिक-महाकाव्य का सृजन हुआ। जो अनेक भाषाओं में अनुदित हुआ साथ ही अनेक साहित्यकारों ने अपनी कलम चलायी परिणामतः मूकमाटी मीमांसा के तीन खण्ड प्रकाशित हुए। आपके व्यक्तित्व और कर्तृत्व पर लगभग ५० शोधार्थियों ने डी० लिट्०, पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की।

अनेक भाषाओं के ज्ञाता आचार्य भगवन् की कलम से जहाँ अनेक ग्रन्थों के पद्यानुवाद किए गए तो वहीं नवीन संस्कृत और हिन्दी भाषा में छन्दोबद्ध रचनायें भी सृजित की गई। सम्पूर्ण विद्वत्जगत् आपके साहित्य का वाचन कर अचंभित हो जाता है। एक ओर अत्यन्त निस्पृही, वीतरागी छवि तो दूसरी ओर मुख से निर्झरित होती अमृतध्वनि को शब्दों की बजाय हृदय से ही समझना श्रेयस्कर होता है।

प्राचीन जीर्ण-शीर्ण पड़े उपेक्षित तीर्थक्षेत्रों पर वर्षायोग, शीतकाल एवं ग्रीष्मकाल में प्रवास करने से समस्त तीर्थक्षेत्र पुनर्जागृत हो गए। श्रावकवृन्द अब आये दिन तीर्थों की वंदनार्थ घरों से

निकलने लगे और प्रारम्भ हो गई जीर्णोद्धार की महती परम्परा। प्रतिभास्थलियों जैसे शैक्षणिक संस्थान, भाग्योदय तीर्थ जैसा चिकित्सा सेवा संस्थान, मूकप्राणियों के संरक्षणार्थ सैकड़ों गौशालाएँ, भारत को इण्डिया नहीं 'भारत' ही कहो का नारा, स्वरोजगार के तहत 'पूरी मैत्री' और 'हथकरघा' जैसे वस्त्रोद्योग की प्रेरणा देने वाले सम्पूर्ण जगत् के आप इकलौते और अलबेले संत हैं।

कितना लिखा जाये आपके बारे में शब्द बौने और कलम पंगु हो जाती है, लेकिन भाव विश्राम लेने का नाम ही नहीं लेते।

यह वर्ष आपका मुनि दीक्षा का स्वर्णिम पचासवाँ वर्ष है। भारतीय समुदाय का स्वर्णिम काल है यह। आपके स्वर्णिम आभामण्डल तले यह वसुधा भी स्वयं को स्वर्णमयी बना लेना चाहती है। आपकी एक-एक पदचाप उसे धन्य कर रही है। आपका एक-एक शब्द कृतकृत्य कर रहा है। एक नई रोशनी और ऊर्जा से भर गया है हर वह व्यक्ति जिसने क्षणभर को भी आपकी पावन निश्रा में श्वांसें ली हैं।

आपकी प्रज्ञा से प्रस्फुटित साहित्य आचार्य परम्परा की महान् धरोहर है। आचार्य धरसेनस्वामी, समन्तभद्र स्वामी, आचार्य अकलंकदेव, स्वामी विद्यानंदीजी, आचार्य पूज्यपाद महाराज जैसे श्रुतपारगी मुनियों की शृंखला को ही गुरुनाम गुरु आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज, तदुपरांत आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज ने यथावत् प्रतिपादित करते हुए श्रमण संस्कृति की इस पावन धरोहर को चिरस्थायी बना दिया है।

यही कारण है कि आज भारतवर्षीय विद्वतवर्ग, श्रेष्ठीवर्ग एवं श्रावकसमूह आचार्यप्रवर की साहित्यिक कृतियों को प्रकाशित कर श्रावकों के हाथों में पहुँचाने का संकल्प ले चुका है। केवल आचार्य भगवन् द्वारा सृजित कृतियाँ ही नहीं बल्कि संयम स्वर्ण महोत्सव २०१७-१८ के इस पावन निमित्त को पाकर प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रणीत अनेक ग्रन्थों का भी प्रकाशन जैन विद्यापीठ द्वारा किया जा रहा है।

पूर्व में यह ग्रन्थ पञ्चशती के नाम से प्रकाशित था। ग्रन्थ के अन्वयार्थ में पं० पन्नालाल जी साहित्याचार्य की जो संस्कृत टीका उपलब्ध थी, उससे अन्वयार्थ करने में बहुत सुविधा हुई। एतदर्थ पूर्व प्रकाशक और विद्वान् सुधी जनों के प्रति आभार व्यक्त करते हैं। आचार्यश्री का पंचशती ग्रन्थ बहुचर्चित है, अपनी साधना से श्रुत रचना का समय निकालते हुए बहुत समय बाद आचार्य गुरुदेव ने चैतन्य चन्द्रोदय कृति का सृजन किया। इस कृति में भी ११४ श्लोक हैं। जो शतक की परम्परा में ही सम्मिलित हो जाते हैं। इसलिए इस चैतन्य चन्द्रोदय कृति को भी अन्वयार्थ के साथ पञ्चशती में समायोजन किया गया है। अतः इस कृति का नाम षट्शती हो गया है। ज्ञात इतिहास में भारतवर्ष की सम्पूर्ण भारतीय साहित्य परम्परा में अनेक मनीषी हुए हैं। जिनके द्वारा एक से अधिक शतकों का

निर्माण हुआ है फिर भी पाँच से अधिक शतकों के निर्माता विद्वान् कवि का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। भारतीय साहित्य परम्परा में मूककवि के द्वारा अधिकतम पाँच शतक लिखे गये हैं–१. आर्याशतकम्, २. कटाक्षशतकम्, ३. मन्दस्मितशतकम् , ४. स्तुतिशतकम् , ५. पादारविन्दशतकम्। दिगम्बर जैन श्रमण परम्परा में परम पूज्य आचार्य गुरुदेव श्री विद्यासागरजी महाराज का यह अनुदान हमें गौरव प्रदान कर रहा है कि जिन्होंने षट् शतकों की रचना की है।

समस्त ग्रन्थों का शुद्ध रीति से प्रकाशन अत्यन्त दुरूह कार्य है। इस संशोधन आदि के कार्य को पूर्ण करने में संघस्थ मुनिराज, आर्यिका माताजी, ब्रह्मचारी भाई–बहिनों ने अपना अमूल्य सहयोग दिया। उन्हें जिनवाणी माँ की सेवा का अपूर्व अवसर मिला, जो सातिशय पुण्यार्जन तथा कर्मनिर्जरा का साधन बना।

जैन विद्यापीठ आप सभी के प्रति कृतज्ञता से ओतप्रोत है और आभार व्यक्त करने के लिए उपयुक्त शब्द खोजने में असमर्थ है।

गुरुचरणचंचरीक

संस्कृत साहित्य में षट्शती का स्थान

संस्कृत भाषा जिस भारतीय संस्कृति की संवाहक रही है, भारत की वह संस्कृति अनेक सम्प्रदायों की देन से समृद्ध हुई है। संस्कृत साहित्य का विशाल भण्डार भारत के तीन प्रमुख सम्प्रदायों–वैदिक, जैन और बौद्ध मनीषियों की सेवा से समृद्ध रहा है। अतः भारतीय संस्कृति के सर्वांगीण ज्ञान के लिये इन तीन धाराओं के साहित्य का समीचीन मूल्यांकन आवश्यक है। एक विशिष्ट भारतीय सम्प्रदाय के रूप में जैनधर्म–दर्शन ने संस्कृत की महत्त्वपूर्ण सेवा की है। जैन वाङ्मय में साधुवर्ग का विशेष अवदान रहा है और उनके प्रति समाज की अगाध श्रद्धा होती है, अतः उस वाङ्मय का प्रभाव भी असाधारण पड़ता है।

आचार्य विद्यासागरजी महाराज बीसवीं शताब्दी के उत्तरकाल के लब्ध प्रतिष्ठ और लोक विश्रुत संस्कृत महाकवि हैं। आपकी विविध विषयावलंबिनी साहित्य साधना का संस्कृत हिन्दी साहित्य जगत् ऋणी है। आपके संस्कृत काव्यों में गीतिकाव्य, नैतिक–धार्मिक–सुभाषितोपदेश, गुरुभक्ति की प्रशस्त प्रशस्ति के दर्शन उपलब्ध होते हैं, जहाँ नीर–क्षीरवत् पार्थक्य स्थापित करना अत्यधिक क्लिष्ट है। आपके काव्यों में प्रत्येक पद्य की स्थिति मुक्तक के समान है। अग्निपुराण के अनुसार एक ही श्लोक जो चमत्कार उत्पन्न करने में समर्थ हो, वह मुक्तक कहलाता है।

आपके पद्यों में पदशय्या की ललित निबन्धना के साथ माधुर्य का सुन्दर समागम है, जो हृदय में एक अनिर्वचनीय आनन्दानुभूति कराता है। निरञ्जन शतक का निम्नलिखित श्लोक द्रष्टव्य है–

सुरनगः सुरगौः सुरवैभवं, सुरपुरे वितनोति च वै भवम्।
भवविमुक्तिसुखं फलमेव च, स्तवनतस्तव साध्विति मे वचः ॥

(निरञ्जन शतक श्लोक ३६)

अर्थात् हे भगवन्! स्वर्ग में जो कल्पवृक्ष, कामधेनु और देवों का ऐश्वर्य है, वह निश्चय से संसार को विस्तृत करता है, परन्तु आपके स्तवन से मुक्ति सुखरूपी फल ही प्राप्त होता है, यह मेरा सम्यक् कथन है।

माना कि सांसारिक वैभव की अपेक्षा मुक्ति वैभव उत्कर्षशाली है, विशिष्ट है। परन्तु क्या महाकवि आचार्य विद्यासागरजी का काव्यगत शब्द–वैभव कम महत्त्व का है? कदापि नहीं।

अत्र सुखं न वै भवे, स्वीये कथमपि कुरु रुचिं वैभवे।
माने वचसि वैभवे, मा भ्रम मुधा मुने! वै भवे ॥

(श्रमण शतक श्लोक ५८)

अर्थात् हे मुने! पक्का समझो कि संसार में सुख नहीं है। किसी भी उपाय से आत्मबोध रूप वैभव में भगवन् सम्बन्धी मान–ज्ञान और तद्विषयक वचन में सिद्धान्त में रुचि करो, व्यर्थ में ही चक्कर मत लगाओ, किसी चक्कर में मत पड़ो।

एक सच्चे मन वाले मुनि का इससे प्रशस्त और उदात्त हितकर उपदेश और क्या होगा? ज्ञान उसका वैभव है, वह उस ज्ञानवैभव को ही उपदेश के माध्यम से दान देता है, उसे खर्च करता है और उसी के लिये लोककल्याण हेतु जीवन धारण करता है। यह है आचार्य का वैभव और आचार्य का अव्यय शब्द–वैभव के साथ ज्ञान–वैभव का तादात्म्य जिसको यहाँ अनायास प्राप्त किया जा सकता है। परन्तु अन्यत्र सश्रम भी प्राप्त करने में संदेह बना रहेगा।

यहाँ कवि की हृदयंगन ललित भावनाओं का अपने इष्टदेव के प्रति सच्चाई के साथ व्यथापूर्ण प्रस्तुतिकरण है–

मुनिषु मम विपाकस्य, त्वं भव सखाग्निरिव भुवि पाकस्य।
यद् भवेद् विपाकस्य, व्ययश्चायः सुखविपाकस्य ॥

(भावना शतक श्लोक २५)

अर्थात् पृथ्वी पर जिस प्रकार पवित्रताकारी वायु का मित्र अग्नि है, उसी प्रकार मुझ अपवित्र अज्ञानी मुनि के मित्र बन जाओ, जिससे दुःखदायक अशुभ कर्मोदय का व्यय तथा सुखदायक पुण्य कर्मोदय का आया हो।

महाकवि आचार्य विद्यासागर जी महाराज के काव्यों में विभिन्न कल्पनायें बड़ी ही ललित और मनोरम है।

सुरमणी प्रथमा प्रगुणावलिः तव परा च शुचिः सुगुणावलिः।
विरमतीव रतिश्च सति त्वयि, त्रिभुवनप्रगताऽपि सती त्वयि! ॥

(निरञ्जन शतक श्लोक ३९)

अर्थात् हे देव! प्रकृष्ट गुणों वाली आपकी प्रथम सुरमणी (भार्या) है और शुद्ध पवित्र उज्ज्वल कीर्ति वाली दूसरी सुभार्या हैं। इनमें से प्रथम सुभार्या रति की तरह आपमें विशेषरूप से रमती है परन्तु द्वितीय सुभार्या तीनों भुवनों में जाकर भी पतिपरायण है।

यद्यपि यहाँ पद्यगत शब्दावली सुरमणी के समान सरल, सरस, आकर्षक तथा अतिरमणीय है तथापि अंतर्निहित भाव बड़ा ही गंभीर है।

संस्कृत काव्य जगत् में जिस तरह महाकवि भट्टी के भट्टी महाकाव्य का ज्ञान व्याकरण शास्त्रीय ज्ञान के बिना अंधे के हाथ में दिये गये निर्मल शुद्ध दर्पण के समान है, ठीक वैसी ही स्थिति आचार्य विद्यासागरजी महाराज के संस्कृत काव्यों की है। जैन-दर्शन और व्याकरण शास्त्रीय शब्द चातुरी और शब्द वैविध्य से वेष्टित आचार्य विद्यासागरजी महाराज की समस्त संस्कृत रचनाएँ अलंकार विधान और छन्दोविधान से साधुतया मण्डित हैं। उनकी शब्द-योजना श्रुति सुखद है, पदावली में लालित्य है और वाक्यावली में संगीत की ध्वनि विद्यमान है, जो सुधी पाठकों की हृदयतंत्र को झंकृत करने में पूर्णतया समर्थ है।

अभिवनव गुप्त के अनुसार—रसाभिभूत हृदय वाले कवि के द्वारा अभिव्यक्त अलंकार, भाषा का यह समस्त सौंदर्य कटक कुण्डलादिवत् कहीं बाहर से जोड़ा हुआ नहीं रहता, प्रत्युत वह काव्यपुरुष का स्वाभाविक देहधर्म होता है-''न तेषां बहिरंगत्वं रसाभिव्यक्तौ।'' यह कथन आचार्यश्री विद्यासागरजी महाराज के संस्कृत काव्यों पर पूर्णतया चरितार्थ होता है।

निरञ्जनशतक में आचार्य विद्यासागरजी महाराज ने अपने काव्य में स्वयमेव शांतरस का प्रवाह झरता हुआ बतलाया है।

ननु मुनेश्च यथा धृतवृत्ततः, स्रवति शान्तरसः प्रतिवृत्ततः।
अविरलं त्वदुपासकतोऽमनो, नहि तथा शशिनो मुखतो मनो!॥

(निरंजन शतक, श्लोक ७९)

अर्थात् हे जिनदेव! सम्यक्चारित्र को धारण करने वाले आपके उपासक मुझ यानि मुनि से तथा इस काव्य के प्रत्येक छंद से जैसा शांतरस झर रहा है, वैसा चन्द्रमा के बिम्ब से नहीं झरता।

शब्दकोश के धनी आचार्यश्री विद्यासागरजी महाराज की ललित कवितायें अपनी नाना प्रकार कलापूर्ण भाव-भंगिमाओं से काव्य जगत् में मूर्तिमती-सी जान पड़ती हैं, जिनकी ललित चेष्टाओं से बड़े-बड़े विज्ञ और रसमर्मज्ञ काव्यकार आहत होकर अपना ज्ञानवैभव खो बैठते हैं। भाषा में अनेकार्थी शब्दों के अतिरिक्त कृदन्तीय क्विप् प्रत्ययान्त प्रयोगों का बाहुल्य है, क्रियापद प्रायः सरल है, परन्तु कहीं-कहीं नाम-धातु प्रक्रिया की भी स्थिति दृष्टिगोचर होती है। यथा-

निजरुचा स्फुरते भवतेऽयते, गुणगणं गणनातिगकं यते!
विदितविश्व! विदा विजितायते! ननु नमस्तत एष जिनायते ॥

(निरञ्जन शतक श्लोक २)

अलंकार संयोजना—आपके समस्त काव्यों में अलंकार योजना का सौष्ठव मनोमुग्धकारी है। अनुप्रास, यमक, सभंगाभंगश्लेष, उपमा, रूपक, अर्थान्तर न्यास आदि अलंकारों का मानो उनके काव्य में साम्राज्य है। कोकिल जैसी कोमल कान्त पदावली में निम्नलिखित श्लोक अलंकारों की छटा दर्शनीय है-

यमक अलंकार—ऐसा प्रतीत होता है कि यमक आपका सबसे प्रिय अलंकार है। श्रमणशतकम्, भावनाशतकम् और निरञ्जनशतकम् तो यमकमय काव्य ही है। परीषहजयशतकम् में भी यमक की प्रचुरता है। सुनीतिशतकम् में अपेक्षाकृत यमक का प्रयोग कम हुआ है। यमक से माधुर्य मय वातावरण निर्मित होता है, जो कि शान्त रस के सर्वथा अनुकूल है। आचार्यश्री के यमक, क्लिष्ट कल्पना से युक्त नहीं अपितु इतने सहज और माधुर्य-मण्डित हैं, कि जिसके प्रयोग से काव्य का सौन्दर्य द्वि-गुणित हो उठता है। यमक का अधिक प्रयोग होने पर भी अर्थप्रतीति में न तो क्लिष्ट कल्पना का आश्रय लेना पड़ता है और न ही कहीं रसानुभूति में विच्छिन्नता का अनुभव होता है। आपके द्वारा प्रयुक्त यमक इतने मृदुल, मधुर एवं स्निग्ध हैं, कि उनका आस्वादन कर सहृदय पाठक परमतृप्ति का अनुभव करते हैं। यमक की रमणीयता, आपके काव्य का वैशिष्ट्य है। शब्दालंकार के द्वारा भी माधुर्य और रसमय वातावरण की सृष्टि किस प्रकार हो सकती है-इसका उदाहरण है- आचार्यश्री का यमक काव्य।

यत् संसारे सारं, स्थायीतरमस्ति सर्वथाऽसारम्।
सारं तु समयसारं, मुक्तिर्यल्लभ्यते साऽरम् ॥

(श्रमण शतक श्लोक ३७)

चित्रालंकार (मुरजबन्ध)—चित्र वह अलंकार है, जिसे पढ़कर पाठक को आश्चर्य होता है क्योंकि इनके विन्यास से एक विशिष्ट आकृति बन जाती है। भावना शतक के अंत में महाकवि ने एक-एक मुरजबंध चित्रालंकार का प्रयोग किया है। मुरजबंध का उदाहरण इस श्लोक से देखा जा सकता है-

दिव्यालोकप्रदानेश, - दर्शनशुद्धिभास्करः ।
भव्याब्जककदा वाश, स्पर्शकांशुशुभाकरः॥

(भावना शतक श्लोक १०)

मुरजबन्ध—

दि व्या लो क प्र दा ने श
भ व्या ब्ज क क दा वा श

यहाँ प्रथम पाद के प्रथम अक्षर और तृतीय पाद के द्वितीय अक्षर को मिलाने से प्रथम पाद के समान पढ़ा जा सकता है मुरज नामक वाद्य यन्त्र के समान आकृति बनने ये यह मुरजबन्ध नामक चित्रालंकार कहलाता है।

उपमालंकार—

मोदेऽमुनाहमधुना, नासानन्दनेनेवाम्रमधुना।

लता कोकिलो मधुना, नन्दनो जननीस्तनमधुना ॥

(भावना-शतक श्लोक ३७)

अर्थात् जिस प्रकार घ्राण को आनन्द प्रदान करने वाले आम्र मकरन्द से कोयल, माँ के स्तन के दुग्ध से बालक और जल से लता प्रसन्न होती है, उसी प्रकार मैं इस समय इस (त्याग धर्म) से प्रसन्न होता हूँ।

संस्कृत भाषा में व्याकरण का अध्ययन अति महत्त्वपूर्ण है। अतः प्राचीनकाल से संस्कृत साहित्य में व्याकरण किंवा शब्दानुशासन लेखन की एक सुदीर्घ परम्परा रही है। जिसमें पाणिनि से लेकर सहस्रों आचार्यों ने मौलिक एवं टीका ग्रंथों के माध्यम से संस्कृत भाषा को संस्कृत व्याकृत बनाये रखा। महाकवि पूज्य आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज ने भी प्रेरणा की है कि ''शब्द शास्त्र का सम्यक् अध्ययन कर सुबन्त और तिङन्त पदों का शोधन करते हुए व्याकरणज्ञता को प्राप्त करें और विद्वानों के चित्त का अनुरंजन करें क्योंकि वचनों की विशुद्धि से अर्थ की विशुद्धि होती है। यथा-

उद्धरन्नपि पदानि सन्मनः शब्दशास्त्रमनुतोषयञ्जनः।
श्री प्रमाण पदवीं व्रजेन्मुदा, वाग्विशुद्धि रुदितार्थ शुद्धिदा॥

(जयोदय श्लोक २/५२)

उन्होंने इसी क्रम में बतलाया है कि शब्द शास्त्र और साहित्य में वाच्य-वाचक सम्बन्ध है। व्याकरण शास्त्र लक्षण शास्त्र है और लक्ष्य है अन्य काव्य पुराणादि।

आपने अपनी संस्कृत रचनाओं में विशेषतः परमात्म स्तुति, अध्यात्म, मुनिधर्म को विषय बनाया है। अतः उन्होंने शब्दों की जैनधर्म/संस्कृति सम्मत व्युत्पत्तियाँ प्रदान कर नवीन अर्थ प्रदान किये हैं-

सुधृतरत्नत्रयशरं, गुरो! ध्यानवसुविनष्टकुसुमशरम् ।
त्वां पीतानुभवशरं, यजेऽमुं शमय मेऽनाश! रम् ॥

(भावना शतक श्लोक २)

न विद्यते आशा यस्य सः।

न विद्यते नाशः यस्य सः।

न विद्यते आशः (अशनं) यस्य सः।

इस प्रकार तीन-तीन अर्थ अपनी व्याकरण बुद्धि से प्रदान किये हैं।

एक 'पदम्' पद के प्रयोग से महाकवि ने प्रकाण्ड विद्वत्ता का परिचय प्रदान किया है-

पर पदं ह्यपदं विपदास्पदं निजपदं नि पदं च निरापदम्।
इति जगाद जनाब्जरविभर्वान ह्यनुभवन् स्वभवान् भववैभवान्॥

अर्थात् आत्मस्वभाव से भिन्न कषायादि परपदों में रमण करना विपदाओं का आस्पद है तथा इसके विपरीत अपने ज्ञाता-द्रष्टा एवं स्वभावरूप निजपद में रमण करना निरापद है। ऐसा अपने द्वारा उद्भूत सांसारिक सम्पत्तियों का अनुभव करने वाले भव्यजनरूप कमलों के लिये सूर्य सम आप (जिनेन्द्र भगवान्) ने कहा है।

आपके सभी शतकों का मुख्य रस, शान्त ही है। आपके काव्य से शान्त रस की ऐसी सुधाधारा प्रवाहित होती है, कि उसमें अवगाहन करने वाला प्रत्येक पाठक या श्रोता अपने अन्तर्जगत् में असीम शान्ति एवं सुख का अनुभव करने लगता है। एक संन्यासी कवि की लेखनी से शान्त-रस के अतिरिक्त अन्य रसों के परिपाक की कल्पना भी कैसे की जा सकती है ? शान्त रस की प्रतिमूर्ति के द्वारा जब शान्त रस के काव्य का सृजन होता है-तो वह इतना चमत्कारी होता है, कि उसका एक-एक शब्द अन्तस् के कण-कण को आन्दोलित कर, अलौकिक आनन्द से परिपूरित कर देता है।

षट्शती में प्रकृति चित्रण—वैदिक ऋषियों ने प्रकृति के नाना तत्त्वों में देवत्व का आरोपण किया और काव्यमय चित्रण किया। वस्तुतः सृष्टि की उद्भावना के साथ ही प्रकृति और मानव का सहज और घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है, जो रचनाओं में विविध रूपों में संक्रान्त हुआ है। समस्त संस्कृत वाङ्मय इसका साक्षी है। आचार्यश्री जी ने इसी परम्परा का पालन करते हुए प्रायः उपमामूलक अलंकारों के माध्यम से साम्य रूपों और भावों की व्यञ्जना की है। यथा-

शुचौ स्वपदे शीतकं, यो 'ज्ञानाब्धिं' सदुपदेशी तकम्।
निज-संपदेऽशीतकं, यजेऽघशुचिविपदे शीतकम् ॥

(श्रमण शतक श्लोक ४)

अर्थात् मैं आत्मरूप ज्ञान सम्पदा के लिये उन ज्ञानसागर आचार्य की पूजा करता हूँ जो सदुपदेशी, आत्मस्थ और अप्रमादी थे तथा ग्रीष्मऋतु की प्यासरूप विपत्ति को दूर करने के लिये शीतल जल थे।

अवनितल इव पावन,-प्रसंगाद् भवति शीतलः पावनः।
अघहननात् स्वपावन, प्रदायिन्नुपयोगः पावनः ॥

(भावना शतक श्लोक ८६)

शस्ताः प्रजाः सन्तु विनात्र राज्ञा, राजा तथा नोऽस्तु विना प्रजाभिः।
को नाम सिन्धुः परतन्त्र एव, बिन्दुः स्वतन्त्रः किल सिन्धुहेतुः॥

(सुनीति शतक श्लोक ३४)

यद्यपि साहित्य जगत् में सभी रसों में श्रृंगार प्रमुख है, किन्तु आचार्यश्री का विचार है कि जो अध्यात्म के सर्वोच्च शिखर पर ले आकर वहाँ की रस सृष्टि करे वास्तव में वही श्रृंगार है और ऐसा रस परमशांति ही हो सकता है–

श्रृङ्गार एवैकरसो रसेषु, न ज्ञाततत्त्वाः कवयो भणन्ति।
अध्यात्मश्रृङ्गं त्विति राति शान्तः, श्रृङ्गार एवेति ममाशयोऽस्ति॥

(सुनीति शतक श्लोक २२)

विनात्र रागेण वधूललाटो, विनोद्यमेनापि विभातु देशः।
दृष्ट्या विना सच्च मुनेर्न वृत्तं, रसेन शान्तेन कवेर्न वृत्तम्॥

(सुनीतिशतक श्लोक २०)

छन्द विधान–आचार्यश्री ने, अपने प्रत्येक शतक में एक ही छन्द का प्रयोग किया है, जबकि अन्य शतककारों ने प्रायः विविध छन्दों का प्रयोग किया है। स्तुति शतक में तो मयूर, बाणभट्ट, मूककवि आदि ने भी एक ही छन्द में पूरा शतक लिखा है, लेकिन वैराग्य एवं नीतिशतक प्रायः नानावृत्तों में निबद्ध हैं। आचार्यश्री ने वैराग्य एवं नीतिशतकों में भी एक ही छन्द का प्रयोग किया है, जिससे उनकी छन्द योजना का वैशिष्ट्य प्रकट होता है।

आचार्यश्री के शतक उन रस भरे मोदकों के समान हैं,जिनका आस्वादन कर सहृदय पाठक पुष्टि एवं तृप्ति का अनुभव करता है। आज के प्रशान्त-युग में, शान्त-रस की धारा प्रवाहित करने वाले काव्य का अपना विशिष्ट महत्त्व है। प्रायः जनधारणा यह है कि श्रृंगार में ही माधुर्य और आल्हाद का प्राचुर्य है, लेकिन आचार्यश्री के शतकों का अवलोकन करने से यह धारणा परिपुष्ट हो जाती है, कि वास्तविक आह्लाद अथवा माधुर्य, शान्त-रस के आस्वादन में ही है। शान्तरस की अनुभूति में पाठकों की चञ्चल चित्तवृत्तियां शान्त हो जातीं हैं, परिणामस्वरूप सहृदय उस अनिर्वचनीय ब्रह्मानन्द का अनुभव करने लगते हैं। योगीगण, जिस ब्रह्मानन्द का अनुभव ध्यान और योग के माध्यम से करते हैं, सहृदय पाठक शान्त-रस से अनुप्राणित काव्य से उसी प्रकार का अनुभव सहज ही प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार के शतक, काव्यात्मक अभिरुचि को परिष्कृत करते हैं। आज जबकि कविता का स्तर गिर गया हैं, इस प्रकार के काव्य का विशिष्ट मूल्य है।

षट्शती में जीवन मूल्य–आचार्यश्री के सभी शतकों में जीवन को आलोकित करने वाले तथ्यों के दर्शन होते हैं। आपके शतक, उन दीप स्तम्भों की भाँति हैं, जो सागर की विराट् परिधि में अन्धकारग्रस्त, दिग्भ्रमित नाविकों को दिशा निर्देश देते हैं। आपके शतकों को संजीवनी-औषधि कहा जा सकता है, जिसका सेवन कर मुमुक्षु साधक अमृतमय हो जाता है। स्वयं अमृतरूप हो जाने

अथवा अमृत के आस्वादन की कला का कौशल इन शतकों से प्राप्त होता है। आज जबकि कविता के नाम पर मात्र जीवन के प्रभावों और दु:खों का चित्रण होता है, इस प्रकार का काव्य पाठकों को नवीनतम आनन्दमय लोकों का स्पर्श कराता है, इस दृष्टि से आचार्य श्री के शतकों का मूल्य और अधिक बढ़ जाता है। आचार्यश्री की अमृतमय लेखनी से निरन्तर इसी प्रकार अमृत-क्षरण होता रहेगा, यह विश्वास है।

भारतीय मनीषा, दु:ख में भी सुख खोजने का प्रयास करती है। हमारी आर्ष परम्परा ने जीवन का अन्तिम लक्ष्य 'मोक्ष' माना है दु:ख नहीं। मोक्ष आनन्द की चरम अवस्था है, यही कारण है कि संस्कृत नाटक अथवा महाकाव्य सुखान्त ही होते हैं, दु:खान्त नहीं। मनुष्य की चेतना में, विशाल आनन्द-वारिधि लहरा रही है, सत्काव्य का प्रयोजन अन्तस् के उस आनन्दवारिधि से परिचय कराना है, न कि भौतिक विषमताओं का रुदन अथवा क्रन्दन है। हमारी आरण्यक संस्कृति ने भौतिक साधनों को कभी विशिष्ट महत्त्व नहीं दिया। हमारे आरण्यक ऋषि, मुनि भौतिक साधनों के अभाव में भी, जीवन जीने की कला जानते थे, क्योंकि उन्हें ज्ञात था कि सुख या आनन्द का स्रोत भीतर है बाहर नहीं। अत: भारतीय परम्परा में शिक्षा या ज्ञान का मुख्य उद्देश्य इस आनन्दावस्था का उद्घाटन करना ही है।

पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव से भौतिक चकाचौंध के प्रति, सामाजिक अभिरुचि वृद्धिंगत हुई है। इस अभिरुचि ने, भौतिक उपलब्धियों के मार्ग को तो प्रशस्त बनाया है लेकिन ये उपलब्धियाँ मात्र इच्छाओं और आकांक्षाओं का संवर्द्धन करती हैं, उनको तुष्ट नहीं क्योंकि इच्छाओं का शमन, समत्व और शमत्व में है, न कि उनकी अविकल पूर्ति में। पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव वर्तमान काव्य पर भी पड़ा है, फलस्वरूप हमारे यहाँ का काव्य व्यथा-गीतों अथवा 'आर्त्तक्रन्दनों' का भण्डार बन गया है। आज मात्र अभाव का रुदन ही कविता का मुख्य लक्ष्य बन गया है। अत: काव्य ब्रह्मानन्द-सहोदर के पद से च्युत हो गया है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है आचार्यश्री विद्यासागरजी महाराज के शतकों ने बीसवीं शताब्दी के संस्कृत साहित्य में आध्यात्मिक विवेचना के साथ-साथ काव्य सारणी का आश्रय लेकर नवीन भाव राशियों का स्मरणीय उपहार दिया है, उनके शतकों के समावेश से नि:संदेह सुरभारती का भण्डार समृद्धतर होगा।

अनुक्रमणिका

श्रमणशतकम्

रचयिता

आचार्य विद्यासागर महाराज

श्रमणशतकम्

श्रमणशतकम् संत शिरोमणि आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज का आर्या छन्द में लिखा सर्वप्रथम संस्कृत ग्रन्थ है, जिसमें श्रमण के सम्बन्ध में उल्लेख है। श्रम से तात्पर्य तप, खेद आदि है; जो तपोलीन हैं अथवा जिनमें तपस्या का श्रम होते हुए खेद नहीं है, वह श्रमण हैं अथवा निरंतर तपस्या का श्रम होता है वे श्रमण हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द ने श्रमण का लक्षण इस प्रकार किया है–

समसत्तुबंधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिंदसमो।
समलोट्ठुकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो॥

अर्थात् जो शत्रु–मित्र, सुख–दुःख, प्रशंसा–निन्दा, मिट्टी–स्वर्ण और जीवन–मरण में समभाव रखता है, वह श्रमण है।

यह श्रमण विषयक शतक में १०७ श्लोक प्रमाण हैं, १ श्लोक गुरुवर श्री ज्ञानसागरजी के स्मरणस्वरूप तथा अंतिम पाँच श्लोकों में मंगल–कामना एवं अन्तिम श्लोक में रचना का स्थान एवं समय अंकित है। यह शतक आर्या छन्द में निबद्ध है, अंतिम ६ पद्य अनुष्टुप् छन्द में लिखे हैं। आदि के चार श्लोकों में क्रमशः जिनेन्द्र वर्धमान–भगवान महावीर, धर्मचक्रधारक, श्रुतकेवली भद्रबाहु, श्रीमद् आचार्य कुन्दकुन्द एवं आचार्य ज्ञानसागर की स्तुति एवं श्रद्धा–सुमनाञ्जलि है, तदनन्तर छठवें श्लोक में प्रतिज्ञा है कि मैं–विद्यासागर–साधु अर्थात् श्रेष्ठ वाणी का अवलम्बन लेकर तथा असाधुता को त्याग कर साधुजनों से स्तुत साधुता की प्राप्ति के निमित्त साधुओं के मूलगुणरूपी जल से प्रक्षालित साधुता का वर्णन करता हूँ–

वच आश्रित्य साधु तां साधुनुतां साधुगुणपयसा धुताम्।
साधुतार्थमसाधुतां साधुरुपोज्झ्य वदे साधुताम् ॥६॥

श्रमणशतकम्

(आर्याछन्द:)

श्रीवर्धमान! माऽय, आकलय्य नतसुराप्तमानमाय !
विधींश्चामानमाय,-मचिरेण कलयामानमाय ॥१॥

अन्वयार्थ–(अये श्रीवर्द्धमान!) हे तीर्थंकर महावीर! **(नतसुर!)** देवों द्वारा नमस्कृत जिनदेव! **(आप्तमानमाय!)** आप्त-प्राप्त किया है, मान-ज्ञान, मा-समवसरणादि विभूतिरूप लक्ष्मी और य-यशकीर्ति को जिन्होंने ऐसे वर्द्धमान जिनेन्द्र! **(अमानमाय!)** मान और माया से रहित वीतराग भगवन्!आप **(विधीन्)** कर्मों को **(च)** और **(अमान्)** रोगों को **(अचिरेण)** शीघ्रता के **(अमा)** साथ **(आकलय्य)** नष्टकर **(मा)** मुझे **(अयं)** कल्याण की अवस्था को अथवा **[यं]** सुयश को **(कलय)** प्राप्त कराओ।

भावार्थ– जिनके समक्ष देव नम्रीभूत हैं-जिन्होंने ज्ञान, लक्ष्मी और यश को प्राप्त किया है तथा जो मान और माया से रहित हैं, ऐसे हे वर्धमान जिनेन्द्र! मेरे कर्म और जन्म-जरा-मृत्युरूप रोगों को एक साथ शीघ्र ही नष्ट कर मुझे कल्याणरूप अवस्था अथवा सुयश को प्राप्त कराओ।

तमनिच्छन् पुनर्भवं, नृपनतमुकुटमणिलसितपुनर्भवम्।
नत्वेच्छे पुनर् भवं, भद्रबाहुमहमपुनर्भवम् ॥२॥

अन्वयार्थ– (तं) उस प्रसिद्ध **(पुनर्भवं)** पुनर्जन्म को **(अनिच्छन्)** नहीं चाहने वाला **(अहं)** मैं **(नृपनतमुकुटमणिलसितपुनर्भवं)** नृप-चन्द्रगुप्त आदि नरेन्द्रों द्वारा, नत-नमस्कृत, मुकुटमणियों से शोभित पुनर्भव (चरणों के नख) जिनके ऐसे **(भद्रबाहुं)** भद्रबाहु नाम के पंचम श्रुतकेवली को **(नत्वा)** नमस्कार करके **(पुन:)** नमस्कार के फलस्वरूप **(अपुनर्भवं)** पुनर्जन्म से रहित **(भवं)** सिद्ध अवस्था को **(इच्छे)** चाहता हूँ।

भावार्थ–जगत् प्रसिद्ध पुनर्जन्म को न चाहता हुआ मैं राजाओं के नम्रीभूत मुकुटमणियों से सुशोभित नख वाले भद्रबाहु श्रुतकेवली को नमस्कार कर पुनर्जन्म से रहित सिद्धपर्याय की इच्छा करता हूँ।

योगी करें स्तवन भावभरे स्वरों से, जो हैं सुसंस्तुत नरों, असुरों, सुरों से।
वे वर्धमान गतमान मुझे बचावें, काटें कुकर्म मम मोक्ष विभो! दिलावें ॥१॥
जो चन्द्रगुप्त मुनि के गुरु हैं, बली हैं, वे भद्रबाहु समधी श्रुत-केवली हैं।
वंदूँ उन्हें द्रुत भवोदधि पार जाऊँ, संसार में फिर कदापि न लौट आऊँ ॥२॥

प्रणमामि 'कुन्दकुन्दं', भव्यपद्मबन्धुं धृतवृषकुन्दम्।
गतं च समताकुं दं, परमं सम्यक्त्वैककुन्दम् ॥३॥

अन्वयार्थ– (भव्यपद्मबन्धुं) जो भव्यजन रूपी कमलों को विकसित करने के लिए बन्धु- **(धृतवृषकुन्दं)** धारण किया है, धर्मरूपी, चक्र को जिन्होंने **(समताकुं गतं)** समता पृथ्वी को, प्राप्त **(परमं)** श्रेष्ठ पद को **(दं च)** और शुद्धि को **[गतं]** प्राप्त **(सम्यक्त्वैककुन्दं)** सम्यक्त्वरूपी एक-अद्वितीय, निधि को **[गतं]** प्राप्त **(कुन्दकुन्दं)** कुन्दकुन्द नामक महान् आचार्य को **(प्रणमामि)** नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ–जो भव्य जीवरूपी कमलों के बन्धु हैं –उन्हें हर्षित करने वाले है, जिन्होंने धर्म चक्र को धारण किया है, जो समतारूप भूमि तथा श्रेष्ठ पवित्रता को प्राप्त हैं और सम्यग्दर्शन ही जिनकी अद्वितीय निधि है, उन कुन्दकुन्दाचार्य को मैं प्रणाम करता हूँ।

शुचौ स्वपदे शीतकं, यो 'ज्ञानाब्धिं' सदुपदेशी तकम्।
निज-संपदेऽशीतकं, यजेऽघशुचिविपदे शीतकम् ॥४॥

अन्वयार्थ– (यः) जो **(सदुपदेशी)** समीचीन उपदेश देने में कुशल हैं **(तकं)** उन **(शुचौ)** पवित्र **(स्वपदे)** आत्मपद में **(शीतकं)** स्थित **(अशीतकं)** अप्रमत्त-प्रमाद रहित **(अघशुचिविपदे)** अघ-पापरूप, शुचि-ग्रीष्मऋतु की, विपदे-विपत्ति रूप तृषा के शमन करने के लिए **(शीतकं)** शीत-शीतल, कं-जल स्वरूप **(ज्ञानाब्धिं)** दीक्षा शिक्षागुरु ज्ञानसागर नामक आचार्य गुरुवर्य को **(निजसंपदे)** आत्मज्ञानरूप संपदा पाने के लिए **(यजे)** यजता हूँ-पूजता हूँ।

भावार्थ–मैं आत्मज्ञानरूप सम्पदा के लिए उन ज्ञानसागर आचार्य की पूजा करता हूँ। जो सदुपदेशी थे, शुद्ध आत्मस्वभाव में स्थित थे, प्रमादरहित थे और पापरूपी ग्रीष्म ऋतु की प्यासरूप विपत्ति को दूर करने के लिए शीतल जल थे।

हे 'कुन्दकुन्द' मुनि! भव्य-सरोजबन्धु! मैं बार-बार तव पाद-सरोज वंदूँ।
सम्यक्त्व के सदन हो, समता सुधाम, है धर्म-चक्र शुभ धार लिया ललाम ॥३॥
जो 'ज्ञानसागर' सुधी गुरु हैं हितैषी, शुद्धात्म में निरत नित्य हितोपदेशी।
वे पाप- ग्रीष्म ऋतु में जल हैं सयाने, पूजूँ उन्हें सतत केवल-ज्ञान पाने ॥४॥

अये सरस्वति मातः! संसारादहमतिभीतो मातः।
विलम्बं कलय मा त, उपासकं प्रपालय माऽतः॥५॥

अन्वयार्थ– (अयि सरस्वति मातः!) हे जिनवाणी माता! **(अहं)** मै **(संसारात्)** संसाररूप **(मातः)** बन्धन से **(अतिभीतः)** अत्यन्त भयभीत हूँ **(अतः)** इसलिए **(विलम्बं)** देर **(मा)** मत **(कलय)** करो। **(ते)** तेरा **(उपासकं)** उपासक **(मा)** मुझे **(प्रपालय)** रक्ष अर्थात् मेरी रक्षा करो।

भावार्थ–हे जिनवाणी माता! मैं संसाररूप बंधन से अत्यन्त भयभीत हूँ, अतः विलम्ब मत करो, अपने सेवक की–मेरी रक्षा करो।

वच आश्रित्य साधु तां, साधुनुतां साधुगुणपयसा धुताम्।
साधुतार्थमसाधुतां, साधुरुपोज्झ्य वदे साधुताम् ॥६॥

अन्वयार्थ– (साधुः) मैं मुनि **(साधु वचः)** कल्याणकारी वचनों का **(आश्रित्य)** आश्रय लेकर **(असाधुतां)** दुर्जनता को **(उपोज्झ्य)** त्यागकर **(साधुतार्थं)** साधुता की प्राप्ति के लिए **(साधुनुतां)** मुनियों के द्वारा स्तुत **(साधुगुणपयसा)** मुनियों के मूलोत्तर गुण रूपी जल से **(धुतां)** प्रक्षालित हुई **(तां)** आगम प्रसिद्ध उस **(साधुतां)** श्रमणता को **(वदे)** कहता हूँ।

भावार्थ–मैं साधु–श्रेष्ठ वाणी का आश्रय लेकर तथा असाधुता–दुर्जनता को छोड़कर सज्जनों के द्वारा स्तुत और साधुओं के मूलगुणरूपी जल से धुली हुई उस साधुता का, साधुता की प्राप्ति के लिए कथन करता हूँ।

हे शारदे! अब कृपा कर दे जरा तो, तेरा उपासक खरा, भव से डरा जो!
माता! विलम्ब करना मत, मैं पुजारी, आशीष दो, बन सकूँ बस निर्विकारी ॥५॥
रे! साधु का निहित है हित साधुता में, धारूँ उसे तज असार असाधुता मैं।
भाई अतः श्रमण के हित मैं लिखूँगा, शुद्धात्म को सहज से फलतः लखूँगा ॥६॥

मनाङ् मानं मोरसि, मुनिरेतु रचयतु रुचिं जिनवचसि।
वसत्वरण्ये रहसि, स्नातुमिच्छति स्वचित्सरसि॥७॥

अन्वयार्थ– हे साधो! **[चेत्]** यदि आप **(मुनिः)** मुनिराज **(स्वचित्)** अपने चैतन्यरूपी **(सरसि)** सरोवर में **(स्नातुं)** स्नान करना **(इच्छति)** चाहते हो **[तर्हि]** तो **(उरसि)** हृदय में **(मनाक्)** किञ्चित् भी **(मानं)** ज्ञान पूजादिक के मद को **(मा एतु)** नहीं प्राप्त करो, **(जिनवचसि)** जिनवचनों में **(रुचिं)** प्रीति को **(रचयतु)** प्राप्त करो, **(च)** और **(अरण्ये)** वन में **(वसतु)** निवास करो।

भावार्थ–मुनि को चाहिए कि वह हृदय में किञ्चित् भी मान को प्राप्त न हो। यदि वह आत्मज्ञान रूपी सरोवर में स्नान करना चाहता है तो जिनवचन-जिनागम में रुचि करे एवं एकान्त वन में निवास करे।

याति यतिर्यदि जातु, न कर्म तस्यावश्यं हृदि भातु।
स्वतत्त्वमिति हि विधातु, गीर्जगद्भ्यः सुखं ददातु॥ ८॥

अन्वयार्थ– **(यदि यतिः)** यदि मुनि **(कर्म)** क्रियाकाण्ड को **(जातु)** कभी भी **(न याति)** नहीं प्राप्त होता है तो **(तस्य)** उसके **(हृदि)** हृदय में **(स्वतत्त्वं)** आत्मतत्त्व **(अवश्यं)** अवश्य ही **(भातु)** शोभित होवे। **(इति)** इसप्रकार **(विधातुः)** भगवान् जिनेन्द्र की **(गीः)** वाणी है। ऐसी **(सा)** वह पूज्य जिनवाणी **(जगद्भ्यः)** जगत् के जीवों के लिए **(सुखं ददातु)** सुख प्रदान करे।

भावार्थ–यदि मुनि, कभी बाह्यक्रियाओं के आडम्बर को प्राप्त न हो तो उसके हृदय में, आत्मतत्त्व नियम से सुशोभित होने लगेंगे। जिनेन्द्र भगवान् की ऐसी वाणी जगत् के लिए सुख प्रदान करे।

विद्वान मान मन में मुनि जो न धारें, वे 'वीर' के वचन से मन को सुधारें।
जाके रहे विपिन में मन मोद पाते, हैं स्नान आत्म-सर में करते सुहाते ॥७॥
जो कर्म को यति यदा करता नहीं है, आत्मा उसे वह तदा, दिखता सही है।
ऐसा सदैव कहती जिनदेव वाणी, होते सुखी सुन जिसे सब भव्य प्राणी ॥८॥

भवता विषयवासना,ऽपास्यतामुपास्यतां निजभावना।
प्राहेति जैनोऽमना, यद् भवन्तमटेत् शिवाङ्गना ॥९॥

अन्वयार्थ—हे साधो! **(भवता)** आपको **(विषयवासना)** पंचेन्द्रिय के विषयों की आसक्ति **(अपास्यतां)** छोड़ देना चाहिए **(निजभावना)** निज भावना की **(उपास्यतां)** उपासना करना चाहिए **(यत्)** जिससे **(भवन्तं)** आपको **(शिवाङ्गना)** मोक्ष लक्ष्मी **(अटेत्)** प्राप्त हो। **(इति)** इस प्रकार **(अमनाः)** भाव मन रहित केवलज्ञानी **(जैनः)** जैन तीर्थंकर ने **(प्राह)** कहा है।

भावार्थ—हे साधो! तुम्हें विषयवासना-इन्द्रिय विषयों की अभिरुचि छोड़ देनी चाहिए और स्व-स्वरूप की भावना करना चाहिए, जिससे मुक्तिरूपी स्त्री तुझे वर सके, ऐसा भावमनरहित केवलज्ञानी जिनदेव ने कहा है।

श्रमैकफलारम्भतः, पौद्गलिक-पुण्यपापोपलम्भतः।
दृक्कथमुदेति हन्त!, नवनीतं नीरमन्थनतः? ॥१०॥

अन्वयार्थ—हे मुने! **(श्रमैकफलारम्भतः)** परिश्रम ही जिसका एक फल है ऐसे आरम्भ से तथा **(पौद्गलिकपुण्यपापोपलम्भतः)** पौद्गलिक जड़स्वरूप पुण्य पाप की प्राप्ति से **(कथं)** कैसे **(दृक्)** सम्यग्दर्शन **(उदेति)** उत्पन्न हो सकता है **(हन्त!)** खेद है **[किं]** क्या **(नीरमन्थनतः)** नीर के मंथन से **(नवनीतं)** मक्खन **(उदेति)** निकलता है? नहीं।

भावार्थ—एक खेद ही जिसका फल है, ऐसे आरम्भ से तथा पौद्गलिक पुण्य-पाप की प्राप्ति से सम्यग्दर्शन कैसे उत्पन्न हो सकता है? खेद की बात है कि, क्या कहीं जल के मन्थन से मक्खन की प्राप्ति होती है? अर्थात् नहीं।

तू छोड़ के विषमयी उस वासना को, निश्चिन्त हो, कर निजीय उपासना को।
निर्भ्रान्त ही शिवरमा तुझको वरेगी, योगी कहे परम प्रेम सदा करेगी ॥९॥
हैं पुण्य-पाप पर, पुद्गल रूप जानूँ, सम्यक्त्व भाव इनसे किस भाँति मानूँ।
ना नीर के मथन से नवनीत पाना, अक्षुण्ण कार्य करके थक मात्र जाना ॥१०॥

स्वानुभवकरणपटवस्ते तान्विकतपस्तनूकृततनवः।
विविक्तपटाश्च गुरवस्तिष्ठन्तु हृदि मे मुमुक्षवः ॥११॥

अन्वयार्थ—जो **(स्वानुभवकरणपटवः)** निजात्मानुभव करने में निपुण हैं **(तान्विक-तपस्तनूकृततनवः)** तान्विक-शारीरिक तप के द्वारा, तनु-कृश कर दिया है, तनू-शरीर को जिन्होंने अर्थात् जिनका शरीर तप के द्वारा कृश हो गया है **(मुमुक्षवः)** जो मोक्ष के अभिलाषी हैं **(विविक्त-पटाः च)** और जिन्होंने पट-वस्त्र, विविक्त-त्याग कर दिये हैं **(ते)** वे **(गुरवः)** गुरुसमूह **(मे हृदि)** मेरे हृदय में **(तिष्ठन्तु)** ठहरें, आसीन होवें।

भावार्थ—जो स्वानुभव के करने में निपुण है, जिनका शरीर, शारीरिक तप से कृश हो गया है, जिन्होंने वस्त्र का परित्याग कर दिया है और जो मोक्षाभिलाषी हैं वे गुरु हमारे हृदय में स्थित हो। मैं निरन्तर उनका ध्यान करता हूँ।

निंद्यं न नीतमस्तं, मनो नैमित्तिकं येन समस्तम्।
अन्धोऽरुणं प्रशस्तं, किं संपश्यति पुरुषं स तम् ॥१२॥

अन्वयार्थ— **(येन)** जिसने **(समस्तं)** संपूर्ण **(नैमित्तिकं)** शुभाशुभ कर्म के उदय से या पर निमित्त से होने वाले **(निंद्यं)** निन्दनीय विचाररूप **(मनः)** मन को **(अस्तं)** नष्ट **(न नीतं)** नहीं किया है, **(सः)** वह **(किं)** क्या **(तं)** उस प्रसिद्ध **(पुरुषं)** आत्मा व परमात्मा को **(संपश्यति)** देख सकता है? नहीं। जैसे **(अन्धः)** अन्धा व्यक्ति **(प्रशस्तं)** श्रेष्ठ उदित **(अरुणं)** सूर्य को नहीं देख सकता।

भावार्थ—जिसने समस्त नैमित्तिक निन्दनीय मन को अस्त नहीं किया वह क्या प्रशस्त परमात्मा का अवलोकन कर सकता है ? नहीं, जैसे अंधा मनुष्य प्रशस्त सूर्य को नहीं देख सकता है।

नाना प्रकार तप से तन को तपाया, है छोड़ वस्त्र जिनने अघ को हटाया।
पाया निजानुभव को निज को दिपाया, मैंने उन्हें विनय से उर बीच पाया ॥ ११॥
कम्पायमान मन को जिसने न रोका, आत्मा उसे न दिखता जड़ से अनोखा।
आकाश में अरुण शोभित हो रहा है, क्या अन्ध को नयनगोचर हो रहा है?॥ १२॥

जितक्षुधादिपरिषहः, पुद्गलकृतरागादि-भावासहः।
वीतरागतामजहच्चाञ्चति यतिः स्वं मुदा सह ॥१३॥

अन्वयार्थ– **(जितक्षुधादिपरिषहः)** जिसने क्षुधादिक परीषहों को जीत लिया है **(पुद्गलकृतरागादिभावासहः)** जो कर्मों के उदय से होने वाले रागादि भावों को, सहन नहीं करता **(वीतरागतां)** जो वीतरागता को **(अजहत्)** नहीं छोड़ता है वह **(यतिः)** साधु **(मुदा सह)** हर्ष के साथ **(स्वं)** स्व को **(अञ्चति)** प्राप्त करता है।

भावार्थ–जिसने क्षुधा आदि परिषहों को जीत लिया है, जो पुद्गलकृत रागादिभावों को सहन नहीं करता है और वीतरागता को नहीं छोड़ता है, ऐसा साधु हर्ष के साथ स्वात्मा को प्राप्त होता है।

वै यम्ययत्यप्ययं, दिव्यं स्वीयमनिंद्यं यद्द्रव्यम् ।
निश्चयनयस्य विषयं, गृहीव परिग्रही नाव्ययम् ॥१४॥

अन्वयार्थ– **(अयं परिग्रही यमी अपि)** यह परिग्रहवान् साधु भी **(निश्चयनयस्य)** निश्चय नय का **(विषयं)** विषय **(यत्)** जो **(स्वीयं)** निजी **(अनिन्द्यं)** प्रशंसनीय **(दिव्यं)** अनुपम **(अव्ययं)** अविनश्वर **(द्रव्यं)** आत्मद्रव्य है **(तत्)** उसे **(गृही इव)** गृहस्थ के समान **(वै)** निश्चित ही **(न)** नहीं **(अयति)** जानता।

भावार्थ– यह परिग्रहवान् मुनि भी निश्चयनय के विषयभूत, अनिन्दनीय, दिव्य और अविनाशी स्वकीय द्रव्य को गृहस्थ के समान प्राप्त नहीं होता। अर्थात् जिस प्रकार परिग्रही गृहस्थ शुद्ध आत्मा को प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार परिग्रही साधु भी नहीं प्राप्त होता।

दीक्षा के समय समस्त परिग्रह का त्याग करने वाला साधु यदि किसी कारण से परिग्रह को किसी रूप में अंगीकार कर लेता है तो वह अपनी आत्मा को नहीं जान सकता है।

जो जीतता सब क्षुधादि परीषहों को, संहार रागमय-भाव स्ववैरियों को।
है वीतराग बनता वह शीघ्रता से, शुद्धात्म को निरखता बचता व्यथा से॥ १३॥
है वंद्य दिव्य निज आतम द्रव्य न्यारा, जो शुद्ध निश्चय नयाश्रित मात्र प्यारा।
योगी गृही सम उसे न कभी निहारें, जो त्याग के पुनि परिग्रह-भार धारें ॥१४॥

अमन्दमनोमराल!, विविक्तविविधविकल्पवीचिजालम्।
कलितवृषकमलनालं, वित्-सरो मुक्त्वाऽन्येनालम् ॥१५॥

अन्वयार्थ– (अमन्दमनोमराल!) हे चंचल मनरूपी हंस! **(विविक्तविविध विकल्प-वीचिजालं)** जो विविध प्रकार के विकल्परूपी तरंगों के समूह से रहित है **(कलितवृषकमलनालं)** धर्मरूपी कमल की मृणाल से सहित है ऐसे **(वित्सरः)** सम्यग्ज्ञानरूपी सरोवर को **(मुक्त्वा)** छोड़कर **(अन्येन अलम्)** अन्य सरोवर व्यर्थ हैं।

भावार्थ–हे चंचलमनरूपी हंस! नाना विकल्परूपी तरंगों के जाल से रहित तथा धर्मरूप कमल की मृणालों से सहित जो ज्ञानरूपी सरोवर है उसे छोड़ अन्य सरोवर व्यर्थ हैं।

यो हीन्द्रियाणि जयति, विश्वयत्नेन स जायते यतिः ।
मुनिरयं तं कलयति, शुद्धात्मानं च ततोऽयति ॥१६॥

अन्वयार्थ– (यः) जो **(इन्द्रियाणि)** इन्द्रियों को **(विश्वयत्नेन)** सर्वप्रयत्न से **(जयति)** जीतता है **(सः हि यतिः)** वही यति **(जायते)** कहलाता है **(अयं मुनिः)** यह स्तुतिकर्ता मुनि **(तं)** उस इन्द्रिय विजयी यति को **(कलयति)** स्वीकार करता है **(ततःच)** और उससे वह **(शुद्धात्मानं)** रागादि विकारीभाव रहित शुद्धात्मा को भी **(अयति)** प्राप्त कर लेता है।

भावार्थ–जो पूर्ण यत्न से इन्द्रियों को जीतता है निश्चय से वह यति-साधु है। यह मुनि इन्द्रियविजयी यति अथवा इन्द्रिय विजेतापने को प्राप्त होता है अतः रागादिविकारों से रहित शुद्ध आत्मा को प्राप्त होता है-उस रूप परिणमन करता है।

सद्बोध रूप सर शोभित है विशाल, ना हैं जहाँ वह विकल्प तरंग-जाल।
शोभे तथा परम धर्म पयोज प्यारे, तू छोड़ के मनमराल! उसे न जा रे! ॥१५॥
जीतीं जिनेश जिसने निज इन्द्रियाँ हैं, माना गया यति वही, जग में यहाँ है।
श्रद्धा-समेत उसको सिर मैं नमाता, शुद्धात्म को निरख, शीघ्र बनूँ प्रमाता ॥१६॥

सुपीतात्मसुधारस:, संयमी सुधीर्यश्च सदाऽरस:।
ऋषे! विषयस्य सरस:, किल किं वार्वाञ्छति नर: स:? ॥१७॥

अन्वयार्थ– (ऋषे!) अये मुने! **(य: च)** जो **(सुपीतात्मसुधारस:)** जिसने आत्मज्ञानरूप अमृत का अच्छी तरह से पान किया है **(सुधी:)** जो सम्यग्ज्ञानी है **(संयमी)** इन्द्रियविजयी हैं **(सद)** सदा **(अरस:)** विषय स्वाद से विरक्त है **(स: नर:)** वह मनुष्य **(विषयस्य)** पंचेन्द्रिय के विषयरूपी **(सरस:)** सरोवर के **(वार्)** जल की **(किं)** क्या **(किल)** रुचि से **(वाञ्छति)** इच्छा करेगा? नहीं।

भावार्थ–हे ऋषे! जिसने आत्मारूपी अमृतरस का अच्छी तरह पान किया है, जो संयमी है, हिताहित के विवेक से सहित है और सदा विषयास्वाद से विरक्त है, वह मनुष्य विषयरूपी तालाब के जल की क्या इच्छा करता है? अर्थात् नहीं।

य: समयति स्वसमयं, विबोधबलेन विहाय परसमयम्।
संवरोऽस्तु स्वसमयं, तस्यास्त्रवारि: प्रतिसमयम् ॥१८॥

अन्वयार्थ– (य:) जो **(विबोधबलेन)** सम्यग्ज्ञान के बल से **(परसमयं)** पर पदार्थों को **(विहाय)** त्यागकर **(स्वसमयं)** आत्म पदार्थ को **(समयति)** प्राप्त करता है **(तस्य)** उस भव्य आत्मा के **(आस्त्रवारि:)** आस्त्रव तत्त्व का शत्रु **(संवर:)** संवर **(स्वयं)** अपने आप **(प्रतिसमयं)** प्रतिक्षण **(अस्तु)** होवे।

भावार्थ–हे भगवान्! जो विज्ञान के बल से परसमय-परपदार्थों को छोड़कर स्वसमय-निज शुद्ध आत्मा को प्राप्त होता है, उसी का अनुभव करता है, उसके प्रत्येक समय-क्षण में आस्त्रव का विरोधी संवर स्वयं प्राप्त होता है।

सद्बोध से परम शोभित जो यहाँ है, पीयूष पी स्वपद में रमता रहा है।
क्या संयमी विषय-पान कदापि चाहे? जो जीव को विष समान सदैव दाहे ॥१७॥
विज्ञान से स्वपद को जिसने पिछाना, त्यागा सभी तरह से पर को सुजाना।
वो दु:खरूप उस आस्त्रव को नशाता, स्वामी! सही सुखद संवर तत्त्व पाता ॥१८॥

व्रतिनो न शल्यत्रयं, कलयन्तु किलाखिला रत्नत्रयम्।
शुद्धं स्पृशन्त्वत्र यं, निजात्मानं स्तुतजगत्त्रयम् ॥१९॥

अन्वयार्थ–(अखिला:) समस्त **(व्रतिन:)** व्रती मनुष्य **(किल)** निश्चय से **(रत्नत्रयं)** सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता रूप धर्म को–मार्ग को **(कलयन्तु)** प्राप्त करें **(शल्यत्रयं)** माया, मिथ्या, निदान रूप तीन शल्यों को **(न कलयन्तु)** न प्राप्त करें। **[अत्र]** इस जगत् में **(यं)** जो **(स्तुतजगत्त्रयं)** तीनलोक के द्वारा स्तुत है **(तं शुद्धं)** उस शुद्ध **(निजात्मानं)** निजात्मा का **(स्पृशन्तु)** स्पर्श करें, अनुभव करें।

भावार्थ–समस्त व्रती मनुष्य यथार्थ में रत्नत्रय को प्राप्त हों–सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को प्राप्त करने का प्रयत्न करें। माया, मिथ्यात्व और निदानरूप शल्य को प्राप्त न हों। साथ ही, उस रत्नत्रय रूप लक्षण से जगत्त्रय के द्वारा स्तुत निज शुद्ध आत्मा का स्पर्श–अनुभव करें।

अधिगतोचितानुचित:, स्वचिन्तनवशीकृतचञ्चलचित्त:।
शिवपथपथिक: कश्चित्, पदं कुपथं नयति किं क्वचित्? ॥२०॥

अन्वयार्थ– (अभिगतोचितानुचित:) अधिगत=जान लिया है, उचित अनुचित को जिसने **(स्वचिन्तनवशीकृतचञ्चलचित्त:)** निजात्मा के चिन्तन से वश में किया है चंचल चित्त को जिसने **(कश्चित्)** ऐसा कोई **(शिवपथपथिक:)** मोक्षमार्ग का पथिक **(किं)** क्या **(क्वचित्)** कहीं भी **(कुपथं पदं)** कुमार्ग पर अपना, कदम **(नयति)** ले जाता है? नहीं।

भावार्थ–जिसने उचित और अनुचित को जान लिया है तथा आत्मचिन्तन के द्वारा जिसने चंचलचित्त को अपने अधीन कर लिया है, ऐसा मोक्षमार्ग का कोई पथिक कहीं क्या अपना पग कुमार्ग में ले जाता है? अर्थात् नहीं।

मायादि शल्य-त्रय को मुनि नित्य त्यागें, ज्ञानादि रत्नत्रय धार सदैव जागें।
वे शुद्ध तत्त्व फलत: पल में लखेंगे, संसार में परम सार उसे गहेंगे ॥१९॥
आदेय-हेय जिनने सहसा पिछाने, लाये स्वचिन्तनतया मन को ठिकाने।
ज्ञानी वशी परम धीर मुमुक्षु ऐसे, स्वामी! रखें कुपथ में निजपाद कैसे?॥२०॥

जिनसमयं जानीत, आत्मानं नेति जिनेन स गीतः।
यद्यपि यो भवभीतः, प्रमादेन विकारं नीतः ॥२१॥

अन्वयार्थ– (यः भवभीतः) जो संसार से भीत-उद्विग्न है परन्तु **(प्रमादेन)** आलस वश **(विकारं)** विकार को **(नीतः)** प्राप्त हो गया है **(सः)** वह मनुज यद्यपि **(जिनसमयं)** जिन सिद्धान्तों को **(जानीते)** जानता है तथापि **(आत्मानं न जानीते)** आत्मा को नहीं जानता है। **(इति)** ऐसा **(जिनेन)** जिनेन्द्र भगवान ने **(गीतः)** कहा है।

भावार्थ–यद्यपि जो संसार से भयभीत है परन्तु प्रमाद से विकार को प्राप्त हो गया है वह जिनागम को जानता हुआ भी आत्मा को नहीं जानता है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है।

मायादिभावमवहन्ननघज्ञानघनौघममलं महः।
मुहुः कलयामि तदह, मुदीक्ष्य मयूरो मुदा सह ॥२२॥

अन्वयार्थ– (मायादिभावं) मायाचार आदि विकारी भावों को **(अवहन्)** नहीं धारण करता हुआ **(अहं)** मैं **(मयूरः)** मयूर की तरह **(तत्)** प्रसिद्ध **(अमलं)** विमल **(महः)** तेज स्वरूप **(अनघज्ञानघनौघं)** निर्दोष ज्ञान रूप मेघ समूह को **(मुहुः)** बार-बार **(उदीक्ष्य)** उत्कृष्ट रूप से सम्यक् अवलोकन कर **(मुदा सह)** आनंद के साथ **(कलयामि)** रहता हूँ अथवा नृत्य करता हूँ।

भावार्थ–मायाचार आदि विकारीभावों को न धारण करने वाला मैं मयूर उस प्रसिद्ध तेजोमय निष्कलंक ज्ञानरूप मेघसमूह को देखकर हर्ष के साथ स्तवन करता हूँ अथवा नृत्य करता हूँ।

संसार से बहुत यद्यपि जो डरा है, जाना जिनागम सभी जिसने खरा है।
आत्मा उसे न दिखता यदि है प्रमादी, ऐसा सदैव कहते गुरु सत्यवादी ॥२१॥
है ज्ञान जो सघन पावन पूर्ण प्यारा, सद्ज्ञान रूप जल की झरती सुधारा।
शोभामयी अतुलनीय सुखैक डेरा, नाचे उसे निरख मानस-मोर मेरा ॥२२॥

सद्दृग्विद्भ्यां मित्रं, युक्तं व्यक्तमात्मनश्च चरित्रम्।
सुखं ददाति विचित्रं, तीर्थं त्वं धारय पवित्रम् ॥२३॥

अन्वयार्थ– **(सद्दृग्विद्भ्यां)** सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान से **(व्यक्तं)** प्रकट **(यत्)** जो **(विचित्रं)** आश्चर्य करने वाला **(सुखं)** सुख को **(ददाति)** देता है तथा **(पवित्रं)** निर्दोष **(मित्रं)** मित्र है **(च)** और हितकर **(तीर्थं)** संसार समुद्र से तिरने के उपायभूत है ऐसे **(आत्मनः)** आत्मा के **(चरित्रं)** चारित्र को **(धारय)** धारण करो।

भावार्थ–सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से युक्त प्रकट हुआ जो विविध सुख को देता है, मित्र तथा तीर्थ स्वरूप उस निश्चयचारित्र को हे श्रमण! धारण करो।

यः स्वकमनुभवति स तां, लभतेऽसुलभां श्रियमिति मतं सताम्।
येहानन्यसदृशतां, समावहति शुचिं विलासताम् ॥२४॥

अन्वयार्थ– **(यः)** जो मुनि **(स्वकं)** स्वात्मा का **(अनुभवति)** अनुभव करता है **(सः)** वह **(तां)** उस **(असुलभां)** दुर्लभ **(श्रियं)** अनन्त चतुष्टय रूप लक्ष्मी को **(लभते)** प्राप्त करता है। **(या)** जो लक्ष्मी **(इह)** इस लोक में **(अनन्यसदृशतां)** अन्य की उपमा रहित**(शुचिं)** पवित्रता को और **(विलासतां)** शोभा को **(समावहति)** धारण करती है। **(इति)** इस प्रकार यह **(सतां)** संतों का **(मतं)** मत है।

भावार्थ–जो मुनि निज आत्मा का अनुभव करता है वह उस दुर्लभ लक्ष्मी को प्राप्त होता है जो इस जगत् की अनुपम पवित्रता और शोभा को धारण करती है।

होते घनिष्ठ जिसके दृग-बोध साथी, होता वही चरित आतम का सुखार्थी।
देता निजीय सुख, तीरथ भी कहाता, तू धार मित्र! उसको दुख क्यों उठाता? ॥२३॥
पीता निजानुभव पावन पेय प्याला, डाले गले शिवरमा उसके सुमाला।
जो लोक में अनुपमा शुचि-धारिणी है, ऐसा जिनेश कहते सुख-कारिणी है ॥२४॥

समुपलब्धौ समाधौ, साधुस्तथागतरागाद्युपाधौ।
यथा सरिद् वारिनिधौ, मुदमुपैति च निर्धनो निधौ ॥२५॥

अन्वयार्थ—(गतरागाद्युपाधौ) रागादिभावरूप उपाधि से रहित, **(समाधौ)** शुक्लध्यानरूप समाधि की **(समुपलब्धौ)** सम्यक् प्रकार से उपलब्धि होने पर **(साधुः)** श्रमण **(तथा)** उस प्रकार **(मुदं)** हर्ष को **(उपैति)** प्राप्त करता है **(यथा)** जैसे **(सरित्)** नदी **(वारिनिधौ)** समुद्र को प्राप्त करने पर **(च)** और **(निर्धनः)** निर्धन व्यक्ति **(निधौ)** निधान को प्राप्त करने पर करता है।

भावार्थ—रागादिरूप उपाधि से रहित शुक्लध्यान के प्राप्त होने पर मुनि उस प्रकार हर्ष को प्राप्त होता है, जिस प्रकार समुद्र के प्राप्त होने पर नदी और खजाना के मिलने पर दरिद्र मनुष्य।

भवकारणतो देह-, रागात्किल दूरी-भवन् सदेह।
सुखप्रदे स्वपदेऽह, मनुवसामि मुनिर्जितादेह! ॥२६॥

अन्वयार्थ—(जितादेह!) जीत लिया है, काम को जिसने ऐसे हे जितकाम! **(इह)** श्रमण दशा में **(भवकारणतः)** संसार के कारणस्वरूप **(देहरागात्)** देह राग से **(किल)** वास्तव में **(दूरीभवन्)** दूर होता हुआ **(अहं)** मैं **(सुखप्रदे)** सुख प्रदान करने वाले **(स्वपदे)** स्वात्मपद में **(अनुवसामि)** सदा निवास करता हूँ।

भावार्थ—हे कामविजेता! जिनेन्द्र! संसार के कारणभूत शरीर सम्बन्धी राग से सदा दूर रहता हुआ मैं मुनि सुखदायक ज्ञायक स्वभावी निज आत्मा में निवास करता हूँ।

रागादि भाव जिसमें न, वही समाधि, पाके उसे मुदित हो मुनि अप्रमादी।
होती नदी अमित सागर पा यथा है, किं वा दरिद्र खुश हो निधि पा अथाह ॥२५॥
है देह-नेह भव-कारण तो उसी से, मोक्षेच्छु मैं, बहुत दूर रहूँ खुशी से।
मैं हो विलीन निज में, निज को भजूँगा, स्वामी! अनन्त सुख पा, भव को तजूँगा ॥२६॥

प्राप्तो यैरेवैष, स्वात्मानुभवो गतरागद्वेषः।
तैर्जगति कोऽवशेषः, प्राप्तव्योऽत्र ततो विशेषः ॥२७॥

अन्वयार्थ– (एषः) यह **(गतरागद्वेषः)** रागद्वेष से रहित **(स्वात्मानुभवः)** निजात्मा का अनुभव **(यैः)** जिन महानुभावों द्वारा **(प्राप्तः)** प्राप्त किया **(एव)** ही है **(तैः)** उन महामुनियों द्वारा **(अत्र जगति)** इस जगत् में **(ततः)** उससे **(विशेषः)** विशेष **(कः)** क्या **(प्राप्तव्यः)** प्राप्त करने योग्य **(अवशेषः)** बचा है? कुछ नहीं।

भावार्थ–जिन महानुभावों ने रागद्वेष से रहित स्वानुभव को प्राप्त कर लिया, उन्हें इस जगत् में स्वानुभव से अधिक और विशेष बाकी क्या रहा ? अर्थात् कुछ नहीं।

रागादीन् सुधीः पुमान्, नैमित्तिकाननियतान् नैतीमान्।
अनधिगततत्त्वोऽसुमान्, याति तु पर्यायान् परकीयान्॥२८॥

अन्वयार्थ–(सुधीः) विद्वान् **(पुमान्)** पुरुष **(इमान्)** प्रत्यक्षभूत इन **(नैमित्तिकान्)** निमित्तों से उत्पन्न **(अनियतान्)** अनियत **(रागादीन्)** रागद्वेषादि विभाव भाव को **(न एति)** नहीं प्राप्त करता **(तु)** किन्तु जिसने **(अनधिगततत्त्वः)** वस्तु स्वरूप को नहीं जाना है ऐसा **(असुमान्)** प्राणी **(परकीयान्)** आत्मस्वभाव से भिन्न **(पर्यायान्)** पर्यायों को **(याति)** प्राप्त करता है, उन्हें अपना मानता है।

भावार्थ–ज्ञानी मनुष्य इन नैमित्तिक अस्थिर रागादि को प्राप्त नहीं होता, उन्हें अपना नहीं मानता। परन्तु तत्त्व व्यवस्था को न जानने वाला अज्ञानी प्राणी परकीय पर्यायों को प्राप्त होता है– उन्हें अपनी मानता है।

जो भी निजानुभव को जब प्राप्त होते, वे रागद्वेष लव को न कदापि ढोते।
तो कौन सा फिर पदार्थ रहाऽवशेष? प्राप्तव्य जो कि उनको न रहा विशेष ॥२७॥
रागादि भाव पर हैं पर से न नाता, ज्ञानी-मुनीश रखता पर में न जाता।
धिक्कार मूढ़ पर को करता, कराता, ना तत्त्व-बोध रखता, अति दुःख पाता ॥२८॥

बध्यते विधिना विधिः, स प्राहेति बोधैकनिधिर्विधिः।
साधुर्विहितात्मविधिः, येनाधिगतो हि विधेर्विधिः ॥२९॥

अन्वयार्थ– (येन) जिसने **(हि)** निश्चय से **(विधेः)** कर्म के **(विधिः)** विधि विधान को **(अधिगतः)** जान लिया है **(विहितात्मविधिः)** जिसने आत्म कल्याण की विधि को संपन्न कर लिया है ऐसा **(साधुः)** साधु **(भवति)** होता है **(सः)** वही **(बोधैकनिधिः)** सम्यग्ज्ञान का एक-अद्वितीय खजाना है। वही **(विधिना)** श्रमणचर्या की विधि से **(बध्यते)** बँधा हुआ होता है, **(इति)** ऐसा **(विधिः)** जिनेन्द्र भगवान ने **(प्राह)** कहा है।

भावार्थ–जिसने कर्म-भाग्य की विधि को जान लिया, जिसने आत्मा की विधि-कार्य-संवर निर्जरा सम्पन्न कर ली है और सम्यग्ज्ञान ही जिसकी अद्वितीय निधि है ऐसा साधु अपनी विधि-नियमित चर्या से बद्ध होता है, बँधा रहता है, ऐसा विधि ब्रह्मा-जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

यदा साऽऽत्मानुभूति, रुदेति शुद्धचैतन्यैकमूर्तिः।
मुनिर्नश्वरविभूति-, मिच्छति किं दुःखप्रसूतिम् ? ॥३०॥

अन्वयार्थ– (शुद्धचैतन्यैकमूर्तिः) शुद्ध चैतन्य की एक मूर्तिस्वरूप **(सा)** वह प्रसिद्ध **(आत्मानुभूतिः)** शुद्धात्मानुभूति **(यदा)** जब **(उदेति)** प्रकट होती है **[तदा]** तब **(किं)** क्या **(मुनिः)** श्रमण **(दुःखप्रसूतिं)** दुःखों को उत्पन्न करने वाले **(नश्वरविभूतिं)** क्षणभंगुर वैभव को **(इच्छति)** चाहेगा ? नहीं।

भावार्थ–शुद्ध-चैतन्य की अद्वितीय मूर्तिस्वरूप वह आत्मानुभूति जब प्रकट होती है, तब क्या मुनि दुःख को उत्पन्न करने वाली भंगुर सम्पदा की इच्छा करता है अर्थात् नहीं।

सम्बन्ध होत विधि से विधि का सदा है, बोधैकधाम 'जिन' ने जग को कहा है।
ऐसा रहस्य फिर भी मुनि ने गहा है, जो आत्मभाव करता सहसा रहा है ॥२९॥
आत्मानुभूति वर चेतन-मूर्ति प्यारी, साक्षात् यदा उपजती शिवसौख्यकारी।
माँगे तथापि मुनि क्या जग-सम्पदा को? देती सदा जनम जो बहु आपदा को ॥३०॥

भवत्यां भोगसम्पदि, मुनिर्मोहमेति न कदापि सपदि।
धारयति समतां हृदि, हा! न विषण्णो भवति च विपदि॥३१॥

अन्वयार्थ– **(भोगसम्पदिभवत्यां)** भोग सम्पदा के रहते हुए **(मुनिः)** साधु **(कदापि)** कभी भी **(सपदि)** शीघ्र **(मोहं)** मोह परिणति को **(न एति)** नहीं प्राप्त करता और **(विपदि)** विपत्ति आने पर **(विषण्णः)** खेद खिन्न भी **(न भवति)** नहीं होता **(हा!)** यह बड़े हर्ष की बात है कि वह मुनि **(हृदि)** हृदय में **(समतां)** समता को **(धारयति)** धारण करता है।

भावार्थ–भोगसम्पदा के रहते हुए मुनि कभी भी शीघ्र हर्ष को प्राप्त नहीं होता। हृदय में समता को धारण करता है और हर्ष है कि विपत्ति में खेद खिन्न भी नहीं होता।

पदं कुदृष्ट्यै देहि, मा सास्ति भवेऽत्र दुःखप्रदेऽहिः।
त्वमित्थमवेहि देहिंस्तां त्यज स्वसम्पदं यदेहि ॥३२॥

अन्वयार्थ– **(अत्र)** इस **(दुःखप्रदे)** दुख प्रदान करने वाले **(भवे)** संसार में **(सा)** वह मत के लिए मिथ्यादर्शन **(अहिः)** सर्प के समान **(अस्ति)** है। अतः **(त्वं)** तुम **(कुदृष्ट्यै)** मिथ्यात्व **(पदं मा देहि)** कदम मत रखो **(हे देहिन्!)** हे प्राणी! **(इत्थं)** ऐसा **(अवेहि)** तुम जानो। **(तां)** उस कुदृष्टि को **(त्यज)** छोड़ो। **(यत्)** जिससे **(स्वसम्पदं)** सम्यग्दर्शन की सम्पदा को **(एहि)** प्राप्त होओ।

भावार्थ–इस दुःखदायक संसार में मिथ्यादर्शन ही सर्प है। अतः तुम उसके लिए पद स्थान मत देखो-उस ओर पग मत बढ़ाओ। हे प्राणी! ऐसा तुम जानो, उस मिथ्यादर्शन को छोड़ो जिससे स्वयं सम्पदा को प्राप्त हो सको।

संपूर्ण भोग मिलने पर भी कदापि, भोगी नहीं मुनि बने, बनते न पापी।
पीते तभी सतत हैं समता सुधा को, गाली मिले, न फिर भी करते क्रुधा को ॥३१॥
मिथ्यात्व को हृदय में मत स्थान देना, है दुष्ट व्याल वह, क्यों दुख मोल लेना।
छोड़ो उसे निकट भी उसके न जाओ, तो शीघ्र ही अतुल संपति-धाम पाओ ॥३२॥

जलाशये जलोद्भमिवात्मानं भिन्नं जलतोऽनुभव।
प्रमादी माऽये भव, भव्य! विषयतो विरतो भव ॥३३॥

अन्वयार्थ– (अये भव्य!) हे भव्य प्राणी! **(प्रमादी)** प्रमादी **(मा)** मत **(भव)** होओ। **(विषयत:)** विषयों से **(विरत:)** विरक्त **(भव)** होओ। **(आत्मानं)** आत्मा को **(जलाशये)** सरोवर में **(जलोद्भवम् इव)** जल से उत्पन्न कमल के समान **(जलत:)** जल से अथवा जड़ स्वरूप देह से **(भिन्नं)** भिन्न **(अनुभव)** अनुभव करो।

भावार्थ–हे भव्य तू प्रमादी मत हो, पञ्चेन्द्रियों के विषय से निवृत्त हो। जिस प्रकार जलज-कमल जल से उत्पन्न होकर भी अपने आपको जल से भिन्न रखता है। उसी प्रकार तू भी संसार से उत्पन्न होकर भी जड़-पौद्गलिक संसार से अपने आपको पृथक् अनुभव कर।

भिन्नोऽहमङ्गान्मद,-रूपिणोऽपि च भिन्नमित्यङ्गमदः।
मुञ्चामीत्वेति मद,माङ्गं हे गत-भवहेतुमद! ॥३४॥

अन्वयार्थ– (गतभवहेतुमद!) संसार के कारणभूत, मद से रहित हे आत्मन्! **[त्वं]** तू **[इत्थं]** ऐसा **[विचारय]** विचारकर कि **(अहं)** मैं चैतन्यपुंज **(अङ्गात्)** जड़ स्वरूप देह से **(भिन्नः)** पृथक्भूत **[अस्मि]** हूँ **(अपि च)** और **(अरूपिणः)** अमूर्त स्वरूप वाले **(मत्)** मुझसे **(अदः)** यह मूर्तरूप **(अङ्गं)** शरीर **(भिन्नं)** पृथक्भूत **(अस्ति)** है। **(इति)** इस प्रकार **(ईत्वा)** जानकर मैं **(आङ्गं)** देह सम्बन्धी **(मदं)** अहंकार को **(मुञ्चामि)** छोड़ता हूँ।

भावार्थ–हे संसार के कारणभूत मद से रहित! मैं शरीर से भिन्न हूँ और यह शरीर भी मुझ अमूर्तिक से भिन्न है, ऐसा जानकर मैं शरीर सम्बन्धी मद-गर्व को छोड़ता हूँ।

जैसे कहे जलज जो जल से निराला, वैसे बना रह सदा जड़ से खुशाला।
क्यों तू प्रमत्त बनता बन भोग त्यागी, रागी नहीं बन कभी बन वीतरागी ॥३३॥
हूँ देह से पृथक चेतन शक्ति वाला, स्वामी! सदैव मुझसे तन भी निराला।
यों जान, मान तन का मद छोड़ता हूँ, मैं मात्र मोक्ष-पथ से मन जोड़ता हूँ ॥३४॥

विगतेऽघे मनोभुवि, विहरति शुद्धात्मनि मुनिः स्वयंभुवि।
कथं बद्धः प्रभुर्विः, खे चरितु-मिदमसाध्यं भुवि॥३५॥

अन्वयार्थ– **(अघे)** पापरूप **(मनोभुवि)** मन में उत्पन्न होने वाले काम विकार के **(विगते)** नष्ट हो जाने पर **(मुनिः)** श्रमण **(स्वयं भुवि)** अनाद्यनन्त स्वभाव वाली **(शुद्धात्मनि)** रागादि रहित शुद्ध आत्मा में **(विहरति)** विहार करता है **(यथा)** जैसे **(बद्धः)** बँधा हुआ **(विः)** पक्षी **(खे)** आकाश में **(चरितुं)** गमन करने के लिए **(कथं)** कैसे **(प्रभुः)** समर्थ हो सकता है? नहीं हो सकता **(इदं)** बात **(असाध्यं)** असम्भव है।

भावार्थ–पापी काम के नष्ट हो जाने पर, मुनि अनाद्यनन्त शुद्धात्मा में रमण करता है। जैसे जाल में बँधा पक्षी क्या आकाश में उड़ने के लिए-समर्थ है? अर्थात् नहीं है। यह कार्य पृथ्वी पर असाध्य है।

यस्य हृदि समाजातः, प्रशमभावः श्रमणो यथाजातः।
दूरोऽस्तु निर्जरातः, कदापि मा शुद्धात्मजातः॥३६॥

अन्वयार्थ– **(यस्य)** जिस मुनि के **(हृदि)** हृदय में **(प्रशमभावः)** प्रशमगुण **(समाजातः)** उत्पन्न हुआ है वह **(यथाजातः)** दिगम्बर **(श्रमणः)** साधु **(शुद्धात्मजातः)** शुद्धात्मा से उत्पन्न **(निर्जरातः)** निर्जरा से **(कदापि)** कभी भी **(दूरः)** दूर **(मा)** नहीं **(अस्तु)** होवे।

भावार्थ–जिसके हृदय में प्रशमभाव प्रकट हुआ है वह दिगम्बर मुद्रा का धारक-निर्ग्रन्थ साधु शुद्धात्मा से होने वाली निर्जरा से भी दूर नहीं हो सकता।

हो काम नष्ट अघ भी मिटता यदा है, योगी विहार करता निज में तदा है।
आकाश में विहग क्या फिर भी उड़ेगा? जो जाल में फँस गया फिर क्या करेगा?॥३५॥
सौभाग्य से श्रमण जो कि बना हुआ है, सच्चा जिसे प्रशमभाव मिला हुआ है।
छोड़े नहीं वह कभी उस निर्जरा को, जो नाशती जनम-मृत्यु तथा जरा को॥३६॥

यत् संसारे सारं, स्थायीतरमस्ति सर्वथाऽसारम्।
सारं तु समयसारं, मुक्तिर्यल्लभ्यते साऽरम् ॥३७॥

अन्वयार्थ– **(संसारे)** संसार में **(यत्)** जो **(स्थायीतरं)** स्थायी से भिन्न क्षणभंगुर **(सारं)** धन है वह **(सर्वथा)** सर्व प्रकार से **(असारं)** सारहीन **(अस्ति)** है। **(सारं)** सारभूत श्रेष्ठ **(समयसारं)** समयसार है **(यत्)** जिससे **(सा)** वह प्रसिद्ध **(मुक्तिः)** मोक्ष लक्ष्मी **(अरं)** शीघ्र **(लभ्यते)** प्राप्त होती है।

भावार्थ–संसार में जो क्षणभंगुर सार-धन है, वह सब प्रकार से असार है-सारहीन है। सार-श्रेष्ठ तो समयसार-शुद्धात्म परिणति ही है जिससे वह मुक्ति शीघ्र प्राप्त होती है।

निस्संगः सदागतिः, विचरतीव कन्दरेषु सदागतिः ।
ततो भवति सदागतिः, स्वरसशमितमारसदागतिः॥३८॥

अन्वयार्थ–(स्वरसशमितमारसदागतिः) स्वानुभूतिरूपी जल से शान्त की है, कामदेव की अग्नि जिसने ऐसा **(सदागतिः इव)** वायु के समान **(निस्संगः)** निष्परिग्रही **(सदागतिः)** साधु **(कन्दरेषु)** गुफाओं में **(विचरति)** विचरण करता है **(ततः)** उस साधना से **(सदागतिः)** निर्वाण स्वरूप **(भवति)** होता है।

भावार्थ–जिसने स्वरस-आत्मबल अथवा स्वानुभवरूप जल से कामरूपी अग्नि को शान्त कर दिया है ऐसा वायु के समान निःसंग साधु वन की गुफाओं में विचरण करता है, इस कारण उसे सदागति-निर्वाण प्राप्त होता है।

संसार में धन न सार असार सारा, स्थायी नहीं, न उनसे सुख हो अपारा।
है सार तो समय-सार अपार प्यारा, हो प्राप्त शीघ्र जिससे वह मुक्तिदारा॥३७॥
निस्संग हो विचरते गिरि-गह्वरों में, वे साधु ज्यों पवन है वन कन्दरों में।
कामाग्नि को स्वरस पी झट से बुझा के, विश्राम पूर्ण करते निज-धाम जाके॥३८॥

सरस्तत् पुष्करेण, यतितिमिर्भातु ध्यानपुष्करेण।
मृदुता च पुष्करे न, नरेऽविरते गीः पुष्करे न॥३९॥

अन्वयार्थ—(तत्) प्रसिद्ध **(सरः)** सरोवर **(पुष्करेण)** कमल से **(भातु)** शोभित होवे **(यतितिमिः)** यति रूप मीन **(ध्यानपुष्करेण)** ध्यानरूपी जल से शोभित होवे **(पुष्करे)** कमल में **(मृदुता)** कोमलता किन्तु **(अविरते)** असंयत **(नरे)** मनुष्य में **(सा)** वह मृदुता **(न)** शोभित हो **(च)** और **(पुष्करे)** आकाश में **(गीः)** वाणी अर्थात् शब्द **(न)** न **(शोभे)** शोभित होता है।

भावार्थ—वह सरोवर पुष्कर-कमल से सुशोभित है और मुनिरूप मीन ध्यानरूपी पुष्कर-जल से सुशोभित हो। कोमलता पुष्कर-कमल में सुशोभित हो असंयमी मनुष्य में नहीं अर्थात् असंयमी मनुष्य में कोमलता अच्छी नहीं लगती है, कमल में ही अच्छी है और शब्द (पुष्कर) आकाश में नहीं। अर्थात् शब्द आकाश का गुण नहीं है।

संसारमूलमेन, आर्त्तरौद्रद्वयं रोचते मे न।
हेममयः कथमेण, ईप्सितस्तेन रामेण?॥४०॥

अन्वयार्थ—(संसारमूलं) संसार के कारणभूत **(एनः)** पापरूप **(आर्त्तरौद्रद्वयं)** आर्त-रौद्रध्यान युगल **(मे न रोचते)** मेरे लिए नहीं रुचते हैं। **(हेममयः)** स्वर्णमय **(एणः)** मृग **(रामेण)** राम ने **(कथं)** किस तरह **(ईप्सितः)** चाहा ?

भावार्थ—संसार के प्रमुख कारण, पापरूप आर्त्त और रौद्रध्यान मुझे अच्छे नहीं लगते। सुवर्णमय मृग विवेकी राम के द्वारा कैसे चाहा गया ? अर्थात् सुन्दर और स्वर्णमय मृग लोभ के कारण श्रीरामचन्द्रजी ने सीता के अपहरण का दुख प्राप्त किया था, तब संसार परिभ्रमण के कारणभूत आर्त्त रौद्र ध्यान मुनियों को कैसे रुच सकते हैं? नहीं रुच सकते।

शोभे सरोज-दल से सर ठीक जैसा, सद्ध्यान रूप जल से मुनि-मीन वैसा।
हो कंज में मृदुपना न असंयमी में, 'ना शब्द व्योम गुण हैं'-कहते यमी हैं॥३९॥
ये आर्त्तरौद्र मुझको रुचते नहीं हैं, संसार के प्रमुख कारण पाप वे हैं।
श्री रामचन्द्र फिर भी मृग-भ्रान्ति भूले? जो देख कांचन-मृगी इस भाँति फूले॥४०॥

स्वानुभवैकयोगतः, परां वीतरागतां यो गतः।
बिभेत्यङ्गवियोगतः, किं चलति शुद्धोपयोगतः॥४१॥

अन्वयार्थ– (स्वानुभवैकयोगतः) स्वानुभव स्वरूप एक मात्र योग से **(यः)** जो मुनि **(परां)** उत्कृष्ट **(वीतरागतां)** वीतरागता को **(गतः)** प्राप्त हुआ है **[सः]** वह **(किं)** क्या **(अङ्गवियोगतः)** देह के वियोग से **(बिभेति)** डरता है? **(शुद्धोपयोगतः)** शुद्धोपयोग से **(चलति)** चलायमान होता है? नहीं।

भावार्थ–जो मुनि स्वानुभव के अद्वितीय संयोग से वीतरागता को प्राप्त हुआ है, वह क्या शरीर के वियोग से डरता है और शुद्धोपयोग से विचलित होता है? अर्थात् नहीं?

यो दूरो निजस्वतश्चरति च दृक्कंजविकास-भास्वतः।
स हि परभावनास्वतः, कुर्याद् रुचिमज्ञानी स्वतः॥४२॥

अन्वयार्थ–(यः) जो मुनि **(दृक्कञ्जविकासभास्वतः)** सम्यग्दर्शनरूपी, कमल के विकास के लिए सूर्य स्वरूप **(निजस्वतः)** आत्मधन से **(दूरः चरति)** दूर विचरण करता है **(सः)** वह **(हि)** निश्चय से **(अतः)** इस निजधन से रहित **(अज्ञानी)** अज्ञानी **(परभावनासु)** पर के चिन्तन में **(स्वतः)** स्वयं ही **(रुचिं)** प्रीति को **(कुर्यात्)** करता है।

भावार्थ–जो मुनि, सम्यग्दर्शनरूपी कमल को विकसित करने के लिए सूर्यरूप आत्मधन से दूर रहता है इसीलिए वह अज्ञानी परपदार्थों की भावनाओं में स्वयं रुचि करता है।

योगी निजानुभव से पर को भुलाता, है वीतरागपन को फलरूप पाता।
वो क्या कभी मरण से मुनि हो डरेगा? शुद्धोपयोग धन को फिर क्या तजेगा॥४१॥
जो भानु है, दृग-सरोज विकासता है, योगी सुदूर रहता उससे यदा है।
वो तो तदा नियम से पर भावनायें, हा! हा! करे, सहत है फिर यातनायें॥४२॥

कलय व्रतानि पञ्च, तापपदानि मुञ्च पापानि पञ्च।
नो हि रागप्रपञ्च,-मजं भज स्तुतशत-सुरपं॥४३॥

अन्वयार्थ– **(पञ्चव्रतानि)** पाँच व्रतों को **(कलय)** प्राप्त करो! **(तापपदानि)** ताप स्थान स्वरूप **(पञ्चपापानि)** पाँच पापों को **(मुञ्च)** छोड़ो! **(स्तुतशतसुरपं)** सौ इन्द्रों से वन्दित **(अजं)** जन्मातीत जिनेन्द्र देव को **(भज)** भजो! **(रागप्रपञ्चं)** पंचेन्द्रिय विषयों की प्रीति के विस्तार को **(हि)** निश्चय से **(नो भज)** नहीं भजो, नहीं प्राप्त करो।

भावार्थ–अहिंसा आदि पाँच व्रतों को धारण करो, दु:ख के स्थानभूत पाँच पापों को छोड़ो। राग का विस्तार मत करो और सौ इन्द्रों के द्वारा स्तुत जिनदेव की सेवा करो।

भवहेतुभूता क्षमा, त्यक्ता जिनेन या स्वीकृता क्षमा।
तां विस्मर नृदक्ष! मा, यत: सैव शिवदाने क्षमा॥४४॥

अन्वयार्थ– **(या)** जो **(भवहेतुभूता)** संसार की कारणभूत **(क्षमा)** पृथ्वी **(जिनेन)** जिनेन्द्र भगवान् ने **(त्यक्ता)** त्यागी है **(च)** और **(भवहेतुभूता)** भव-कल्याण की कारणभूत **(या क्षमा)** जो क्षमा **(स्वीकृता)** स्वीकार की है **(नृदक्ष!)** हे मनुष्यों में चतुर नर! **(तां)** उस **(क्षमा)** क्षमा को **(मा)** मत **(विस्मर)** भूलो! **(यत:)** क्योंकि **(सा एव)** वही क्षमा **(शिवदाने)** मोक्ष प्रदान करने में **(क्षमा)** समर्थ है।

भावार्थ–जो संसार की कारणभूत है ऐसी क्षमा-पृथ्वी का जिनेन्द्र भगवान् ने त्याग किया है और कल्याण प्राप्ति में जो हेतुभूत है ऐसी क्षमा-शान्ति को स्वीकृत किया है। हे चतुरनर! तू जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा स्वीकृत क्षमा को मत भूल। क्योंकि मोक्षप्रदान करने में वही क्षमा-समर्थ है।

ये पंच पाप इनको बस शीघ्र छोड़ो, धारो महाव्रत सभी मन को मरोड़ो।
औ! राग का तुम समादर ना करो रे! देवाधिदेव 'जिन' को उर में धरो रे! ॥४३॥
रे! 'वीर' ने जड़मयी तज के क्षमा को, है धार ली तदुपरान्त महा क्षमा को।
जो चाहते जगत में बनना सुखी हैं, धारें इसे, परम मुक्ति-वधू सखी है ॥४४॥

प्रत्ययो यस्य वृत्तं, जिने निजचिन्तनतो मनो वृत्तम्।
तस्य वृत्तं हि वृत्तं, कथयतीतीदमत्र वृत्तम्॥४५॥

अन्वयार्थ– **(यस्य)** जिस भव्य का **(जिने)** जिनेन्द्र देव में **(प्रत्ययः)** विश्वास **(वृत्तं)** उत्पन्न हुआ है **(यस्य)** जिसका **(मनः)** चित्त **(निजचिन्तनतः)** निजात्मा के चिन्तन में **(वृत्तं)** वर्तमान है– लगा है **(तस्य)** उसका **(वृत्तं)** चारित्र **(हि)** निश्चय से **(वृत्तं)** वास्तविक चारित्र है। **(इति)** इस प्रकार **(इदं)** यह **(वृत्तं)** छन्द **(अत्र)** यहाँ पर **(कथयति)** कह रहा है।

भावार्थ–जिसका जिनेन्द्र भगवान् में विश्वास है और आत्मचिन्तन में जिसका मन लगा हुआ है उसी का चारित्र वास्तव में चारित्र है ऐसा रहस्य यहाँ यह-छन्द हमें बता रहा है।

रुचिमेति कुधीः के न, परवस्तुदत्तचित्तो युतोऽकेन।
स्वस्थो जीवति केन, सह मुनिस्तं नमामि केन ॥४६॥

अन्वयार्थ– **(अकेन)** दुख से **(युतः)** युक्त **(परवस्तुदत्तचित्तः)** पर पदार्थों के चिन्तन में लीन **(कुधीः)** कुबुद्धि **(के)** आत्मा में **(रुचिं)** रुचि को **(न एति)** प्राप्त नहीं होता है **(स्वस्थः मुनिः)** स्व-आत्मा में स्थित मुनि **(केन सह)** सुख के साथ **(जीवति)** जीता है **(तं)** उस मुनि को **(केन)** सिर से **(नमामि)** नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ–जो अक-दुःख या पाप से सहित है तथा जिसका चित्त परपदार्थों में लग रहा है, ऐसा कुबुद्धि-अज्ञानी मानव क-आत्मा में रुचि-प्रीति अथवा प्रतीति को प्राप्त नहीं होता। इसके विपरीत जो मुनि स्वस्थ-आत्मस्थ होता हुआ क-सुख से जीवित रहता है उसे मैं क-शिर से नमस्कार करता हूँ।

आस्था घनिष्ठ निज में जिनकी रही है, विज्ञान से चपलता मन की रुकी है।
होता चरित्र उनका वर मोक्ष-दाता, ऐसा रहस्य यह छन्द हमें बताता ॥४५॥
आत्मा जिसे न रुचता वह तो मुधा है, मिथ्यात्व से रम रहा पर में वृथा है।
ज्ञानी निजीय घर में रहते सदा ये, वन्दूँ उन्हें, द्रुत मिले निज संपदायें ॥४६॥

क्व सा दाहकता विना, तिष्ठतु कथं स च तया विनाऽविना।
वस्तुतोऽस्तु यच्च विना, ज्ञानमात्मना किन्तु न विना ॥४७॥

अन्वयार्थ– **(सा)** वह **(दाहकता)** दहनशीलता **(अविना विना)** अग्नि के बिना **(क्व)** कहाँ है **(च)** और **(कथं)** कैसे **(तिष्ठतु)** रह सकती है? **(सः च)** और वह अग्नि भी **(तया विना च)** उस दाहकता के बिना भी कैसे रह सकती है? **(यत्)** जो **(ज्ञानं)** ज्ञान **(विना विना)** आकाश के विना **(अस्तु)** रहे, किन्तु **(आत्मना विना)** आत्मा के बिना **(न अस्तु)** नहीं रह सकता है।

भावार्थ–वह दाहकता अग्नि के बिना कहाँ और कैसे रह सकती है और अग्नि दाहकता के बिना कैसे रह सकती है। वास्तव में ज्ञान वि–आकाश के बिना तो रह सकता है पर आत्मा के बिना नहीं रह सकता। यथा–दाहकता अग्नि के बिना नहीं रह सकती और अग्नि दाहकता के बिना भी नहीं रह सकती, दोनों में गुण–गुणी सम्बन्ध है। अग्नि गुणी है जिसमें दाहकता रूप गुण है और वह दाहक गुण भी गुणी अग्नि के बिना नहीं रह सकता। उसी प्रकार आत्मा गुणी है जिसमें ज्ञानगुण रहता है और वह ज्ञानगुण बिना आत्मा के नहीं रह सकता है। आत्मा और ज्ञान के प्रदेशों का अभेद सम्बन्ध है। जैसे आत्मा का ज्ञान गुण के साथ सम्बन्ध है वैसा आकाश के साथ संबंध नहीं है। वि–आकाश, अवि–अग्नि।

न निश्चयेन नयेन, किन्त्वलङ्कृतस्तद्विषयेण येन।
यस्तं व्रजेन्नयेन, मुक्तिरसंयमिनस्तान् ये न ॥४८॥

अन्वयार्थ– **(यः)** जो मुनि **(निश्चयेन नयेन)** निश्चय नय से **(न अलङ्कृतः)** शोभित नहीं है किन्तु **(तत् विषयेण)** उस निश्चय नय के विषय से **(येन)** जिस कारण से अलंकृत है **(तं)** उस साधक मुनि को **(मुक्तिः)** मोक्ष लक्ष्मी **(नयेन)** परम्परा से **(व्रजेत्)** प्राप्त होती है। परन्तु **(ये असंयमिनः)** जो असंयमी जीव हैं **(तान्)** उनको **(न)** नहीं प्राप्त हो।

भावार्थ–जो निश्चयनय से अलंकृत नहीं हैं किन्तु उसके विषयभूत संयमाचरण से अलंकृत है उस मनुष्य को मुक्ति नय–परम्परा से प्राप्त हो सकती है। परन्तु जो असंयमी हैं उन्हें मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती।

कैसे रहे अनल दाहकता बिना वो, तो अग्नि से पृथक दाहकता कहाँ हो?
आकाश के बिन कहीं रह तो सकेगा, पै ज्ञान आतम बिना न कहीं रहेगा ॥४७॥
जो मात्र शुद्धनय से न हि शोभता है, पै वीतरागमय भाव सुधारता है।
लक्ष्मी उसे वरण है करती खुशी से, सागार को निरखती तक ना इसी से ॥४८॥

त्वं त्याज्यं त्यज मानं, विस्मर यममलमात्मानं मा नम्।
भवन्नमानी मानं, गतः स जिनोऽनन्यसमानम् ॥४९॥

अन्वयार्थ– **(त्वं)** तू **(त्याज्यं)** त्याग करने योग्य **(मानं)** मानकषाय को **(त्यज)** त्याग **(यं)** प्रशस्त **(अमलं)** विमल **(आत्मानं)** आत्मा को और **(नं)** जिनेन्द्रदेव को **(मा)** मत **(विस्मर)** भूल। **(सः)** वह **(जिनः)** जिनवर **(अमानी)** मानकषाय से रहित **(भवन्)** होकर **(अनन्यसमानं)** अद्वितीय **(मानं)** ज्ञान को अथवा आदर को **(गतः)** प्राप्त हुए हैं।

भावार्थ–हे मुने! तू छोड़ने योग्य मान को छोड़। प्रशस्त निर्मल आत्मा तथा जिनदेव को मत भूल। वह जिनदेव मान-गर्व रहित होते हुए अनुपम-अद्वितीय मान-ज्ञान अथवा आदर को प्राप्त हुए हैं।

यदि भवभीतोऽसि भवं,भज भक्त्याऽभवमिच्छसि भव्य भवम्।
दृशावस्य मनोभवं, त्वङ् कुरु शुच्या निजानुभवम् ॥५०॥

अन्वयार्थ–(भव्य!) हे भव्य जीव! **(त्वं)** तुम **(यदि भवभीतः)** यदि संसार से भीत **(असि)** हो **[च]** और **(अभवं)** संसार से रहित मोक्ष **(भवं)** पर्याय को **(इच्छसि)** चाहते हो **[तर्हि]** तो **(शुच्या)** पवित्र **(दृशा)** दृष्टि से **(मनोभवं)** कामविकार को **(आवस्य)** समाप्त करके **(भक्त्या)** भक्ति से **(भवं)** जिनेन्द्र प्रभु को **(भज)** भजो **(च)** और **(निजानुभवं कुरु)** निजानुभव करो।

भावार्थ–हे भव्य! यदि तू संसार से भयभीत है और अभव-जन्मरहित भव-सिद्धपर्याय को चाहता है तो निर्मलदृष्टि-सम्यक्त्व अथवा विवेक से मनोभव-काम को नष्ट कर भक्तिपूर्वक भव-जिनेन्द्रद्रेव की आराधना कर तथा शुद्ध आत्मा का अनुभव कर।

हैं पूर्व में मुनि सभी बनते अमानी, पश्चात् जिनेश बनते, यह 'वीर' वाणी।
तू भी अभी इसलिए तज मान को रे, शुद्धात्म को निरख, ले सुख की हिलोरें ॥४९॥
संसार सागर किनार निहारना है, तो मार मार, दृग को द्रुत धारना है।
औ! जातरूप 'जिन' को नित पूजना है, भाई! तुझे परम आतम जानना है ॥५०॥

सन्तः समालसन्तः, सन्तु सन्ततं स्वे स्वकं भजन्तः।
अन्तेऽनन्तताम‌तः, प्रयान्तु शिवालये वसन्तः॥५१॥

अन्वयार्थ— **(सन्तः)** साधुजन **(स्वकं)** निज आत्मा को **(भजन्तः)** भजते हैं **(समालसन्तः)** सम्यक् रूप से सब ओर से शोभायमान होते हुए **(स्वे)** आत्मा में **(सन्ततं)** सदा **(सन्तु)** रहते हैं **(अतः)** आत्म में रमण करने से वे **(अन्ते)** अन्त में **(शिवालये)** मोक्षधाम में **(वसन्तः)** रहते हुए **(अनन्ततां)** अविनश्वरता को **(प्रयान्तु)** प्राप्त करते हैं।

भावार्थ— साधुजन स्वकीय आत्मा का भजन करते हुये एवं सम्यक् प्रकार से सुशोभित होते हुए निरन्तर आत्मा में रहें-उसी का चिन्तन-मनन करें। इससे अन्त में मुक्तिधाम में रहते हुए अनन्तता-अविनश्वरता को प्राप्त हों।

सुकृतैनोभ्यां मौन, मिति व्रज मत्वाहं देहमौ! न।
ध्रुवौ धर्मावमौ न, रागद्वेषौ च ममेमौ नः ॥५२॥

अन्वयार्थ— **(औ नः!)** हे मानव! **[त्वं]** तू विचार कर कि **(अहं)** मैं **(देहं)** देह **(न)** नहीं हूँ और **(इमौ)** ये दोनों **(रागद्वेषौ च)** राग और द्वेषरूपी **(अमौ)** रोग **(मम)** मेरे **(ध्रुवौ)** स्थायी **(धर्मौ)** धर्म-स्वभाव **(न)** नहीं है **(इति मत्वा)** ऐसा मानकर **(सुकृतैनोभ्याम्)** पुण्य और पाप इन दोनों से **(मौनं)** मौन को **(व्रज)** प्राप्त होओ।

भावार्थ—हे मानव! मैं देह-शरीर नहीं हूँ और मेरे ये रागद्वेषरूपी रोग स्थायी धर्म नहीं हैं, ऐसा मानकर पुण्यपाप से मौन को प्राप्तकर अर्थात् इनका विकल्प छोड़ शुद्धात्म का अनुभव कर।

सल्लीन हों स्वपद में सब सन्त साधु, शुद्धात्म के सुरस के बन जाये स्वादु।
वे अन्त में सुख अनन्त नितान्त पावें, सानन्द जीवन शिवालय में बितावें ॥५१॥
ये रोष-रागमय भाव विकार सारे, मेरे स्वभाव नहिं हैं बुध यों विचारें।
ये पाप पुण्य इनमें फिर मौन धारें, औ देह स्नेह तज के निज को निहारें ॥५२॥

भावना चेद्धि भवतः, कदा निवृत्तिरियमिति भवेत् भवतः।
निक्षिपतु मनोऽभवतः, पदयोर्दूरं मनोभवतः ॥५३॥

अन्वयार्थ–हे भव्य! **(चेत्)** यदि **(भवतः)** आपकी **(इयं)** यह **(भावना)** भावना है कि **(भवतः)** संसार से **(निवृत्तिः)** मुक्ति **(कदा)** कब **(भवेत्)** होगी? तो **(हि)** निश्चय से **(इति)** इस प्रकार **(अभवतः)** भव-जन्म से रहित अभव स्वरूप जिनेन्द्र देव के **(पदयोः)** चरणों में अपना **(मनः)** मानस-चित्त को **(निक्षिपतु)** रख दो **(मनोभवतः)** कामभाव से **(मनः)** मन को **(दूरं)** दूर **(निक्षिपतु)** रखो।

भावार्थ–''संसार से निवृत्ति कब होगी'' यदि निश्चय से तेरी भावना है तो तू अभवतः-जन्म ग्रहण न करने वाले अरहन्त के चरणों में मन लगा और काम से मन को दूर रख।

स ना नैति नालीकः, स्वं तेनेतोऽर्थोऽतो नालीकः।
यः समाननालीकः, शिवश्रियेऽप्यस्तु नालीकः? ॥५४॥

अन्वयार्थ– (सः) वह **(ना)** पुरुष **(नालीकः)** अज्ञानी है **(यः)** जो **(स्वं)** स्वयं को **(न एति)** प्राप्त नहीं करता-स्वयं की आत्मा का अनुभव नहीं करता **(अतः)** इसलिए **(हे न!)** हे जिन! **(तेन)** उसने **(अलीकः)** मिथ्या **(अर्थः)** अर्थ व पदार्थ **(इतः)** प्राप्त किया है **(यः)** जो **(समाननालीकः)** समान-अहंकारी और नालीक-अज्ञानी है **(सः)** वह **(शिवश्रियै)** मोक्षलक्ष्मी के लिए **(अपि)** भी **(अलीकः)** अप्रिय **(न अस्तु)** नहीं होगा? होगा ही।

भावार्थ–वह मनुष्य मूर्ख है जो आत्मा को नहीं प्राप्त होता-नहीं जानता। अतः हे जिन! उसने अलीक-मिथ्या अर्थ को प्राप्त किया है-जान रखा है जो अहंकारी एवं अज्ञानी है। ऐसा मनुष्य कल्याणकारी लक्ष्मी अथवा मोक्षलक्ष्मी के लिए भी अलीक-अप्रिय क्यों न हो? अवश्य हो।

संसार के जलधि से कब तैरना हो, ऐसी त्वदीय यदि हार्दिक भावना हो।
आस्वाद ले जिनप-पाद पयोज का तू, ना नाम ले अब कभी उस 'काम' का तू ॥५३॥
संसार-बीच बहिरातम वो कहाता, झूठा पदार्थ गहता, भव को बढ़ाता।
बेकार मान करता निज को भुलाता, लक्ष्मी उसे न वरती, अति कष्ट पाता ॥५४॥

तेनाऽऽप्यते साऽऽशु चिदेकमूर्तिश्च गतार्थैकाऽशुचिः।
धृतदशधर्मैकशुचिर्यो निजं श्रमणः श्रयति शुचिः ॥५५॥

अन्वयार्थ– **(गतार्थैकाऽशुचिः)** गत–नष्ट हो गयी है, अर्थ–अर्थ पुरुषार्थ सम्बन्धी, एका–प्रमुखा, अशुचिः–अपवित्रता जिसमें **(सा)** वह प्रसिद्ध **(चिदेकमूर्तिः)** चित्–चैतन्य की, एक–अद्वितीय मूर्ति **(तेन)** श्रमण के द्वारा **(आशु)** शीघ्र **(आप्यते)** प्राप्त की जाती है **(यः श्रमणः)** जो साधु है जिसने **(धृतदशधर्मशुचिः)** दशधर्मों की शुचिता धारण की है ऐसा **(शुचिः)** उज्ज्वल हृदय युक्त श्रमण **(निजं)** स्वात्मा का **(श्रयति)** आश्रय लेता है।

भावार्थ–उस श्रमण–साधु के द्वारा वह प्रसिद्ध–ज्ञानिजन सुलभ अर्थपुरुषार्थ सम्बन्धी अपवित्रता से रहित चैतन्य की अद्वितीयमूर्ति प्राप्त की जाती है। जो दशधर्म सम्बन्धी, पवित्रता को धारण करने वाला उज्ज्वल हृदय श्रमण निज आत्मा का आश्रय लेता है। अर्थ पुरुषार्थ की अशुचिता से रहित चैतन्य की अद्वितीय मूर्ति, दशधर्मों से युक्त श्रमण ही आत्मध्यान करने को समर्थ होता है।

परिणतो दृशा साकं, यदि नैति विधेरुदयात् सहसाऽकम्।
कं मुक्तिरेतु साकं, कश्चामितं तदाञ्जसा कम् ॥५६॥

अन्वयार्थ–यदि **(दृशा साकं)** सम्यग्दर्शन के साथ **(परिणतः)** तद्रूपता–एकरूपता को प्राप्त हुआ **(ना)** मनुष्य **(विधेः)** चारित्र मोहनीय कर्म के **(उदयात्)** उदय से **(सहसा)** शीघ्र **(अकं)** पाप को **(एति)** प्राप्त करता है– सम्यग्दृष्टि होकर भी पापकर्म करता है **(तदा)** उस समय **(सा)** वह प्रसिद्ध **(मुक्तिः)** मोक्षलक्ष्मी **(कं)** किस **(कं)** आत्मा को **(अञ्जसा)** परमार्थ से **(एतु)** प्राप्त करेगी और **(कः)** कौन आत्मा **(अमितं)** अनन्त **(कं)** सुख को **(एतु)** प्राप्त करेगा? ऐसा कोई नहीं।

भावार्थ–यदि सम्यग्दर्शन के साथ तद्रूपता को प्राप्त हुआ मनुष्य कर्म के उदय से सहसा पाप को प्राप्त होता है अर्थात् चारित्र से पतित होता है तो रत्नत्रय की एकता से प्राप्त होने वाली मुक्ति किस आत्मा को यथार्थरूप से प्राप्त होगी ? अर्थात् किसी को नहीं। इस प्रकार चारित्र से पतित कौन मनुष्य अनंतसुख को प्राप्त होता है ? अर्थात् कोई नहीं।

जो पाप से रहित चेतन मूर्ति प्यारी, हो प्राप्त शीघ्र उनको भव-दुःखहारी।
जो भी महाश्रमण हैं निज गीत गाते, सच्चे क्षमादि दश धर्म स्वचित्त लाते ॥५५॥
सम्यक्त्व-लाभ वह है किस काम आता, है कर्म का उदय ही यदि पाप लाता।
तो हाय! मुक्ति-ललना किसको वरेगी, वो सम्पदा अतुलनीय किसे मिलेगी ॥५६॥

निजीयं ननु नरायं श्रयन्तु मुनयो जडमयं न रायम्।
चेन्न ते किंन्नरा वा नरा यं वाञ्छन्ति न विज्ञा नरायम् ॥५७॥

अन्वयार्थ–(ननु) निश्चय से **(मुनयः)** मुनिजन **(निजीयं)** आत्मा सम्बन्धी **(नरायं)** न-पूज्य, रायं-धन का, पूज्य धन का **(श्रयन्तु)** आश्रय लेवे **(जडमयं)** अचेतन **(रायं न)** धन का नहीं। **(वा)** अथवा **(चेत् न)** यदि ऐसा नहीं करें तो **(ते)** वे मुनिजन **(किन्नराः)** खोटे मनुष्य **(भवन्ति)** होते हैं **(विज्ञाः)** विवेकशील **(नराः)** मनुष्य **(यं)** यश को **(यं)** धन को **(न वाञ्छन्ति)** नहीं चाहते हैं।

भावार्थ–मुनि आत्मसम्बन्धी पूज्यधन का अवलम्बन लेवें, अचेतनधन का नहीं। यदि ऐसा नहीं करते हैं तो वे किन्नर हैं-खोटे मनुष्य हैं अथवा वानर हैं। ज्ञानी मनुष्य यश की इच्छा नहीं करते। अज्ञानी मनुष्य जड़धन का संग्रह करते हैं और उससे यश की कामना करते हैं परन्तु ज्ञानी जन ज्ञानादि गुणरूप श्रेष्ठ धन का संग्रह करते हैं और यश के प्रति निरुत्सुक होते हैं। यश उन्हें स्वयमेव प्राप्त होता है।

अत्र सुखं न वै भवे, स्वीये कथमपि कुरु रुचिं वैभवे।
माने वचसि वैभवे, मा भ्रम मुधा मुने! वै भवे ॥५८॥

अन्वयार्थ– (ऐ **मुने!)** ओ श्रमण! **(अत्र)** संसार में **(वै)** निश्चय से **(सुखं न)** सुख-शान्ति नहीं है अतः **[त्वं]** तू **(कथमपि)** किसी भी प्रकार से **(स्वीये)** निज की **(ऐ भवे)** मोक्षरूप, भव-पर्याय में **(वा)** अथवा **(वैभवे)** विभु सम्बन्धी **(माने)** ज्ञान मे **(वचसि)** सिद्धान्त में **(रुचिं)** प्रीति को **(कुरु)** कर! **(भवे)** संसार में **(मुधा)** व्यर्थ **(मा)**मत **(भ्रम)** भ्रमण कर!।

भावार्थ–हे मुने! निश्चय से इस संसार में सुख नहीं है। तू किसी तरह अपने मोक्षरूप भव में अथवा भगवत्सम्बन्धी ज्ञान और सिद्धान्त में रुचिकर, व्यर्थ ही संसार में मत भटक अथवा भव-कल्याण के विषय में भ्रम संदेह मत कर।

लेवें निजीय निधि का मुनि वे सहारा, संसार मूल जड़ वैभव को बिसारा।
ना चाहते विबुध वे यश सम्पदा को, हाँ, चाहते जड़ उसे सहते व्यथा को ॥५७॥
संसार में सुख नहीं, दुख का न पार, ले आत्म में रुचि भला-सुख हो अपार।
सिद्धान्त का मनन या कर चाव से तू, क्यों लोक में भटकता पर भाव से तू? ॥५८॥

ते यान्ति सुखं समये, समावसन्ति हि सदाधिगतसम! ये।
दुःखं हि गते समये, कार्यमपि च कृतं तदसमये ॥५९॥

अन्वयार्थ—(अधिगतसम!) सम-समदृष्टि समता, श्रेष्ठपद, अधिगत-प्राप्त करने वाले हे श्रमण! **(ये)** जो जन **(समये)** स्वात्मा में **(सदा)** सतत **(समावसन्ति)** सम्यक् रूप से ठहरते हैं, उसका ध्यान करते हैं **(हि)** निश्चय से **(ते)** वे सभी श्रेष्ठ साधक **(सुखं)** आत्मसुख को **(यान्ति)** प्राप्त करते हैं। **(हि)** क्योंकि **(समये गते)** समय के बीत जाने पर **(दुःखं)** कष्ट ही प्राप्त करते हैं। **(असमये)** अकाल में, अथवा सिद्धान्त के बिना **(कृतं)** किया गया **(तत् कार्यं)** वह कार्य **(अपि)** भी **(दुःखं)** दुख रूप होता है।

भावार्थ—हे अधिगतसम! हे श्रेष्ठ पदार्थों को प्राप्त करने वाले श्रमण! जो मुनि सदा समय-शुद्धात्मा में वास करते हैं, उसका ध्यान करते हैं वे निश्चय से सुख को प्राप्त होते हैं। क्योंकि समय-सिद्धान्त अथवा योग्यकाल के निकल जाने पर दुःख होता है, इसके सिवाय जो कार्य असमय-अयोग्यकाल में किया जाता है वह भी दुःख रूप होता है।

स्वं सुदृशाऽमागच्छ,-ममितगुणानां सदा समागच्छ।
मा कमपि च मागच्छ, वदात्रेति शीघ्रमागच्छ ॥६०॥

अन्वयार्थ—हे मुने! **[त्वं]** आप **(अमितगुणानां)** अपरिमित गुणों के **(गच्छं)** समूह को व **(स्वं)** निजस्वरूप को **(सुदृशा अमा)** सम्यग्दर्शन के साथ **(सदा)** नित्य **(समागच्छ)** सम्यक् रूप से, आगच्छ-प्राप्त करो **(अत्र)** निज स्वरूप में **(शीघ्रम् आगच्छ)** शीघ्र आओ **[तत्र]** आत्महित से भिन्न अन्य जगह **(मा)** मत **(गच्छ)** जाओ **(इति)** ऐसा **(कमपि)** किसी को भी **(मा)** मत **(वद)** कहो। आत्मचिन्तन में ये सभी विकल्प बाधक हैं।

भावार्थ—हे मुने! अपरिमित गुणों के समूह स्वरूप स्वशुद्धात्मा को सम्यग्दर्शन के साथ प्राप्त करो। ''तुम यहाँ आओ, वहाँ मत जाओ'' ऐसा किसी से मत कहो।

जो भी रहे समय में रत, मौन धारे, पाते अलौकिक सही सुख शीघ्र सारे।
वो विज्ञ ना समय का, वह कष्ट पाता, पीड़ार्त हो, समय है जब बीत जाता ॥५९॥
आत्मा अनन्त-गुण-धाम सदैव जानो, सम्यक्त्व प्राप्त करके निज को पिछानो।
जाओ वहाँ इधर या तुम शीघ्र आओ, आदेश ईदृश नहीं पर को सुनाओ ॥६०॥

खविषयो यो नागतः, समादृतश्च येन गतोऽनागतः।
सत्यं यश्च नागतः, किं बिभेति यते! स नागतः ॥६१॥

अन्वयार्थ– (यते!) हे मुने! **(यः)** जो **(आगतः)** वर्तमान में प्राप्त है **(गतः)** पहले प्राप्त थे **(अनागतः)** आगे प्राप्त होंगे ऐसे त्रिकाल सम्बन्धी **(खविषयः)** ख-इन्द्रिय संबंधी, विषय-भोग्य पदार्थ **(येन च)** जिस साधु के द्वारा **(समादृतः न)** आदर को प्राप्त नहीं हुए हैं **(यः च)** और जो **(ना)** मनुष्य **(सत्यं)** यथार्थ सत्य को **(गतः)** प्राप्त है **(सः)** वह **(किं)** क्या **(नागतः)** सर्प से **(बिभेति)** डरता है? नहीं डरता।

भावार्थ–हे मुने! जो वर्तमान में प्राप्त हैं, पहले प्राप्त थे और आगे प्राप्त होंगे-ऐसे तीन काल सम्बन्धी इन्द्रियविषय जिसके द्वारा आदर को प्राप्त नहीं हुए है। साथ ही, जो मनुष्य सत्य-यथार्थवस्तुस्वरूप को जान चुका है, वह क्या नाग-सर्प से भयभीत होगा? अर्थात् नहीं।

ते मुनिजनका नत्वा, स्वरसं कलयन्ति कजनका न! त्वा।
जनाः (नराः) पयः किं न त्वाऽऽस्वाद्यं पक्वपौंडकानत्त्वा ॥६२॥

अन्वयार्थ– (न!) हे जिन! **(ते)** वे **(मुनिजनकाः)** मुनिजन **(कजनकाः)** क-सुख को, जनका-उत्पन्न करने वाले हैं **[ये]** जो **(त्वा)** आपको **(नत्वा)** नमस्कार करके **(स्वरसं)** स्व-शुद्धात्मा के, रस-अनुभव आनन्द को **(कलयन्ति)** प्राप्त करते हैं। उदाहरण-जैसे कि **(जनाः)** मनुष्य **(पक्वपौण्डकान्)** पके गन्नों को **(अत्त्वा)** खाकर, चूसकर **(आस्वाद्यं)** स्वादिष्ट **(पयः)** दुग्ध को **(किं)** क्या **(न)** नहीं **(कलयन्ति)** ग्रहण करते है? अपितु दुग्ध का पान करते हैं।

भावार्थ–हे जिनदेव! वे मुनिजन सुख के जनक हैं, जो आपको नमस्कार करके आत्मरस-आत्मानुभव को प्राप्त होते हैं। पका हुआ गन्ना खाकर क्या मनुष्य मधुर दूध को ग्रहण नहीं करते!।

तु शब्द पादपूर्ति के लिए प्रयुक्त है। स्वार्थ में क प्रत्यय जुड़कर मुनिजन से मुनिजनक बना है। मुनिजन ही मुनि-जनक है।

भोगे हुए विषय को मन में न लाता, औ प्राप्त को पकड़ना न जिसे सुहाता।
कांक्षा नहीं उस अनागत की करेगा, वो सत्य पाकर कभी अहि से डरेगा?॥६१॥
हे वीर देव! तुमको नमते मुमुक्षु, पीते तभी स्वरस को सब सन्त भिक्षु।
क्यों बीच में मनुज तेज कचौड़ि खाते? पश्चात् अवश्य फलतः हलुवा उड़ाते॥६२॥

जिनपदपद्मयमस्य, नुमञ्चति स यश्चादरं यमस्य।
वाणीरितीयमस्य, सन्मतेश्च गुरोर्जितयमस्य ॥६३॥

अन्वयार्थ– **(यः)** जो **(जिनपदपद्मयमस्य)** जिनेन्द्र भगवान् के चरण कमल युगल की **(नुं)** स्तुति को **(अञ्चति)** करता है **(सः)** वह **(यमस्य)** महाव्रतरूप चारित्र के **(आदरं)** आदर को प्राप्त करता है **(इति)** इस प्रकार **(सन्मतेः)** अन्तिम तीर्थंकर वर्द्धमान स्वामी की **(गुरोः)** गणधर परमेष्ठी गुरु की **(अस्य)** इस स्तुतिकर्ता मुनि की **(च)** और **(जितयमस्य)** यम-मृत्यु को जीतने वाले तीर्थंकरों की **(इयं)** यह वाणी है।

भावार्थ—जो जिनेन्द्रदेव के चरणकमलयुगल की स्तुति को प्राप्त होता है वह चारित्र के आदर को प्राप्त होता है, ऐसी महावीर तथा मृत्युजयी गुरु की वाणी है।

योऽत्ति न सदाहारं रत्नत्रयं च कलयति न सदा हारम्।
गतमानसदाहाऽरं तमेतु स त्रासदं हा! रम् ॥६४॥

अन्वयार्थ– **(यः)** जो **(सत्)** निर्दोष **(आहारं)** भोजन को **(न अत्ति)** भक्षण नहीं करता है, ग्रहण नहीं करता है **(च)** और **(रत्नत्रयं)** रत्नत्रय स्वरूप **(हारं)** कण्ठसूत्र को **(सदा)** सतत **(न कलयति)** धारण नहीं करता **(सः)** वह अज्ञानी मनुष्य **(हे गतमानसदाह!)** हृदय की दाह से रहित हे जिन! **(त्रासदं)** दुख प्रदान करने वाले **(तं)** उस प्रसिद्ध **(रं)** काम रूपी अग्नि को **(अरं)** शीघ्र **(एतु)** प्राप्त करता है, **(हा!)** खेद है।

भावार्थ—हे कामाग्नि सम्बन्धी मानसिक दाह से रहित मुने! जो मनुष्य शुद्ध सात्त्विक आहार को ग्रहण नहीं करता और न सदा रत्नत्रयरूपी हार को धारण करता है। वह, खेद है दुःखदायक कामाग्नि को शीघ्र ही प्राप्त करता है।

चारित्र का नित समादर जो करेंगे, वे ही जिनेन्द्र-पद की स्तुति को करेंगे!
ऐसा सदैव कहती प्रभु भारती है, नौका-समान भव पार उतारती है ॥६३॥
आहार जो न करते समयानुसार, औ धारते न रतनत्रय-रूप हार।
रागाग्नि से सतत वे जलते रहेंगे, संसार वारिधि महा फिर क्यों तिरेंगे ॥६४॥

सुखिनः सुखे सखे न, मरुत्सखाः खेचरोऽयुतः सखेन।
नरो जिनदास! खे न, ह्यार्त्तस्ततः स्वे वस खे न॥६५॥

अन्वयार्थ– (सखे!) हे मित्र! **(जिनदास!)** हे जिनभक्त भव्य! **(मरुत्सखाः)** मरुत्–वायु के, सखा–मित्र=इन्द्रदेव **(सुखे)** स्वर्ग में **(सुखिनः न)** सुखी नहीं है **(सः)** वह प्रसिद्ध **(खेचरः)** विद्याधर मनुष्य **(खेन)** सुख से **(अयुतः)** रहित हैं **(नरः)** मनुष्य **(खेन)** वेदना–पीड़ा से **(आर्त्तः)** दुखी हैं **(ततः)** इसलिए हे आत्मन्! **(स्वे)** शुद्धात्मा में–स्वयं में **(वस)** रह! **(खे)** इन्द्रियों में अथवा आकाश में **(न वस)** नहीं बस।

भावार्थ–हे मित्र! जिनदास! इन्द्र स्वर्ग में सुखी नहीं है, वह खेचर–विद्याधर सुख से रहित है और मनुष्य वेदना से पीड़ित है। अतः तू अपने आप में–शुद्धात्मस्वरूप में निवास कर, इन्द्रियों में नहीं।

तप्त! मनोभववसुना, भव्य चिदनुभवसवेन भव वसुना।
तृप्तोऽलं भववसुना, स्यात्- सुखीत्वा विद्भववसु ना ॥६६॥

अन्वयार्थ–(मनोभववसुनातप्त!) मनोभव–मन से उत्पन्न कामरूपी, वसुना–अग्नि से तप्त हे भव्य! तू **(चिदनुभवसवेन)** चित्–चेतना के अनुभवरूपी, सव–जल **(वसुना)** धन से **(तृप्तः भव)** तृप्त होओ **(भववसुना)** संसार के धन से **(अलं)** दूर होओ क्योंकि **(ना)**भव्यपुरुष **(विद्भववसु)** वित्–ज्ञान से, भव–उत्पन्न, वसु–धन को **(ईत्वा)** प्राप्त कर **(सुखी स्यात्)** सुखी होता है।

भावार्थ–हे! कामाग्नि से संतप्त भव्य! तू आत्मानुभवरूप जल से संतुष्ट होजा संसार के धन से वाज आओ। क्योंकि मनुष्य आत्मोत्थ धन को पाकर सुखी हो सकता है।

देखो सखे! अमर लोग सुखी न सारे, वे भी दुखी सतत, खेचर जो विचारे।
दुःखार्त्त हि दिख रहे नर मेदिनी में, शुद्धात्म में रम अतः, मत रागिनी में ॥६५॥
कामाग्नि से परम तप्त हुआ सदा से, तू आत्म को कर सुतृप्त स्व की सुधा से।
कोई प्रयोजन नहीं जड़ सम्पदा से, पा बोध हो नर! सुखी अति शीघ्रता से ॥६६॥

जडजेन माऽक्षरेण, कुरु किन्तु सम्बन्धममाऽक्षरेण।
कलयतु विना क्षरेण, न दवेन कुस्तप्ताऽक्षरेण ॥६७॥

अन्वयार्थ– (जडजेन) पौद्गलिक **(अक्षरेण)** द्रव्यश्रुतरूप अक्षर से **(सम्बन्धं)** संबंध को **(मा कुरु)** मत करो किन्तु **[हे अक्ष!]** हे आत्मन्! **(अक्षरेण अमा)** अक्षर-अविनाशी ब्रह्मस्वरूप आत्मरूप, अक्षर के साथ **(सम्बन्धं कुरु)** सम्बन्ध करो। **(रेण)** तीक्ष्ण **(दवेन)** वन की अग्नि से **(तप्ता)** तप्त-तपी हुयी **(कुः)** धरती **(क्षरेण विना)** जल अथवा मेघ के बिना **(न कलयतु)** शान्त नहीं होती है।

भावार्थ–हे आत्मन्! पौद्गलिक अक्षररूप द्रव्यश्रुत से सम्बन्ध मत करो, किन्तु अक्षरब्रह्मरूप आत्मा से सम्बन्ध करो अर्थात् भावश्रुत से सम्बन्ध जोड़ो क्योंकि तीक्ष्ण दावानल से संतप्तभूमि जल अथवा मेघ के बिना शान्ति को प्राप्त नहीं हो सकती।

क्षर, नीर और मेघ एकार्थक हैं। अक्षर यह शब्द अविनाशी आत्मा का और शब्द का भी वाचक है।

असावभावो भावः, पर्यायस्य न भावस्य च भावः।
त्रैकालिकस्तु भावः, परमेष्ठिमतस्येति भावः ॥६८॥

अन्वयार्थ– (असौ) यह **(भावः)** उत्पाद **(च)** और **(अभावः)** व्यय **(पर्यायस्य)** पर्याय के हैं **(भावस्य)** द्रव्य का **(भावः)** उत्पाद **(च)** और **(अभावः)** विनाश **(न)** नहीं होता है। **(भावः तु)** द्रव्य तो **(त्रैकालिकः)** त्रिकालवर्ती नित्य हैं **(इति)** इस तरह यह **(परमेष्ठिमतस्य)** अर्हत् परमेष्ठी के मत का **(भावः)** अभिप्राय है।

भावार्थ–यह उत्पाद और व्यय पर्याय का है, द्रव्य का नहीं। भाव-द्रव्य तो त्रैकालिक है-नित्य है, यह जैनमत का भाव-आशय है।

सम्बन्ध द्रव्य श्रुत से नहिं मात्र रक्खो, रक्खो स्वभाव श्रुत से, निज स्वाद चक्खो।
है मेदिनी तप गई रवि ताप से जो, क्यों शांत हो जल बिना जल नाम से वो ॥६७॥
''पर्याय वो जनमती मिटती रही है, त्रैकालिकी यह पदार्थ, यही सही है।''
श्री वीर देव जिन की यह मान्यता है, पूजूँ उसे विनय से यह साधुता है ॥६८॥

यत्र रागाय वीचि,र्मरीचेश्चेतसि चेन्मदो-वीचिः।
तत्र न चकास्तु वीचिः, किं न स दुःखपूर्णोऽवीचिः॥६९॥

अन्वयार्थ– **(मरीचेः)** मुनि के **(यत्र चेतसि)** जहाँ हृदय में **(रागाय)** राग के लिए **(वीचिः)** अवकाश-स्थान है और **(वीचि)** स्वल्प तथा **(वीचि)** तरंगरूप **(मदः)** अहंकार **[चेत् स्याताम्]** यदि है तो **(तत्र)** वहाँ **(वीचिः)** सुख **(न चकास्तु)** शोभित नहीं हो सकता है। **(सः)** वह मुनि **(किं)** क्या **(दुःखपूर्णः)** दुखों से भरा-संकटों से पूर्ण **(अवीचिः)** नरक **(न)** नहीं है? नरक ही है।

वीचि–अवकाश, स्वल्प, तरंग, सुख। अवीचि–नरक। मरीचि–मुनि।

भावार्थ–मुनि के जिस हृदय में राग के लिए अवकाश है तथा अल्प अथवा संततिबद्ध अभिमान है, उसमें सुख सुशोभित नहीं हो सकता। ऐसा मुनि क्या दुःखों से भरा हुआ नरक नहीं है? अर्थात् नरक ही है।

यो भुवि मुनिलिङ्गमितस्तेनाप्यत इति को जिनवागमितः।
येन मदोन्तंगमितश्चात्मा ह्यविनश्वरो गमितः ॥७०॥

अन्वयार्थ– **(यः)** जो जन **(मुनिलिङ्गं)** निर्ग्रन्थ दिगम्बर वेष को **(इतः)** प्राप्त हुआ है **(येन)** जिसके द्वारा **(मदः)** अभिमान **(अन्तं)** अन्त को **(गमितः)** प्राप्त कराया गया है अर्थात् जिसने मद को नष्ट कर दिया है **(येन)** जिसके द्वारा **(अविनश्वरः)** अविनाशी **(आत्मा च)** आत्मा भी **(गमितः)** जाना गया है **(तेन)** उसके द्वारा **(अमितः)** अपरिमित **(कः)** आत्मसुख **(आप्यते)** प्राप्त किया गया है **(इति)** ऐसा **(जिनवाक्)** जिनेन्द्र वचन है।

भावार्थ–पृथ्वी पर जो मुनिलिंग-निर्ग्रन्थवेष को प्राप्त हुआ है, जिसने अभिमान को नष्ट किया है और जिसने अविनाशी आत्मा को जान लिया है, उसके द्वारा अपरिमित सुख प्राप्त किया जाता है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान् का वचन है।

संमोह राग मद है यदि भासमान, या विद्यमान मुनि के मन में ऽभिमान।
आनन्द हो न उस जीवन में कदापि, हा! हा! वही नरक कुण्ड बना ऽतिपापी॥६९॥
श्रद्धाभिभूत जिसने मुनि लिंग धारा, कंदर्प को सहज से फिर मार डारा।
अत्यन्त शान्त निज को उसने निहारा, औ अन्त में बल ज्वलन्त अनन्त धारा॥७०॥

तदस्त्यसुमतामहित,-मकं ततो दूरीभव त्वमहितः।
यो प्राणिग्रामहितः, स वदतीति मुनिसमितिमहितः॥७१॥

अन्वयार्थ— (तत्) वह प्रसिद्ध **(अकं)** पाप **(असुमतां)** असु-प्राण, मतां-वाले, प्राणियों का **(अहितं)** अहित करने वाला **(अस्ति)** है अतः **(ततः)** उस पापरूपी **(अहितः)** सर्प से **(त्वं)** तुम **(दूरीभव)** दूर होओ **(इति)** ऐसा **(यः)** जो **(मुनिसमितिमहितः)** यति समिति-समूह से, महित-पूजित हैं **(प्राणिग्रामहितः)** प्राणी-जीव ग्राम-समूह का, हितः- हित करने वाले हैं ऐसे **(सः)** वे अरहंत देव **(कथयति)** कहते हैं।

भावार्थ—'वह पाप प्राणियों का अहितकारी-शत्रु है-सर्परूप उस पाप से तू दूर रह, ऐसा मुनियों के समूह से पूजित और प्राणिसमूह के लिए हितकारी जिनेन्द्र कहते हैं।

स मुदमेति वासन्तः, समुत्सवो वने यदा वासन्तः।
नेत्वा निजवासन्त, आशु शं शिष्या वा सन्तः ॥ ७२॥

अन्वयार्थ—(यदा) जिस समय **(वासन्तः)** वसन्त ऋतु का **(समुत्सवः)** उत्सव **(वने)** वन में **(एति)** आता है **(तदा)** उस समय **(सः)** प्रसिद्ध **(वासन्तः)** कोकिल **(मुदं)** हर्ष को **(एति)** प्राप्त होती है। **(न!)** हे जिनेन्द्र! **[ते]** आपके **(शिष्याः)** गणधर परमेष्ठी **(वा)** अथवा **(सन्तः)** कोई भी मुनिजन **(निजवासं)** स्वात्म में रहने स्वरूप **(शं)** सुख को **(ईत्वा)** प्राप्त कर **(आशु)** शीघ्र **[मुदं यान्ति]** हर्ष को प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—जब वन में वसन्त का उत्सव आता है, तब कोयल हर्ष को प्राप्त होती है। इसी तरह हे जिन! आपके शिष्य और सत्पुरुष आत्मस्थ-आत्मसम्बन्धी सुख को प्राप्त कर मोद को प्राप्त होते हैं।

''रे! पाप ही अहित है, रिपु है तुम्हारा, काला कराल अहि है, दुख दे अपारा।
हो दूर शीघ्र उससे, तब शान्ति धारा,'' ऐसा कहें जिनप जो जग का सहारा ॥७१॥
ले रम्य दृश्य ऋतुराज वसन्त आता, ज्यों देख कोकिल उसे मन मोद पाता।
हे वीर! त्यों तव सुशिष्य खुशी मनाता, शुद्धात्म को निरख औ दुख भूल जाता॥७२॥

कुधीः सुखी नाके न, ततो युतो भव केन नो नाऽकेन।
दुःखिनो विना के न, दृशा किं नरकेण नाकेन॥७३॥

अन्वयार्थ– (हे नः!) हे मानव! **(नाके)** स्वर्ग में **(कुधीः)** मिथ्यादृष्टि जीव **(सुखी न)** सुखी नहीं होते उस कारण से **[त्वं]** तू **(केन)** सुख से अथवा आत्मा से **(युतः)** युक्त **(भव)** हो **[अतः]** इसलिए **(नरकेण)** नरक से **[स्वर्गेण च]** और स्वर्ग से **(किं)** क्या प्रयोजन है? **(दृशा विना)** सम्यग्दर्शन के बिना **(के)** कौन प्राणी चारों गतियों में **(दुखिनः न)** दुखी नहीं हैं? अवश्य दुखी हैं। सम्यग्दर्शन से ही मोक्ष सुख की पहचान होती है, मार्ग की पहचान के बाद जीव मार्ग पर चल पड़ता है फिर शाश्वत सुख पाने में देर नहीं होती है।

नाक शब्द का अर्थ–क=सुख, न क=अक। अक=दुख। न+अक=नाक=स्वर्ग।

भावार्थ–हे मनुज! स्वर्ग में अज्ञानी-मिथ्यादृष्टि जीव सुखी नहीं है। अतः, तू क-आत्मा से युक्त हो अक-पाप से युक्त मत हो। इसलिए नरक और स्वर्ग से क्या ? सम्यग्दर्शन के बिना कौन मनुष्य दुःखी नहीं है? सभी दुःखी हैं।

प्रतापी ह्यपि रोहितः, पवनपथि यथा पयोदतिरोहितः।
आत्माप्याह रोहितः, कर्मरजसेति नृवरो हितः॥७४॥

अन्वयार्थ– (पवनपथि) आकाश में **(प्रतापी)** तपनशील होकर भी **(रोहितः)** सूर्य **(यथा)** जैसे **(पयोदतिरोहितः)** पयोद–मेघों से, तिरोहित–आच्छादित होता है **[तथैव]** वैसे ही **(रोहितः)** सूर्य स्वरूप **(आत्मा अपि)** आत्मा भी **(कर्मरजसा)** कर्मरूपी धूलि से तिरोहित हो रहा है, छिप रहा है **(इति)** ऐसा **(हितः)** हितकारी वचन **(नृवरः)** नरोत्तम जिनेन्द्र ने **(आह)** कहा है।

भावार्थ–जिस प्रकार आकाश में प्रतापी होने पर भी सूर्य मेघों से छिप जाता है उसी प्रकार सूर्यरूपी आत्मा भी कर्मरूपी धूलि से तिरोहित हो रहा है–छिप रहा है, ऐसा कल्याणकारी वचन नरोत्तम–जिनदेव ने कहा है।

होता कुधी, वह सुखी दिवि में नहीं है, तू आत्म में रह, अतः सुख तो वही है।
क्या नाक से, नरक से? इक सार माया, सम्यक्त्व के बिन सदा! दुख ही उठाया॥७३॥
ज्योत्स्ना लिए तपन यद्यपि है प्रतापी, छा जाय बादल, तिरोहित हो तथापि।
आत्मा अनन्त द्युति लेकर जी रहा है, हो कर्म से अवश कुन्दित हो रहा है ॥७४॥

नो सुखं सदाशातो, जन्माप्राक्तो रवेः कदाऽऽशातः?
तथापि निजदाशातो, दूरोऽतो ऽज्ञः सदाऽशातः ॥७५॥

अन्वयार्थ—(आशातः) तृष्णा से **(सत्सुखं)** समीचीन-शाश्वत सुख **(न)** नहीं होता **(अप्राक्तः)** पूर्व दिशा के अतिरिक्त पश्चिम आदि दिशा से **(कदा)** क्या कभी **(रवेः)** सूर्य का **(जन्म)** जन्म **[भवति]** होता है? नहीं। **(तथापि)** तो भी **(अज्ञः)** अज्ञानी प्राणी **(निजदाशातः)** निजस्वभाव को दा-देने वाली, आशा-दिशा से अथवा निजस्वभाव की दशा से **(दूरः)** दूर **[वसति]** रहता है। **(अतः)** इसलिए **(सदाशातः)** सदा-सदा, अशात-शात-सुख से, अ-रहित, अशात=दुखी होता है।

भावार्थ—आशा-तृष्णा से समीचीन सुख नहीं होता। पश्चिमादि दिशा से सूर्य का उदय कब होता है? फिर भी अज्ञानी मनुष्य निज दशा से दूर रहता है इसीलिए वह सदा सुखरहित अर्थात् दुःखी रहता है।

स्वे वस मुदाऽमा यते!,निजानुभवं कुरु चिन्तां माऽऽयतेः।
नास्तु हीहामाय ते, श्रयमुरसि भयमेहि माऽऽयतेः॥७६॥

अन्वयार्थ—(यते!) हे मुने! **[त्वं]** तू **(मुदा अमा)** आनंद के साथ **(स्वे)** आत्मा में **(वस)** रह, **(निजानुभवं)** निज के शुद्ध स्वभाव का अनुभव **(कुरु)** कर, **(आयतेः)** भविष्य की **(चिन्तां)** चिन्ता को **(मा कुरु)** मत कर, **(आयतेः)** मृत्यु के **(भयं)** भय को **(मा एहि)** मत प्राप्त हो **(ते)** तेरे **(उरसि)** हृदय में **(ईहामाय)** ईहा-इच्छारूपी, अमाय-रोग के लिए **(श्रयं)** आश्रय **(न अस्तु)** नहीं हो।

भावार्थ—हे श्रमण! हर्ष के साथ अपने आत्मस्वरूप में निवास करो। निज का अनुभव करो। भविष्य की चिन्ता मत करो, मृत्यु के भय को प्राप्त मत होओ-मृत्यु से डरो नहीं और तब तो तुम्हारे हृदय में इच्छारूपी रोग के लिए स्थान ही नहीं रहेगा।

कैसे मिले? नहिं मिले सुख माँगने से, कैसे उगे अरुण पश्चिम की दिशा से?
तो भी सुदूर वह मूढ़ निजी दशा से, होता अशान्त अति पीड़ित हो तृषा से ॥७५॥
लिप्सा कभी विषय की मन में न लाओ, चारित्र धारण करो, पर में न जाओ।
चिन्ता कदापि न अनागत की करोगे, विश्राम स्वीय घर में चिरकाल लोगे॥७६॥

क्षारतः संसारतः, पारावारतो दुःखमसारतः।
निजे भवाञ्जसारतः, सुखं सत् स्यात् स्वतः सारतः॥७७॥

अन्वयार्थ—(असारतः) सार रहित **(क्षारतः)** खारे **(पारावारतः)** सागर स्वरूप **(संसारतः)** पंच परिवर्तनरूप संसार से **(दुःखं)** दुःख **[हि]** ही है **[अतः]** इसलिए तू **(अञ्जसा)** शीघ्र **(निजे)** निजस्वभाव में **(रतः भव)** लीन हो **(सारतः)** सारभूत **(स्वतः)** निजात्मा से **(सत्सुखं)** शाश्वत सुख **(स्यात्)** प्राप्त होगा।

भावार्थ—सारहीन, खारे, सागरस्वरूप संसार से दुःख ही प्राप्त होता है। इसलिए निजस्वरूप में यथार्थतः लीन हो, सारभूत निज आत्मा से सच्चा सुख होता है।

न हि कैवल्यसाधनं, केवलं यथाजात-प्रसाधनम्।
चेन् न, पशुरपि साधनं, व्रजेदव्ययमञ्जसा धनम्॥७८॥

अन्वयार्थ—(केवलं) मात्र **(यथाजातप्रसाधनं)** यथाजात-बालक के समान दिगम्बर, प्रसाधनं-वेष ही **(कैवल्य साधनं)** मोक्ष का साधन **(न हि)** नहीं है **(न चेत्)** यदि ऐसा नहीं हो तो **(पशुः अपि)** नग्न पशु भी **(अञ्जसा)** वास्तव में **(अव्ययं)** मोक्ष के **(साधनं)** साधन स्वरूप **(धनं)** धन को **(व्रजेत्)** प्राप्त हो जावें।

भावार्थ—मात्र नग्नवेष ही मोक्ष का उपाय नहीं है। यदि ऐसा न हो तो पशु भी यथार्थ में अविनश्वर गति-मोक्षरूपी धन को प्राप्त हों, पर ऐसा नहीं है। अतः मोक्ष का साक्षात् कारण रत्नत्रय की पूर्णता है और वह पूर्णता निर्ग्रन्थ दिगम्बर वेष में ही होती है।

संसार सागर असार अपार खारा, है दुःख ही, सुख जहाँ न मिले लगारा।
तो आत्म में रत रहो, सुख चाहते जो, है सौख्य तो सहज में, नहिं जानते हो?॥७७॥
''कैवल्य-साधन न केवल नग्न-भेष,'' त्रैलोक्य वन्द्य इस भाँति कहें जिनेश।
इत्थम् न हो, पशु दिगम्बर क्या न होते? होते सुखी? दुखित क्यों दिन रात रोते?॥७८॥

स्वीयतो भुवि भावतः, शिवं भवेद् भववृद्धिर्विभावतः।
विरतो भव विभावत इति वाग्घि विवेकविभावतः॥७९॥

अन्वयार्थ–(स्वीयतः) रागादि भाव रहित निज के शुद्ध **(भावतः)** परिणाम से **(भुवि)** कर्मभूमि में **(शिवं)** मोक्ष **(भवेत्)** होता है **(विभावतः)** रागादि विभाव भावों से **(भववृद्धिः)** संसार की वृद्धि होती है। **(अतः)** इसलिए **(विभौ)** वीतराग देव में अथवा विभु स्वरूप निजात्मा में **(विरतः)** विशेष रूप से रत–लीन **(भव)** होओ, **(इति)** ऐसी **(हि)** ही **(विवेकविभावतः)** विवेक–ज्ञान की, विभा–प्रभा, वतः–वाले भगवान की अर्थात् केवलज्ञानी की **(वाक्)** वाणी है।

भावार्थ–''स्वकीय स्वभाव'' से पृथ्वी पर शिव–कल्याण अथवा मोक्ष होता है और विभाव–रागादि परिणाम से संसार की वृद्धि होती है। अतः हे श्रमण! तू वीतराग सर्वज्ञ प्रभु में विलीन हो जा ऐसी केवलज्ञान की प्रभा से युक्त जिनेन्द्र की वाणी है।

चरणमुकुटः शिरसि त, आभवतो न सुदृगसितमणिरसितः।
धृतोऽतो यो न रसित,-गोचरः कोऽसौ शुचिरसितः ॥८०॥

अन्वयार्थ–हे अर्हन्! **(आभवतः)** अनादिकाल से आज तक **[मया]** मैंने **(ते)** आपके द्वारा कथित अथवा आपका **(सुदृगसितमणिरसितः)** सुदृग्–सम्यग्दर्शनरूपी, असित–नीलमणि से, रसित–खचित, जड़ा हुआ **(चरणमुकुटः)** चारित्ररूपी मुकुट **(शिरसि)** शिर पर **(न धृतः)** नहीं धारण किया है **(अतः)** इसलिए **(यः)** जो **(रसितगोचरः)** रसित–रसना का–शब्दों का, गोचर–विषय **(न)** नहीं है ऐसा **(असौ)** यह **(शुचिः)** पवित्र **(कः)** आत्मा **(असितः)** अज्ञात रहा है।

भावार्थ–हे भगवन्! मैंने अनादि संसार से आज तक सम्यक्त्वरूपी नीलमणि से खचित आपका चारित्ररूपी मुकुट अपने मस्तक पर नहीं चढ़ाया, इसीलिए जो शब्द का विषय नहीं वह निर्मल आत्मा मेरे लिए अज्ञात रही।

''संसार की सतत वृद्धि विभाव से है, तो मोक्ष सम्भव स्वतन्त्र स्वभाव से है।
हो जा अतः अभय, हो विभु में विलीन,'' हैं केवली-वचन ये–''बन जा प्रवीण''॥७९॥
सम्यक्त्व नीलम गया जिसमें जड़ाया, चारित्र का मुकुट ना सिर पै चढ़ाया।
तूने तभी परम आतम को न पाया, पाया अनन्त दुख ही, सुख को न पाया॥८०॥

यस्त्रियोगैरञ्जनं, रागमयं विहाय जगद्-रञ्जनम्।
भजति जिनं निरञ्जनं, तमेति मुक्तिः साऽरं जनम्॥८१॥

अन्वयार्थ– **(यः)** जो भव्य जीव **(त्रियोगैः)** मन वचन काय रूप योगों से **(रागमयं)** रागरूप **(अञ्जनं)** काजल को **(विहाय)** त्यागकर **(जगत्)** जगत् को **(रञ्जनं)** आनंद देने वाले **(निरञ्जनं)** कर्म कालिमा से रहित **(जिनं)** जिनदेव को **(भजति)** पूजता है, जिनदेव की सेवा करता है **(तं जनं)** उस मनुष्य को **(सा)** वह प्रसिद्ध **(मुक्तिः)** मोक्षलक्ष्मी **(अरं)** शीघ्र **(एति)** प्राप्त होती है।

भावार्थ—जो मन-वचन-काय से रागरूप काजल को छोड़कर जगत् को आनन्द देने वाले, कर्मकालिमा से रहित जिनेन्द्र की सेवा करता है, उस पुरुष को वह मोक्षलक्ष्मी शीघ्र ही प्राप्त होती है।

त्यजेत्वा सङ्गमेन, आश्वलमनेन च दुःसङ्गमेन।
भज नमसङ्गमेन-मनात्मनि विश्वासं गमे न॥८२॥

अन्वयार्थ—हे भव्य! तुम **(सङ्गं)** परिग्रह को **(एनः)** पापरूप **(ईत्वा)** जानकर **(आशु)** शीघ्र **(त्यज)** छोड़ो **(अनेन दुःसङ्गमेन च)** और इस परिग्रह के कुसंग से **(अलं)** दूर रह **(एनं)** इन **(असङ्गं)** निर्ग्रन्थ वीतरागी **(नं)** जिनदेव को **(भज)** भजो, **(अनात्मनि)** आत्महित से भिन्न **(गमे)** कुमार्ग में **(विश्वासं)** विश्वास **(न)** नहीं **[कुरु]** करो।

भावार्थ—परिग्रह को पाप जानकर शीघ्र छोड़ो। इस परिग्रह और कुसंगति से वाज आओ, दूर रहो। इन निर्ग्रन्थ जिनेन्द्र की सेवा करो, पर-पथ में विश्वास मत करो।

जो काय से वचन से मन से सुचारे, पा बोध, राग मल धोकर शीघ्र डारे।
ध्याता निरन्तर निरंजन जैन को है, पाता वही नियम से सुख चैन को है॥८१॥
दुस्संग से प्रथम जीवन शीघ्र मोड़ो, तो संग को समझ पाप तथैव छोड़ो।
विश्वास भी कुपथ में न कदापि लाओ, शुद्धात्म को विनय से तुम शीघ्र पाओ॥८२॥

तथा जितेन्द्रियोऽङ्गतो, निस्पृहोऽभवं योगी च योगतः।
पक्वपर्णोपचयोऽगतो,यथा पतन् मा चल योगतः॥८३॥

अन्वयार्थ–[यः] जो **(जितेन्द्रियः)** जितेन्द्रिय **(योगी)** साधु **(अभवं)** भव-संसार भ्रमण के कारण रूप संसार से, अ-रहित अवस्था को **[गतः]** प्राप्त होता है-परीत संसारी होता है **(च)** और वह **(अङ्गतः)** देह से **(तथा)** उस प्रकार **(निःस्पृहः)** निस्स्पृह रहता है **(यथा)** जिस प्रकार **(अगतः)** वृक्ष से **(पतन्)** पतित हुआ **(पक्वपर्णोपचयः)** शुष्क पत्तों का समूह पृथक् होता है, **[अतः]** इसलिए हे भव्य! तू **(योगतः)** एकाग्र चिन्ता निरोधरूप ध्यान से **(मा)** मत **(चल)** विचलित हो।

भावार्थ–जो जितेन्द्रिय साधु अभव–संसाराभाव को प्राप्त हुआ है, वह शरीर से उस प्रकार निस्पृह रहता है, जिस प्रकार वृक्ष से गिरता हुआ सूखे पत्तों का समूह। अतः हे योगिन्! तू (शारीरिक उत्पात आने पर) योग से विचलित न हो। जो जितेन्द्रिय होकर शरीर से भी निस्पृह होता है वही ध्यान से विचलित नहीं होकर संसार को छेदने में समर्थ होता है।

यो धत्ते सुदृशा समं, मुनिर्वाङ्मनोभ्यां च वपुषा समम्।
विपश्यति सहसा स मं, ह्यनन्तविषयं न तृषा समम् ॥८४॥

अन्वयार्थ– (यः मुनिः) जो मुनि **(सुदृशा समं)** सम्यग्दर्शन के साथ **(वाङ्मनोभ्यां)** वचन और मन से **(च)** तथा **(वपुषा)** काय के **(समं)** साथ **(समं)** साम्य परिणाम को **(धत्ते)** धारण करता है **(सःहि)** वही **(अनन्तविषयं)** अनन्त को विषय बनाने वाले **(मं)** ज्ञानस्वरूप आत्मा को **(सहसा)** सहजता के **(समं)** साथ **(विपश्यति)** अवलोकन करता है, देखता है। **(तृषा)** तृष्णा के **(समं)** साथ **(न)** नहीं।

भावार्थ–जो मुनि सम्यग्दर्शन के साथ मन-वचन-काय से साम्यभाव को धारण करता है, निश्चय से वह अनन्त पदार्थों के ज्ञाता ब्रह्मा–आत्मा को शीघ्र ही देखने लगता है-उसका अनुभव करने लगता है, किन्तु तृष्णा के साथ नहीं।

पत्ता पका गिर गया तरु से यथा है, योगी निरीह तन से रहता तथा है।
औ ब्रह्म को हृदय में उसने बिठाया, तू क्यों उसे विनय से स्मृति में न लाया ?॥८३॥
वाणी, शरीर, मन को जिसने सुधारा, सानन्द सेवन करे समता-सुधारा।
धर्माभिभूत मुनि है वह भव्य जीव, शुद्धात्म में निरत है रहता सदीव॥८४॥

करणकुञ्जरकन्दरं, स्वरससेवन-संसेवित-कन्दरम्।
त्वा स्तुवे मेऽकंदरं, कलय गुरो! दृक्कृषिकंद! रम्॥८५॥

अन्वयार्थ– (गुरो!) हे आचार्यदेव! **(दृक्कृषिकन्द!)** दृक्–सम्यक्त्वरूपी, कृषि–खेती के लिए, कं–जल को, दा–देने वाले **(करणकुञ्जरकन्दरं)** जो करण–इन्द्रियरूपी, कुंजर–हाथी समूह को वश में करने के लिए, कन्दरं–अंकुश हैं **(स्वरससेवनसंसेवितकन्दरं)** जिन्होंने स्वरस-निजामृत, सेवन–पान करने के लिए, कन्दर–गुफाओं में, संसेवित–निवास किया है ऐसे **(त्वा स्तुवे)** आपका मैं स्तवन करता हूँ। **(मे)** मुझ स्तुति करने वाले के **(रं)** तीक्ष्ण **(अकं)** दुःख को **(दरं)** किंचित्–थोड़ा कम **(कलय)** करो।

भावार्थ–हे गुरो! हे सम्यक्त्वरूपी खेती को जल देने वाले! जो इन्द्रियरूपी हाथियों को वश करने के लिए अंकुश हैं तथा आत्मानुभव का सेवन करने के लिए जो कन्दराओं–गुफाओं में निवास करते हैं, ऐसे आपकी मैं स्तुति करता हूँ, आप मेरे तीव्र दुःख को लघु–हल्का कर दें।

स हि मुनिर्मयाऽरमितः, प्रणतिं यो क्षमारामया रमितः।
गदितमिति जिनैरमितश्चाप्यते कोऽनया नर! मितः॥८६॥

अन्वयार्थ– (यः) जो **(क्षमारामया)** क्षमारूपी रामा–रमणी के द्वारा **(रमितः)** रमण किए गये है अर्थात् जिसमें क्षमारूपी रमणी रमती है **(सःहि)** वही **(मुनिः)** मुनि **(मया)** मेरे द्वारा **(अरं)** शीघ्र **(प्रणतिं)** नमस्कार को **(इतः)** प्राप्त हुआ है अर्थात् मैंने उसे नमस्कार किया है। अतः **(नरः)** हे भव्य नर! **(अनया)** इस क्षमा के द्वारा **(अमितः)** अक्षय अनंत मोक्ष का **(कः)** सुख **(च)** और **(मितः)** स्वर्ग का दीर्घकालीन तथा विद्याधर बलदेव और तीर्थंकरों का भी सीमित काल रहने वाला सुख **(आप्यते)** प्राप्त किया जाता है **(इति)** ऐसा **(जिनैः गदितं)** जिनदेव के द्वारा कहा गया है।

भावार्थ–जो क्षमारूपी रमणी से रमा गया है-उसमें निरन्तर लीन है, वह मुनि मेरे द्वारा शीघ्र ही प्रणाम को प्राप्त होता है-मैं उसे सहसा प्रणाम करता हूँ। हे मानव! इस क्षमा से मोक्ष का अपरिमित और स्वर्गादि का परिमित सुख प्राप्त होता है, ऐसा जिनेन्द्र भगवन्तों ने कहा है।

जो साधु जीत इन इन्द्रिय-हाथियों को, आत्मार्थ जा, वन बसें तज ग्रन्थियों को।
पूजूं उन्हें सतत वे मुझको जिलावें, पानी सदा दृगमयी कृषि को पिलावें॥८५॥
मैं उत्तमाङ्ग उसके पद में नमाता, जो है क्षमा-रमणि से रमता-रमाता।
देती क्षमा अमित उत्तम सम्पदा को, भाई! अतः तज सभी जड़-संपदा को॥८६॥

ननु निश्चयो यो नयः,शिवदो न वन्द्यो न न च नयोऽनयः।
नमः पयोजयोनय, आशु नाश्यन्ते कुयोनयः॥८७॥

अन्वयार्थ– (ननु) परमार्थ से **(यः)** जो **(निश्चयः नयः)** स्वाश्रितनय अथवा वस्तु के शुद्ध स्वभाव का प्रतिपादक नय है **(सः)** वह **(शिवदः)** मोक्ष को प्रदान करने वाला **(न)** नहीं है **(च न वन्द्यः)** और न वन्दनीय भी है **(नयः)** नय **(अनयः च)** अकल्याणकारी भी **(न)** नहीं हैं। **(पयोजयोनये)** ब्रह्मस्वरूप परमात्मा के लिए **(नमः)** नमस्कार करता हूँ **(यस्मात्)** जिससे **(कुयोनयः)** कुयोनियाँ **(आशु)** शीघ्रता से **(नाश्यन्ते)** नष्ट होती हैं।

भावार्थ–परमार्थ से जो निश्चयनय है वह मोक्ष को देने वाला नहीं है इसलिए वन्दनीय भी नहीं है। तात्पर्य यह है कि निश्चयनय मात्र मोक्षपथ का प्रदर्शक है मोक्षप्रदायक नहीं, मोक्ष के लिए पुरुषार्थ आत्मा को ही करना होता है। निश्चयनय मोक्ष का देने वाला नहीं है तथा वन्दनीय भी नहीं है, इसका तात्पर्य यह नहीं है कि नय व्यर्थ है। प्रारम्भिक दशा में नय अनय नहीं है–कल्याणकारी विधि से रहित नहीं है, अतः सार्थक है। अथवा मैं नय और कुनय के पक्ष में न पड़कर पद्मयोनि-ब्रह्मस्वरूप आत्मा को नमस्कार करता हूँ, जिससे सब नरकादि कुयोनियाँ नष्ट होती हैं। पद्मयोनि यह शब्द ब्रह्मा का वाचक है।

तदाऽऽत्मा मेऽजायते, मयि यदैव सच्चेतना जायते।
त्वमतस्तां भजाऽऽयते, न भयं या स्वभावजा यते!॥८८॥

अन्वयार्थ– (यदा) जिस समय **(एव)** ही **(मयि)** मुझमें **(सच्चेतना)** रागादि रहित शुद्ध चेतना **(जायते)** उत्पन्न होती है **(तदा)** उस समय **(एव)** ही **(मे)** मेरी **(आत्मा)** निजात्मा **(अजायते)** अजरूप-जिनेन्द्र के समान आचरण करती है। **(हे यते!)** हे श्रमण! तू **(स्वभावजा)** स्वभाव से उत्पन्न **(या)** जो शुद्ध चेतना है **(तां)** उसे **(भज)** पूज **(अनुभव)** अनुभव कर **(आयतेः)** उत्तर कालीन भविष्य की **(भयं)** भीति **(न भज)** न कर।

भावार्थ–जिस समय मेरी ज्ञानपरिणति रागादिक विभावभावों से रहित होती है, उसी समय मेरी आत्मा भगवान् जैसी हो जाती है। हे श्रमण! जो स्वाभाविक सच्चेतना है, उसी की तू सेवा कर-आराधन-मनन-चिन्तन कर, भविष्य का भय न कर।

ना वन्द्य है, न नय निश्चय मोक्ष-दाता, ना है शुभाशुभ, नहीं दुख को मिटाता।
मैं तो नमूँ इसलिए मम ब्रह्म को ही, सद्यः टले दुख मिले सुख और बोधि॥८७॥
सत् चेतना हृदय में जब देख पाता, आत्मा मदीय भगवान समान भाता।
तू भी उसे भज जरा, तज चाह-दाह, क्यों व्यर्थ ही नित व्यथा सहता अथाह॥८८॥

निजस्य गतमदा नवः, समावहन्तस्तं समं दानवः।
क एति कामदा नवस्तानाह नुतयमदानवः॥८९॥

अन्वयार्थ– [ये] जो **(गतमदाः)** अभिमान से रहित हैं **(निजस्य)** अपनी शुद्धात्मा की **(नवः)** स्तुति करने वाले हैं तथा **(तं)** उस शुद्धात्मा को **(समं)** समता के साथ **(समावहन्तः)** धारण करते हैं **(दानवः)** वीर-विक्रान्त हैं **(तान्)** उन वीर मुनिराजों को **(कामदा)** काम-इच्छित मनोरथों को, दा-देने वाला **(नवः)** नया **(कः)** केवलज्ञान प्रकाश **(एति)** प्राप्त होता है **[इति]** ऐसा **(नुतयमदानवः)** यम-सुर, दानव-असुरों से, नुत-स्तुत जिनेन्द्रदेव ने **(आह)** कहा है।

भावार्थ–जो निरभिमान हो निज शुद्धात्मा की स्तुति करते हैं तथा उसी को सदा साथ धारण करते हैं, वे वीर हैं। उन वीरों को मनोरथों का पूरक नूतन प्रकाश (केवलज्ञान) प्राप्त होता है–ऐसा सुर-असुरों से स्तुत जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है।

शुचिर्विवेकदृशा न आत्मा दृश्यतेऽनया च दृशा न।
ना विना को दृशा न ते विदुरादर्श-सदृशा नः!॥९०॥

अन्वयार्थ– (नः!) अये मानव! **(विवेकदृशा)** भेदविज्ञान की दृष्टि से **(शुचिः)** पवित्र **(नः)** पूज्य **(आत्मा)** निजात्मा **(अनया)** इस चर्ममयी **(दृशा)** दृष्टि से **(न दृश्यते)** नहीं दिखायी देता है **(च)** और **(दृशा विना)** भेदविज्ञान की दृष्टि के बिना **(कः)** आत्मा और परमात्मा भी **(न आप्यते)** नहीं दिखाई देता है। **(ते)** वे प्रसिद्ध **(आदर्शसदृशाः)** दर्पण के समान निर्मल-केवलज्ञानी **(नाः)** जिनेन्द्र भगवान् **(विदुः)** जानते हैं/कहते हैं।

भावार्थ–हे मानव! पूज्य निर्मल आत्मा, भेदविज्ञानरूप दृष्टि से दिखाई देता है–अनुभव में आता है, इस चर्ममयी दृष्टि से नहीं। दृष्टि के बिना क-आत्मा, सूर्य, प्रकाशादि प्राप्त नहीं होते–ऐसा दर्पण के समान वे जिनराज जानते हैं।

''गम्भीर-धीर यति जो मद ना धरेंगे, औ भाव-पूर्ण स्तुति भी निज की करेंगे।
वे शीघ्र मुक्ति ललना वर के रहेंगे,'' ऐसा जिनेश कहते–'सुख को गहेंगे'॥८९॥
आत्मावलोकन कदापि न नेत्र से हो, पूरा भरा परम पावन बोधि से जो।
आदर्श-रूप अरहन्त हमें बताते, कोई कभी दृग बिना सुख को न पाते॥९०॥

दृशा विना चरणस्य, भारं वहता च मदं च चरणस्य।
नुमञ्चताऽऽचरणस्य, नाप्तिर्नुतनृनभश्चर! णस्य ॥९१॥

अन्वयार्थ– (नुतनृनभश्चर!) हे नृ–मनुष्यों से, नभश्चर–विद्याधरों से, नुत–स्तुत जिनदेव! **(दृशा विना)** सम्यग्दर्शन के बिना **(चरणस्य)** चारित्र के **(भारं)** भार को **(वहता)** ढोने–धारण करने वाले मनुष्य के द्वारा **(च)** और **(चरणस्य)** चारित्र के **(मदं)** मद को **(वहता)** धारण करने वाले मनुष्य के द्वारा तथा स्वयं के **(आचरणस्य)** आचरण की **(नुं)** प्रशंसा–स्तुति को **(अञ्चिता)** प्राप्त करने वाले पुरुष के द्वारा **(णस्य)** सम्यग्ज्ञान की **(न आप्तिः)** प्राप्ति नहीं है।

भावार्थ–हे! मनुष्य एवं विद्याधरों से स्तुत जिनदेव! जो सम्यग्दर्शन के बिना चारित्र का भार ढोता है, उस चारित्र से अपने उच्चगोत्र का गर्व करता है और स्वकीय आचरण की स्तुति–प्रशंसा करता है, वह मनुष्य निर्णय अथवा ज्ञान को प्राप्त नहीं होता। यहाँ कर्मवाच्य का प्रयोग है।

सङ्गेऽङ्गेऽसङ्ग! रतः, शिवाङ्गच्युतो योऽङ्ग! सङ्गरतः।
किं दूरः सङ्गरतस्त्वमतोऽकाद्विरम सङ्गरतः ॥९२॥

अन्वयार्थ– (असङ्ग!) हे निर्ग्रन्थ! **(यः)** जो **(शिवाङ्गच्युतः)** मोक्ष के अंग–कारणभूत सम्यग्दर्शनादि निमित्तों से, च्युत होकर **(सङ्गे)** परिग्रह में और **(अङ्गे)** शरीर में **(रतः)** अनुरक्त है **(सः)** वह **(किं)** क्या **(सङ्गरतः)** सङ्गर–विपत्तियों से **(दूरः)** दूर है? नहीं है **(अतः)** इसलिए **(त्वं)** तू **(सङ्गरतः)** विपत्तिस्वरूप **(सङ्गरतः)** सम्–सम्यक्, गरतः–विषरूप **(अकात्)** पाप से **(विरम)** विरक्त हो।

भावार्थ–हे निर्ग्रन्थ! जो मोक्ष के निमित्तभूत सम्यग्दर्शनादि से च्युत हो परिग्रह और शरीर की संभाल में लीन है, वह संगर–आपत्ति से दूर है क्या? अतः तू विपत्तिरूप एवं विषरूप पाप से विरत हो।

जो 'वीर' के चरण में नमता रहा है, चारित्र का वहन भी करता रहा है।
औ गोत्र का, दृग बिना, मद ढो रहा है, विज्ञान को न गहता, जड़ सो रहा है ॥९१॥
धिक्कार! मोक्ष–पथ से च्युत हो रहा है, तू अंग–संग ममता रखता अहा है!।
भाई! अतः सह रहा नित दुःख को ही, ले ले विराम अघ से, तज मोह मोही ॥९२॥

सतः समयसारसतः, सन्त्वलयोऽदूराः सहसा रसतः।
परान्न दृक्साऽरसतः, स्वतः सुधा स्रवति सारसतः ॥९३॥

अन्वयार्थ– **(अलयः)** गुणग्राही भ्रमर **(सतः)** श्रेष्ठ **(समयसारसतः)** समय–आत्मारूपी, सारस–कमल से **(अदूराः)** निकट **(सन्तु)** रहें **(रसतः च)** शरीर से भी **(सहसा)** शीघ्र ही दूर होवें **(सा)** वह भव्यजनों को सुलभ **(दृक्)** सम्यग्दर्शन **(परात्)** आत्मा से भिन्न शरीरादि पर पदार्थों से **(न)** नहीं प्राप्त होता है किन्तु **(अरसतः)** रसनेन्द्रिय के विषयभूत लवणादि रसों से भिन्न **(स्वतः)** स्वात्मा से प्राप्त होता है। यथा **(सारसतः)** चन्द्रमा से **(सुधा स्त्रवति)** सुधा झरती है।

भावार्थ–भ्रमर (गुणग्राहीजन) समीचीन, समय–आत्मारूपी सारस–कमल से अदूर रहें–निकटस्थ रहे और रस–शरीर से दूर रहें। वह सम्यग्दर्शन पर से नहीं प्राप्त होता, रस–पौद्गलिक गुण से रहित स्वतः स्वकीय आत्मा से प्राप्त होता है। जैसे कि सुधा–अमृत, सारस–चन्द्रमा से झरती है, अन्य पाषाणादि से नहीं।

पुण्यमुदयागतमदश्चाकमितरदभयं भवाद् गत मदः।
न गतोऽखिलं गतमद, इति वेद्मि विदन्तर्गतमदः॥९४॥

अन्वयार्थ–(भवात्) संसार से **(भयङ्गत!)** भयभीत श्रमण! **(उदयागतं)** उदय में आया हुआ **(पुण्यं)** पुण्य **(अकं च)** और पाप **(अदः)** ये दोनों **(मत्)** मेरे ज्ञान स्वभाव से **(इतरत्)** अन्य हैं **(अखिलं)** लोकालोक को **(गतः)** जानने वाला सर्वज्ञ **(गतमदः)** मद रहित **(अः)** परमेश्वर **(मत्)** मेरे स्वभाव से **(इतरः न)** भिन्न नहीं है **(विदन्तर्गतमदः)** जिसका मद ज्ञान में अन्तर्गत–विलीन हो गया है **(इति)** ऐसा उपर्युक्त वस्तुस्वरूप मैं **(वेद्मि)** जानता हूँ।

भावार्थ–रचनाकार संघस्थ मुनियों को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि–हे संसार से भयभीत श्रमण! उदय में आया हुआ वह पुण्य और पाप मुझसे भिन्न है। सर्वत्र व्यापक (सबको जानने वाला) एवं गतमद–गर्वरहित अ–परमेश्वर मुझसे भिन्न नहीं है। जिसका गर्व या हर्ष ज्ञान में विलीन हो गया है, ऐसा मैं जानता हूँ।

जो सन्त हैं समय-सार सरोज का वे, आस्वाद ले भ्रमर-से पर में न जावें।
सम्यक्त्व हो न पर से, निज आत्म से ही, भाई! सुधा-रस झरे शशि-बिम्ब से ही॥ ९३॥
आया हुआ उदय में यह पुण्य पिण्ड, औ पाप, भिन्न मुझको जड़ का करण्ड।
ब्रह्मा न किन्तु पर है, वर-बोध भानु, मैं सर्व-गर्व तज के इस भाँति जानूँ ॥९४॥

यते सन्मतेऽमल! य ऋषयस्तत्पदपद्मयुग्ममलयः।
भजन्ति गतो यो मलयः समदृष्टिं कृतमदाऽमलयः॥९५॥

अन्वयार्थ– (यते!) हे मुने! **(सन्मते!)** हे सन्मति वाले! **(अमल!)** कर्म मल रहित जिन! **(कृतमदामलयः)** कृत–किया है, मद–गर्व रूपी, अम–रोग का, लय–विनाश जिसने अर्थात् अहंकार रूपी रोग से रहित **(यः)** जो **(मलयः)** म–शिवरूप में, लयः–तल्लीन है **(समदृष्टिं गतः)** समान दृष्टि को प्राप्त है **(तत् पदपद्मयुग्मं)** उसके चरणकमल युगल को **(ये ऋषयः)** जो ऋषिरूपी **(अलयः)** भ्रमर हैं **(ते)** वे उनकी **(भजन्ति)** सेवा करते हैं।

भावार्थ–हे यते! हे सन्मते! हे अमल! जिसने मद–गर्वरूपी रोग का नाश कर दिया है–जो विश्वरूप आत्मा में लीन है एवं समदृष्टि को प्राप्त है, उसके चरणकमलयुगल को ऋषिरूपी भ्रमर भजते हैं–नमन करते हैं।

चाप्ता ह्यसावसुरताऽसति तपसि रतैस्तपस्विभिः सुरता।
संस्तुत–नृसुरासुर! ताः श्रियस्तु न स्वजा भासुरताः॥९६॥

अन्वयार्थ– (हि) निश्चय से **(असौ)** यह **(असुरता)** भवनत्रिक देवों की दशा **(च)** और **(सुरता)** वैमानिक देवों की परिणति **(असति)** मिथ्या **(तपसि)** तप में **(रतैः)** लीन **(तपस्विभिः)** तपस्वियों के द्वारा **(आप्ता)** प्राप्त की जाती है **(संस्तुतनृसुरासुर!)** हे नरों, सुरों, असुरों द्वारा संस्तुत भगवन्! **(ताः)** वह दुर्लभ **(स्वजाः)** आत्मा से उत्पन्न **(भासुरताः)** भा–दीप्ति में, सुरता–सुलीन **(श्रियः)** केवलज्ञान लक्ष्मी **(न)** नहीं प्राप्त की गयी है।

भावार्थ–निश्चय से यह असुरों और सुरों की पर्याय कुतप में लीन तपस्वियों के द्वारा प्राप्त की है परन्तु हे नर और देवदानवों से संस्तुत भगवन्! वे आत्मोत्थ एवं देदीप्यमान केवलज्ञानादि लक्ष्मियाँ उनके द्वारा प्राप्त नहीं की गईं हैं।

साधू सुधार समता, ममता निवार, जो है सदैव शिव में करता विहार।
तो अन्य साधु तक भी उसके पदों में, होते सुलीन अलि–से, फिर क्या पदों में?॥९५॥
प्रायः सभी कुतप से सुर भी हुए हैं, लाखों दफा असुर हो, मर भी चुके हैं।
देदीप्यमान नहिं 'केवलज्ञान' पाया, हे वीर देव! हमने दुख ही उठाया॥९६॥

किं जितानङ्ग! ते न!, मते मतं मतं वितानं गतेन।
श्रीरिता नं गतेन, नेति कमभजताऽनङ्ग! तेन ॥९७॥

अन्वयार्थ–(जितानङ्ग!) अनंग–काम को, जित–जीतने वाले हे जिन! **(अनङ्ग)** हे अशरीर–शरीर रहित शिव! **(न)** हे जिन! **(नं)** जिनको **(गतेन)** प्राप्त होकर भी जो **(कं)** आत्मा को **(अभजता)** नहीं भजते वे **(श्रीः)** ज्ञानादि लक्ष्मी को **(न इता)** नहीं प्राप्त करते। इस प्रकार **(मतं)** समादृत–आदर को प्राप्त **(वितानं)** विस्तार को प्राप्त हुए **(ते)** आपके **(मते)** दर्शन में **(किं)** क्या **(इति)** ऐसा **(न मतं)** नहीं स्वीकृत है? स्वीकृत है।

भावार्थ– हे मदनविजयी! हे अशरीर! (शरीर सम्बन्धी राग से रहित) हे जिन! जिनदेव को प्राप्त होकर भी जो आत्मा की आराधना नहीं करता है–आत्मा के ज्ञायक स्वभाव की ओर दृष्टि नहीं देता है उसे केवलज्ञानरूप लक्ष्मी प्राप्त नहीं होती। इस प्रकार समादृत विस्तार को प्राप्त हुए आपके मत में क्या नहीं माना गया है? अवश्य माना है।

मोहतमः समुदाय–, वृतमानस! के कुरु वास–मुदायः।
यदिति भवेत् स मुदा यः,प्राह च परो यतिसमुदायः॥९८॥

अन्वयार्थ–(मोहतमः समुदायवृतमानस!) मोहरूपी तम–अंधकार के समुदाय–समूह से जिसका मानस–मन, वृत–आवृत–वेष्टित–घिरा है ऐसे हे श्रमण! तू **(के)** आत्मा में **(वासं कुरु)** निवास कर **(यत्)** जिससे **(उदायः)** ऊर्ध्व गमन–मोक्ष के प्रति गमन **(भवेत्)** हो सके **(इति)** ऐसा वचन **(यः)** जो **(परः)** श्रेष्ठ **(सः)** प्रसिद्ध **(यतिसमुदायः)** यतिसंघ, मुनिसंघ है उसने **(मुदा)** हर्ष के साथ **(प्राह)** कहा है।

भावार्थ–मोहरूपी अन्धकार के समूह से जिसका मन घिरा है, ऐसे हे श्रमण! ''तू आत्मारूपी प्रकाश में निवास कर जिससे तेरा ऊर्ध्वगमन–मोक्षप्राप्ति के लिए प्रयत्न हो सके'' ऐसा जो श्रेष्ठ मुनिसमूह है, उसने हर्ष से कहा है। च शब्द पादपूर्ति के लिए है।

सानन्द यद्यपि सदा जिन नाम लेते, योगी तथापि न निजातम देख लेते।
तो वो उन्हें शिवरमा मिलती नहीं है, तेरा जिनेश! मत ईदृश क्या नहीं है?॥९७॥
अत्यन्त मोह–तम में कुछ ना दिखेगा, तू आत्म में रह, प्रकाश वहाँ मिलेगा।
स्वादिष्ट मोक्ष–फल वो फलतः फलेगा, उद्दीप्त दीपक सदैव अहो! जलेगा ॥९८॥

न मनोऽन्यत् सदा नय, दृशा सह तत्त्वसप्तकं सदानय।
यदि न त्रासदाऽनयः, पन्थास्ते स्वरसदा न यः ॥९९॥

अन्वयार्थ—हे मुने! तू **(मनः)** मन को **(सदा)** सतत **(अन्यत्)** अन्य स्थान पर **(न नय)** नहीं ले जा **(सत्)** समीचीन **(तत्त्वसप्तकं)** जीवादि सप्त तत्त्व समूह को **(दृशा सह)** श्रद्धान के साथ-सम्यग्दर्शन के साथ **(आनय)** प्राप्त कर। **(यदि न)** यदि ऐसा नहीं है तो **(ते)** तेरा **(यः)** जो **(पन्थाः)** मार्ग है **(त्रासदा)** दुख को देने वाला है **(अनयः)** अय-शुभ-सुख देने वाला नहीं है। **(स्वरसदा)** आत्मरस को दा-देने वाला **(न)** नहीं है।

भावार्थ—हे श्रमण! मन सदा अन्यत्र न ले जा, सम्यग्दर्शन के साथ श्रेष्ठ साततत्त्वों में ला। यदि ऐसा नहीं करता है तो मेरा मार्ग दुःखदायक तथा कल्याणकारक विधि से रहित होगा एवं आत्मानुभव को देने वाला नहीं होगा।

अतिलघौ लघुधियि मयि, त्यक्तकरणविषयेऽये समतामयि!
कुरु कृपां करुणामयि!, विशुद्धचेतने! सुधामयि!॥१००॥

अन्वयार्थ—(अये सुधामयि!) हे अमृतस्वरूप! **(करुणामयि)** हे दयामय!, **(समतामयि!)** हे साम्यभावधारक! **(विशुद्धचेतने!)** हे विशुद्ध चैतन्यस्वरूप भगवन्! **(लघुधियि)** लघु बुद्धि वाले **(त्यक्तकरणविषये)** इन्द्रिय विषयों का त्याग करने वाले **(अतिलघौ)** अत्यन्त लघु **(मयि)** मुझ पर **(कृपां)** अनुकम्पा **(कुरु)** करो।

भावार्थ—हे समतामयि! हे करुणामयि! हे सुधामयि! हे विशुद्धचेतने! मुझ अल्पबुद्धि संयमी पर दया करो। मुझे विशुद्ध चेतनामय बनाओ।

तू चाहता विषय में मन ना भुलाना, तो सात तत्त्व-अनुचिन्तन में लगा ना!
ऐसा न हो, कुपथ से सुख क्यों मिलेगा ? आत्मानुभूति झरना फिर क्यों झरेगा?॥ ९९॥
हूँ बाल, मन्द-मति हूँ लघु हूँ यमी हूँ, मैं राग की कर रहा क्रम से कमी हूँ।
हे चेतने! सुखद-शान्ति-सुधा पिला दे, माता! मुझे कर कृपा मुझमें मिला दे॥ १००॥

वै विषमयीमविद्यां, विहाय 'ज्ञानसागरजां' विद्याम्।
सुधामेम्यात्मविद्यां,नेच्छामि सुकृतजां भुवि द्याम् ॥१०१॥

अन्वयार्थ–[अत्र] इस **(भुवि)** वसुन्धरा पर **(अहं)** मैं **(आत्मवित्)** आत्मज्ञानी **(सुकृतजां)** पुण्य रूप सत्कर्मों से उत्पन्न **(यां)** इस **(द्यां)** स्वर्ग को **(न इच्छामि)** नहीं चाहता **(वै)** निश्चय से **(विषमयीं)** विषमयी **(अविद्यां)** अज्ञान को **(विहाय)** त्यागकर **(ज्ञानसागरजां)** गुरु ज्ञानसागर से उत्पन्न **(सुधां)** अमृतरूप **(विद्यां)** विद्या को **(एमि)** प्राप्त करता हूँ।

भावार्थ–मैं आत्मज्ञ, निश्चय से विषमयी अविद्या को छोड़कर ज्ञानरूप सागर से उत्पन्न गुरु ज्ञानसागरजी से प्राप्त आत्मविद्या को प्राप्त होता हूँ। पुण्य से प्राप्त होने वाला जो द्यौ–स्वर्ग है, उसे नहीं चाहता हूँ।

यहाँ श्लेषालंकार द्वारा ज्ञानसागर शब्द से–१. ज्ञान का सागर, २. दीक्षागुरु आचार्य ज्ञानसागरजी का उल्लेख किया है। 'विद्या' शब्द से कृतिकार विद्यासागर आचार्य का नाम ध्वनित होता है।

चाहूँ कभी न दिवि को अयि वीर स्वामी! पीऊँ सुधा रस निजीय बनूँ न कामी।
पा 'ज्ञानसागर' सुमन्थन से सुविद्या, 'विद्यादिसागर' बनूँ, तज दूँ अविद्या॥ १०१॥

मंगलकामना

विभावतः सुदूराणां, सन्ततिर्जयतात् तराम्।
द्यामेत्य पुनरागत्य, स्वानुभूतेः शिवं व्रजेत् ॥१॥

अन्वयार्थ–(विभावतः) विभाव से **(सुदूराणां)** दूर रहने वाली **(संततिः)** परम्परा **(जयतात्)** जयवंत रहे। जो **(द्यां)** स्वर्ग को **(एत्य)** जाकर **(पुनः)** पश्चात् **(आगत्य)** आकर **(स्वानुभूतेः)** निजानुभूति से **(शिवं)** मोक्ष को **(व्रजेत्)** प्राप्त करेगी।

भावार्थ–विकारभाव से अत्यन्त दूर रहने वाले साधुओं की परम्परा अत्यधिक जयवंत रहे। वह स्वर्ग जाकर पश्चात् वहाँ से आकर स्वानुभूति से मोक्ष को प्राप्त करे।

साधुता सा पदं ह्येतु, भूपतौ च जने-जने।
गवि सर्वत्र शान्तिः स्यात्, मदीया भावना सदा ॥२॥

अन्वयार्थ– (सा) वह **(साधुता)** सज्जनता **(भूपतौ)** राजाओं में **(च)** और **(जने जने)** जन जन में **(पदं)** स्थान को **(एति)** प्राप्त करे तथा **(एवं हि)** इसी प्रकार **(गवि)** पृथ्वी पर **(सर्वत्र)** सब जगह **(सदा)** नित्य **(शान्तिः स्यात्)** शान्ति हो ऐसी **(मदीया)** मेरी **(भावना)** भावना है।

भावार्थ–वह प्रसिद्ध साधुता–सज्जनता राजा और प्रत्येक मनुष्य में स्थान को प्राप्त हो तथा पृथ्वी में सर्वत्र शान्ति रहे, सदा ऐसी भावना रहती है।

रेपवृत्तिं परित्यज्य, ना नवनीत मार्दवम्।
णलाभायं भजेद् भव्यो, भक्त्या साकं भृशं सदा ॥३॥

अन्वयार्थ– (भव्यः) हे भव्य! **(ना)** पुरुष **(णलाभाय)** ण–ज्ञान, लाभाय–प्राप्ति के लिए **(रेपवृत्तिं)** हिंसादि पाप प्रवृत्ति को **(परित्यज्य)** छोड़कर **(भृशं)** अत्यधिक **(भक्त्या साकं)** भक्ति के साथ **[सदा]** हमेशा **(नवनीतमार्दवं)** नवनीत के समान मृदुता को **(भजेत्)** प्राप्त करे।

भावार्थ–भव्य मनुष्य, ज्ञानलाभ के लिए भक्ति के साथ सदा क्रूर व्यवहार को छोड़कर मक्खन के समान कोमलता को प्राप्त करे।

विद्याब्धिना सुशिष्येण, ज्ञानोदधेरलङ्कृतम्।
रसेनाध्यात्मपूर्णेन, शतकं शिवदं शुभम् ॥४॥

अन्वयार्थ– (ज्ञानोदधेः) आचार्य ज्ञानसागर के **(सुशिष्येण)** सुशिष्य **(विद्याब्धिना)** विद्यासागर मुनि द्वारा **(अध्यात्मपूर्णेन)** अध्यात्म से परिपूर्ण **(रसेन)** शान्तरस के द्वारा **(शुभं)** शुभ **(शिवदं)** कल्याण स्वरूप मोक्ष को देने वाली **(शतकं)** सौ पद्यों वाली श्रमण शतक की **(अलंकृतं)** रचना की गयी है।

भावार्थ–ज्ञानसागर गुरु के सुशिष्य विद्यासागर ने अध्यात्मपूर्ण रस से अलंकृत शुभ तथा

कल्याणप्रद शतक की रचना की है।

चित्ताकर्षि तथापि ज्ञैः, पठनीयं विशोध्य तैः।
तं मन्ये पण्डितं योऽत्र, गुणान्वेषी भवेद् भवे ॥५॥

अन्वयार्थ—यद्यपि यह शतक **(चित्ताकर्षि)** चित्त को आकर्षित करने वाली है **(तथापि)** तो भी **(ज्ञैः)** ज्ञानीजनों के द्वारा **(पठनीयं)** पढ़ने योग्य है **(तैः)** उन्हीं ज्ञानीजनों के द्वारा **(विशोध्य)** विशेषरूप से शोधन करने योग्य भी है किन्तु मैं **(तं)** उसे **(पण्डितं)** पंडित **(मन्ये)** मानता हूँ **(यः)** जो **(अत्र)** यहाँ **(भवे)** जगत् में **(गुणान्वेषी)** गुणों का अन्वेषण करने वाला **(भवेत्)** हो।

भावार्थ—यद्यपि यह शतक चित्तार्षक है तथापि विज्ञपाठकों द्वारा शुद्ध कर पढ़ने के योग्य है। इस संसार में मैं पण्डित उसे मानता हूँ जो गुणों का अन्वेषण करने वाला हो।

समय परिचय

क-गुप्ति-खोपयोगेऽदः, संवत्सरे च विक्रमे।
वैशाखपूर्णिमामीत्वेतीमामिति मितिं गतम् ॥६॥

अन्वयार्थ—(क)आत्मा-एक **(गुप्ति)** गुप्ति-तीन **(ख)** आकाश-शून्य **(उपयोगे)** उपयोग-दो **(विक्रमे च संवत्सरे)** विक्रम संवत् ''अंकों की विपरीत गति के अनुसार'' २०३१ **(इति)** इस प्रकार की **(इमां)** इस **(वैशाखपूर्णिमां)** वैशाख पूर्णिमा **(मितिं)** तिथि को **(ईत्वा)** प्राप्त कर **(अदं)** यह श्रमण शतक **(इतिं)** पूर्णता को **(गतं)** प्राप्त हुआ।

विक्रम संवत् २०३१ वैशाख पूर्णिमा के दिन समाप्त किया।

मंगल कामना

यही प्रार्थना वीर से, अनुनय से कर जोर।
हरी भरी दिखती रहे, धरती चारों ओर ॥१॥

विषय कषाय तजो भजो, जरा निर्जरा धार।
ध्याओ निज को तो मिले, अजरामर पद सार ॥२॥

सागर वो कचरा तजे, समझ उसे निस्सार।
गलती करता क्यों भला, तू अघ को उर धार ॥३॥

रवि सम पर उपकार में, रहो विलीन सदैव।
विश्व शान्ति वरना नहीं, यों कहते जिनदेव ॥४॥

रग-रग से करुणा झरे, दुखीजनों को देख।
चिर रिपु लख ना नयन में, चिता रुधिर की रेख ॥५॥

तन-मन-धन से तुम सभी, पर का दुःख निवार।
शम-दम-यम युत हो सदा, निज में करो विहार ॥६॥

तरणि ज्ञानसागर गुरो! तारो मुझे ऋषीश।
करुणाकर! करुणा करो! कर से दो आशीष ॥७॥

[१]इक त्रि शून्य द्वय वर्ष की, भाद्रपदी सित तीज।
लिखा गया अजमेर में, भुक्ति-मुक्ति का बीज ॥८॥

नमूँ ज्ञानसागर गुरु, मुझ में कुछ नहिं ज्ञान।
त्रुटियाँ होवें यदि यहाँ, शोध पढ़ें धीमान ॥९॥

१. समय विक्रम संवत् २०३१, भाद्रपद शुक्ला तृतीया, स्थान-अजमेर नगर (राजस्थान)

भावनाशतकम्

रचयिता
आचार्य विद्यासागर महाराज

भावनाशतकम्

यह 'भावनाशतकम्' काव्य संत शिरोमणि आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज का अद्वितीय संस्कृत शतक है, जो कुल १११ वृत्तों में से १६ मुरजबन्धयुक्त एवं १० अन्य अनुष्टुप् श्लोक एक वसंततिलका तथा ८४ आर्या छन्द में निबद्ध हुआ है। यह विक्रम संवत् २०३२ में श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र महावीर जी (सवाई माधोपुर) राजस्थान में वैशाखी अमावस्या को समाप्त हुआ था। आचार्यश्री ने स्वयं इस शतक के अन्त में श्लोकबद्ध 'भूलक्षम्य' के बाद इसके समापन स्थान एवं समय के सम्बन्ध में लिखा है–

ख्याते क्षेत्रे महावीरे, सर्वजनैः समादृते।
गंभीरनदकूलस्थे, संसारकूलदर्शिनि ॥९॥
समुपयोगयोगाभ्र-,मोक्षे विक्रमवत्सरे।
वैशाखीममामित्वेतीमामितिमितिंगतम् ॥१०॥

अर्थात् समस्त जनों से आदृत गंभीर नदी के तट पर स्थित संसार-नद के कूल को दिखाने वाले अत्यन्त प्रसिद्ध अतिशय क्षेत्र महावीरजी में सम्-उपयोग= समीचीन ज्ञान-दर्शनोपयोग=२, योग मन-वचन-काययोग=३, अभ्र=आकाश=०, मोक्ष=द्रव्य-भावमोक्ष=२, 'अंकानां वामतो गतिः' के अनुसार विक्रम संवत् २०३२, वीर निर्वाण संवत् २५०१, रविवार, ११ मई, १९७५ ई. की वैशाखी अमावस्या के दिन यह शतक समाप्ति को प्राप्त हुआ।

साधव इह समाहितं, नमन्ति सतां समाधृतसमा हितम् ।
कुर्वन् हृदि समाहितं, तमहमपि वन्दे समाहितम् ॥१॥

अन्वयार्थ– (इह) इस जगत् में **(सतां)** सज्जनों का **(हितं)** हित करने वाले **(समाहितं)** युक्ति और आगम से सिद्ध और **(समाहितं)** ध्यान निमग्न अर्हत् परमेष्ठी को **(समाधृतसमाः)** सम्-सम्यक् प्रकार से, समा–साम्य परिणति को आधृत–पूर्णरूप से धारण करने वाले **(साधवः)** साधु समूह **(नमन्ति)** नमस्कार करते हैं **(तं)** उन अर्हन्त भगवान् को **(हृदि)** हृदय में **(समाहितं)** स्थापित **(कुर्वन्)** करता हुआ **(अहम् अपि)** मैं भी (मुनि आचार्य विद्यासागर) **(वन्दे)** नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ–इस जगत् में जो सत्पुरुषों का हित करने वाले हैं, संसिद्ध–युक्ति आगम से सिद्ध हैं तथा समाधिस्थ हैं–ध्यान निलीन हैं, उन अरहन्त परमेष्ठी को साम्यभाव के धारक साधु नमस्कार करते हैं। अतः उन्हें हृदय में धारण करता हुआ मैं भी नमस्कार करता हूँ–उनकी त्रिकाल वन्दना करता हूँ।

सुधृतरत्नत्रयशरं, गुरो! ध्यानवसुविनष्टकुसुमशरम् ।
त्वां पीतानुभवशरं, यजेऽमुं शमय मेऽनाश! रम् ॥२॥

अन्वयार्थ–(गुरो!) हे आचार्य ज्ञानसागर गुरो! **(अनाश!)** हे आशा रहित अथवा नाश रहित, अविनाशी! **(सुधृतरत्नत्रयशरं)** सु–रुचिपूर्वक, धृत–धारण किया है, रत्नत्रय के शरं–हार को जिसने ऐसे **(ध्यानवसुविनष्टकुसुमशरं)** ध्यानरूपी वसु–अग्नि से, विनष्ट किया है, कुसुम–शरं–काम को जिसने ऐसे **(पीतानुभवशरं)** पीत–पान किया है, आत्मानुभव के, शरं–जल को जिसने ऐसे **(त्वां)** आपको मैं अन्तेवासी शिष्य विद्यासागर **(यजे)** पूजता हूँ आप **(मे)** मेरे **(अमुं)** इस **(रं)** कामानल को **(शमय)** शान्त करो।

भावार्थ–हे गुरो! हे ज्ञानसागर! हे अनाश! नाश अथवा आशा से रहित! रत्नत्रय रूप हार के धारक, ध्यानरूप अग्नि के द्वारा काम को नष्ट करने वाले और अनुभवरूपी जल का पान करने वाले आपकी मैं पूजा करता हूँ। आप मेरी इस कामाग्नि को शान्त कीजिए–मुझे निष्काम बनने में सहायक हों।

शोभें प्रभो परम पावन पा पदों को, योगी करें नमन ये जिनके पदों को।
सौभाग्य मान उनको उर में बिठा लूँ, साफल्यपूर्ण निज-जीवन को बना लूँ॥१॥
ध्यानाग्नि से मदन को तुमने जलाया, पीयूष स्वानुभव का निज को पिलाया।
धारा सुरत्नत्रयहार, अतः कृपालो, पूजूँ तुम्हें मम गुरो! मद मेट डालो ॥२॥

भक्त्येप्सितास्रवारिर्मोहतम:प्रसारत्वादवारि: ।
धर्मवारिदां वारि,मीडेऽनिच्छन् विषयवारि ॥३॥

अन्वयार्थ– (ईप्सितास्रवारि:) आस्रव का अरि–शत्रु–संवर, ईप्सित–प्राप्ति का इच्छुक **(मोहतमः प्रसारत्वात्)** मोहरूपी अन्धकार का प्रसार–विस्तार होने से **(अवारि:)** नेत्रहीन–ज्ञानहीन मैं **(विषयवारि)** पंचेन्द्रिय के विषयरूप जल को **(अनिच्छन्)** न चाहता हुआ **(धर्मवारिदां)** धर्म रूपी जल को देने वाली **(वारिं)** सरस्वती जिनवाणी माता को **(भक्त्या)** भक्तिपूर्वक **(ईडे)** पूजता हूँ, स्तवन करता हूँ। **शब्दार्थ–**अरि=शत्रु, वारि=जल और सरस्वती, अवारि=नेत्रहीन।

भावार्थ–जो संवर का इच्छुक है तथा मोहरूपी तिमिर का प्रसार होने से नेत्रहीन है, ऐसा मैं विषय रूप जल की इच्छा न करता हुआ धर्मरूप जल को देने वाली सरस्वती की भक्तिपूर्वक स्तुति करता हूँ।

विरतोऽकामहा नये, शतकं कामदं च कामहानये।
नम्रः कामहानये वदेऽविद्कृतकामहानये ॥४॥

अन्वयार्थ–(अये) हे **(अकामहा:!)** अक–पापरूपी, अम–रोग को, हा–नष्ट करने वाले भगवन् अथवा अकामहा:- काम–मनोरथों को, अ–नहीं, हा–नष्ट करने वाले जिन! **(क!)** हे परमात्मन्! **(नये)** नीति में अथवा सिद्धान्त में **(विरत:)** वि–विशेषरूप से, रत:–लीन **(अवित्कृत-कामहानये)** अविद्–अज्ञान से, कृत–उत्पन्न, काम विकार को, हानये–नष्ट करने के लिए अथवा जिन्होंने काम विकार को नष्ट किया है ऐसे जिनेन्द्र भगवान के लिए **(नम्र:)** प्रणत हुआ मैं **(अमहान्)** लघु **(कामदं)** काम–मोक्ष, द–देने वाले **(शतकं च)** इस भावनाशतक काव्य को **(कामहानये)** काम विकार के विनाश के लिए **(वदे)** कहता हूँ।

भावार्थ– हे अकामहा:! पापरूपी रोग को नष्ट करने वाले!, हे क ! हे ब्रह्मन् !, जो नीति, विज्ञान अथवा आगम में विशेषरूप से लीन है अथवा नीति विज्ञान से रहित है, अज्ञानी है, काम का नाश करने वाले के लिए विनम्र है और लघु है, ऐसा मैं कामहानि–आत्मसम्बन्धी रागादि रोगों की हानि के लिए कामद–अभिलषित पदार्थ को देने वाले भावनाशतक को कहता हूँ।

अन्धा विमोहतम में भटका फिरा हूँ, कैसे प्रकाश बिन संवर भाव पाऊँ।
हे शारदे! विनय से द्वय हाथ जोड़ूँ, आलोक दे विषय को विष मान छोड़ूँ॥ ३॥
सम्मान मैं समय का करता कराता, हूँ 'भावनाशतक' काव्य अहो बनाता।
मेरा प्रयोजन प्रभो कुछ और ना है, जीतूँ विभाव भव को बस भावना है ॥४॥

यतो जिनपददर्शनं, तदस्त्विह दर्शनशुद्धं दर्शनम्।
दर्शयति सद्दर्शनं, जगति जयतु जैनं दर्शनम् ॥५॥

अन्वयार्थ– **(दर्शनशुद्धं)** दर्पण की तरह शुद्ध निर्मल **(तत् दर्शनं)** वह सम्यग्दर्शन **(अस्तु)** हो **(यत:)** जिससे **(जिनपददर्शनं)** जिनपति के पद की प्राप्तिरूप दर्शन हो **(जैनं दर्शनं)** इस प्रकार जैनदर्शन **(सद्दर्शनं)** सम्यग्दर्शन को **(दर्शयति)** दिखाता है, प्रकट कराता है ऐसा वह सम्यग्दर्शन **(इह)** इस **(जगति)** जगत् में **(जयतु)** जयवन्त रहे। सर्वोत्कर्षेण वर्ततां, वर्धतां–उत्कृष्टरूप से प्रवर्तन करे, बढ़ता रहे।

भावार्थ–यह सम्यग्दर्शन दर्पण के समान निर्मल हो जिससे तीर्थंकर-पद का दर्शन होता है। इस प्रकार जैनदर्शन-जैनशास्त्र सम्यग्दर्शन को दिखाता है, प्राप्ति कराता है। जगत् में वह सम्यग्दर्शन जयवन्त रहे।

मोहारे: पराभवे, कषायादेरपि दृशा पराभवे ।
यान्ति नरा: परा भवे,ऽस्त्यजवागितीदं परा भवे ॥६॥

अन्वयार्थ– **(मोहारे:)** मोहशत्रु के **(पराभवे)** पराभव होने पर **(दृशा)** सम्यग्दर्शन से **(कषायादे:)** कषाय आदि के **(अपि)** भी **(पराभवे)** नाश होने पर **(भवे)** जिनेन्द्र देव में **(नरा:)** मनुष्य **(परा:)** तत्पर-अनुरक्त रहने वाले **(इदं)** इस दर्शन विशुद्धि को **(यान्ति)** प्राप्त करते हैं। **(इति)** ऐसी **(भवे)** लोक में **(परा)** उत्कृष्ट **(अजवाक्)** अर्हन्त की वाणी है।

भावार्थ–मोहरूप शत्रु का पराभव होने पर तथा सम्यग्दर्शन के द्वारा कषाय आदि का भी पराभव होने पर संसार में श्रेष्ठता को प्राप्त हुए मनुष्य इस दर्शनविशुद्धि को प्राप्त होते हैं, ऐसी जिनेन्द्र भगवान् की उत्कृष्ट वाणी है।

आदर्श सादृश सुदर्शन शुद्धि प्यारी, पाके जिसे जिन बने स्व-परोपकारी।
ऐसा जिनेश मत है मत भूल रे! तू, साक्षात् भवाम्बुनिधि का यह भव्य सेतु॥ ५॥
होता विनष्ट जब दर्शनमोह स्वामी, जाती तदा वह अनन्त कषाय नामी।
पाते इसे जन तभी जिन! जैन जो हैं, सद्भारती कह रही जनमीत जो हैं ॥६॥

करुणाभाववसत्यां, सद्भिरिदं सेवितायां वसत्याम्।
लसतु मानव! सत्यां, वसतिपतिप्रभेव वसत्याम् ॥७॥

अन्वयार्थ— **(वसत्यां)** रात्रि के **(सत्यां)** होने पर **(वसतिपतिप्रभा इव)** चन्द्रमा की प्रभा के समान **(मानव!)** हे मनुज! **(सद्भिः)** सत्पुरुषों के द्वारा **(सेवितायां)** सेवित **(वसत्यां)** प्रवृत्ति में **(करुणाभाववसत्यां)** करुणाभाव की वसत्यां-स्थिति होने पर **(इदं)** यह सम्यग्दर्शन **(लसतु)** शोभित हो।

भावार्थ—रात्रि होने पर जिस प्रकार चन्द्रमा की प्रभा सुशोभित होती है, उसी प्रकार हे मानव! सत्पुरुषों के द्वारा सेवित प्रवृत्ति में करुणाभाव की स्थिति होने पर यह सम्यग्दर्शन सुशोभित हो।

विराधनं न राधनं, निदानमस्य केवलं नरा धनम्।
ददाति सदाराधनं, राधनं मुक्तिदाराधनम् ॥८॥

अन्वयार्थ— **(नराः!)** हे मनुजो! **(निदानं)** भोगाभिलाषा **(अस्य)** इस सम्यग्दर्शन का **(विराधनं)** विघातक है और यह निदान **(केवलं धनं ददाति)** केवल धन वैभव देता है **(न राधनं)** मुक्ति के साधन नहीं देता किन्तु **(सदाराधनं)** सत्-सत्पुरुषों की आराधनं-आराधना-भक्ति **(मुक्तिदाराधनं)** मोक्षरूपी, दार-स्त्रीरूप, आधनं-पूर्णधन को **(च)** और **(राधनं)** तुष्टि को भी देती है।

भावार्थ—हे मानवो! निदान (भोगाभिलाषा) सम्यग्दर्शन का विघात करने वाला है। निदान, केवल धन देता है, सन्तोष नहीं देता, किन्तु सत्पुरुषों की सेवा मुक्ति स्त्रीरूप पूर्णधन और सन्तोष को देती है।

जो अंग-अंग करुणारस से भरा है, शोभायमान दृग से वह हो रहा है।
औचित्य है समझ में यह बात आती, अत्युज्ज्वला शशिकला निशि में सुहाती ॥७॥
हो प्राप्त, स्वर्ग तक पुण्यविधान से भी, होता न प्राप्त दृग शस्त निदान से भी।
सत् साधना सहज साध्य सदा दिलाती, लक्ष्मी अहो मृदुल हाथ तभी मिलाती ॥८॥

जितमोहहारकेण, व्यालसता शुचिनयमणिहारकेण ।
विना ह्यपि हारकेण, प्राप्यते न व्यवहारकेण ॥९॥

अन्वयार्थ–(शुचिनयमणिहारकेण) शुद्धनय रूप मणिहार से **(व्यालसता)** वि–विशेषरूप से, आ–पूर्ण तरह से, लसता–शोभायमान **(जितमोहहारकेण)** मोहरूपी हारक–चोर को, जित–जीतने से **(हारकेण विना)** विज्ञान विशेष के बिना **(हि अपि)** भी सम्यग्दर्शन **(प्राप्यते)** प्राप्त किया जाता है किन्तु **(व्यवहारकेण न)** मात्र व्यवहार नय से नहीं प्राप्त होता है। हारक शब्द चोर, विज्ञान, शठ के अर्थ में है।

भावार्थ–जिसमें निश्चयनय मणिमय हार है और उस हार से जो सुशोभित है तथा जिसने मोहरूपी चोर को जीत लिया है, ऐसे विशिष्टज्ञान के बिना भी यह सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है। किन्तु मात्र व्यवहारनय से नहीं प्राप्त होता।

दिव्यालोकप्रदानेश, – दर्शनशुद्धिभास्करः ।
भव्याब्जककदा वाश, स्पर्शकांशुशुभाकरः॥१०॥

अन्वयार्थ–यह सम्यग्दर्शन **(दिव्यालोकप्रदानेशदर्शनशुद्धिभास्करः)** दिव्य आलोक–केवलज्ञान प्रदान करने में, ईश–समर्थ, दर्शनविशुद्धिरूपी सूर्य **(अंशुशुभाकरः)** अंशु–किरणों की, शुभ आकर–खान है **(अशस्पर्शकः)** श–हिंसा को, स्पर्शक–स्पर्श करने वाला, अ–नहीं है अर्थात् अहिंसा से शोभित है **(भव्याब्जककदाः)** भव्यरूपी अब्जक–कमल [क प्रत्यय स्वयं के अर्थ में होने से अब्ज से अब्जक बना] को क–सुख, दा–देने वाला **(अस्तु)** है। **(वा)** समुच्चय के अर्थ में है।

भावार्थ– केवलज्ञान के प्रदान करने में समर्थ दर्शनविशुद्धिरूपी सूर्य, किरणों की शुभ खान है, अहिंसा से सुशोभित है और भव्यजीव रूप कमलों को सुख देने वाला है, यह निश्चय है।

श पुल्लिंग में हिंसा वाचक है, वही श नपुंसक लिंग में सुख वाचक है, धर्म वाचक है तथा शा शब्द माता वाचक है।

दुर्जेय मोहरिपु को जिनने दबाया, शुद्धोपयोग मणिहार गले सजाया।
वे साधु बोध बिन भी दृग शुद्धि पाते, जो बाह्य में निरत हैं दुख ही उठाते ॥९॥
आलोक दे सुजन को रवि से जगाती, है भव्य कंज दल को सहसा खिलाती।
है पापरूप तम को क्षण में मिटाती, ऐसी सुदर्शन विशुद्धि किसे न भाती ॥१०॥

न मयाऽकं न नपावनं, विनयो यियासुनार्च्यते पावनम् ।
मुक्त्वा सुधीः पावनं, कोऽटेद् ग्रीष्मार्त्तः पावनम् ॥११॥

अन्वयार्थ—(नप) न-पूज्य, पा-रक्षक देव! **(पावनं)** पवित्र **(अवनं)** रक्षण को **(यियासुना)** प्राप्त करने के इच्छुक **(मया)** मेरे द्वारा **(विनयः)** विनय भाव **(अर्च्यते)** पूजा जाता है **(न अकं)** न कि पाप पूजा जाता है। ऐसा **(कः)** कौन **(सुधीः)** विद्वान् है जो **(ग्रीष्मार्त्तः)** निदाघ पीड़ित होकर **(पावनं)** जल को **(मुक्त्वा)** छोड़कर **(पावनं)** अग्नि को **(अटेत्)** प्राप्त करे? **(न कोपि)** कोई नहीं।

भावार्थ— हे नप! हे पूज्यरक्षक! पवित्र रक्षण को प्राप्त करने के इच्छुक मेरे द्वारा विनय की पूजा की जाती है, अकं-पाप की नहीं। कौन ऐसा विद्वान् है जो गरमी से पीड़ित होता हुआ जल को छोड़ अग्नि को प्राप्त हो ? अर्थात् कोई नहीं।

एतद्द्विषं साधनं, जयश्रीरिवेनमूनसाधनम्।
व्रजेन्न हि सत् साधनं, फलति संसारेऽञ्जसा धनम् ॥१२॥

अन्वयार्थ—(ऊनसाधनं) कम सेना वाले **(इनं)** राजा को **(जयश्रीः)** विजय लक्ष्मी के **(इव)** समान **(एतद्विषम्)** विनय से द्वेष रखने वाले मनुष्य को **(साधनं)** सिद्धि **(न व्रजेत्)** प्राप्त नहीं होती **(सत् साधनं)** सम्यक् साधन **(हि संसारे)** संसार में **(अञ्जसा)** यथार्थ **(धनं)** द्रव्य को **(फलति)** फलता है। साधन शब्द अनेकार्थक है।

भावार्थ— विनय से द्वेष करने वाले मनुष्य को सिद्धि उस प्रकार नहीं प्राप्त होती, जिस प्रकार कि कम सेना वाले राजा को विजय लक्ष्मी प्राप्त नहीं होती। उचित है, क्योंकि समीचीन साधन-उपाय ही यथार्थ रूप से धन को फलता है।

ना पाप को, विनय को शिर मैं नमाता, हे वीर! क्योंकि मुझको निज सौख्य भाता।
जो भी गया तपन तापतया-सताया, क्या चाहता अनल को, तज नीर छाया ॥११॥
सेना विहीन नृप ज्यों जय को न पाता, त्यों हीन जो विनय से शिव को न पाता।
सत् साधना यदि करे दुख भी टलेगा, संसार में सहज से सुख भी मिलेगा ॥१२॥

एतद्वहता गमितं, ह्यनन्तान्तं पापं सम्यगमितम् ।
स्वमूल्यं येन गमितं, तस्मै कं किं नाङ्ग मितम्॥१३॥

अन्वयार्थ–(अङ्ग अनन्त!) हे अङ्ग! अनन्त! **(न)** हे जिन! **(येन)** जिस कारण से **(एतद्वहता)** विनय सम्पन्नता को धारण करने वालों के द्वारा **(स्वमूल्यं)** निज स्वभाव का मूल्य **(गमितं)** प्राप्त किया जाता है और **(अमितं)** अपरिमित **(पापं)** पाप **(अन्तं)** विनाश को **(गमितं)** प्राप्त कराया जाता है तब **(तस्मै)** उसके लिए **(मितं)** परिमित **(कं)** सुख **(किम्)** क्या अर्थ रखता है? कुछ भी नहीं।

भावार्थ–अङ्ग! अनन्त! न! हे अन्तातीतजिनेन्द्र! विनयसम्पन्नता को धारण करने वाले जिस मनुष्य ने आत्ममूल्य को प्राप्त किया है और अपरिमित पाप का अन्त किया है, उसके लिए सीमित सांसारिक सुख क्या है ? वह तो मोक्षसम्बन्धी अनन्तसुख का पात्र होता है।

स-विनयशीलोऽकेन, श्रितमहितमपि कुमार्गगं लोकेन!।
मुदा विदालोकेन, स्वपथगं करोति लोके न! ॥१४॥

अन्वयार्थ– (लोकेन!) हे लोक के, इन–स्वामी! **(न!)** हे जिन! **(लोके)** लोक में यह **(स विनयशीलः)** विनय युक्त मनुष्य जन **(मुदा)** हर्ष के साथ **(अकेन)** दुःख से अथवा पाप से **(श्रितं)** सेवित–सहित **(कुमार्गगं)** कुपथगामी **(अहितं)** शत्रु को **(अपि)** भी **(विदालोकेन)** विद्–सम्यग्ज्ञान के, आलोकेन–प्रकाश के द्वारा **(स्वपथगं)** जिनमार्ग पर ग–गमन करने वाला **(करोति)** करता है।

भावार्थ–हे लोकेन! हे जगत् के स्वामी जिनेन्द्र! दुःख या पाप से युक्त, कुमार्गगामी शत्रु को भी लोक में विनयशील मनुष्य हर्षपूर्वक ज्ञानरूप प्रकाश के द्वारा सुपथगामी बना देता है।

निर्भीक हो विनय आयुध को सुधारा, हे वीर! मान रिपु को पुनि शीघ्र मारा।
पाया स्वकीय निधि को जिसने यदा है, क्या माँगता वह कभी जड़ संपदा है ॥१३॥
वे व्यर्थ का नहिं घमण्ड कभी दिखाते, सन्मार्ग को विनय से विनयी दिखाते।
पापी कुधी तक तभी भवतीर पाते, विद्वान भी हृदय में जिनको बिठाते ॥१४॥

किं स्याद् भगवन्नमितं सुखमवनाविह विना ह्यनेन मितम्।
वन्दे मुनिभिर्नमितं ततो विदांवरैर्मानमितम् ॥१५॥

अन्वयार्थ– **(भगवन्!)** हे केवलज्ञानी! **(इह अवनौ)** इस पृथ्वी पर **(अमितं)** अपरिमित **(मितं)** और अल्प **(सुखं)** सुख **(अनेन)** इस **(विना)** विनय के बिना **(किं)** क्या **(स्यात्)** हो सकता है? नहीं हो सकता। **(विदांवरैः)** विद्वानों में श्रेष्ठ **(मुनिभिः)** मुनियों ने **(ततः)** उस विनय से **(मानं)** केवलज्ञान को **(इतं)** प्राप्त किया और **(नमितं)** नमस्कृत हुए हैं। मैं ऐसी विनय सम्पन्नता को **(हि)** विनयपूर्वक **(वन्दे)** नमन करता हूँ।

भावार्थ– हे भगवन्! इस पृथ्वी पर अपरिमित और परिमित सुख क्या विनय के विना हो सकता है? अर्थात् नहीं। इस विनय के द्वारा ही ज्ञानी मुनियों ने सन्मान और नमस्कार को प्राप्त किया है।

एतद्द्विषः प्लवन्ते न, भवार्णवं भयङ्करम् ।
वान्तदोष भवं ते न, भवाभवं न यन्त्यरम् ॥१६॥

अन्वयार्थ–(वान्तदोष!) हे निर्दोष! **(न!)** हे पूज्य! **(भव!)** हे कल्याणकर जिनेन्द्र! **(एतद्द्विषः)** इस विनय सम्पन्न भावना से, द्विषः–द्वेष रखने वाले विनयहीन मनुष्य **(भयङ्करं)** भय उत्पादक **(भवार्णवं)** संसार समुद्र को **(न प्लवन्ते)** नहीं तैर पाते **(ते)** वे विनयहीन मनुष्य **(अभवं)** जन्मातीत **(भवं)** कल्याणस्वरूप सिद्ध पर्याय को **(अरं)** शीघ्र **(न यन्ति)** नहीं प्राप्त करते।

भावार्थ–हे वान्तदोष! हे पूज्य! हे कल्याणरूप! विनयशीलता से द्वेष रखने वाले मनुष्य, भयंकर संसारसागर को नहीं तैर सकते। इसीलिए वे जन्मरहित सिद्धपर्याय को शीघ्र नहीं प्राप्त होते।

संसार में विनय के बिन तू चलेगा, आनन्द भी अमित औ मित क्यों मिलेगा।
योगी सुधी तक सदा इसका सहारा, लेते अतः नमन हो इसको हमारा ॥१५॥
विद्वेष जो विनय से करते कराते, निर्भ्रान्त वे नहिं भवोदधि तैर पाते।
जाना उन्हें भव-भवान्तर क्यों न होगा, ना मोक्ष का विभव संभव भव्य होगा ॥१६॥

वामवमिना ह्यमानं, जगदकमनुभवति दंदह्यमानम्।
स हित्वाऽग्राह्यमानं, जगादेत्यजः संगृह्य मानम् ॥१७॥

अन्वयार्थ– **(वामवमिना)** कामरूप अग्नि से **(हि)** नित्य **(अमानं)** अत्यधिक **(दंदह्यमानं)** जलता हुआ **(जगत्)** लोक **(अकं)** दुख का **(अनुभवति)** अनुभव करता है **(इति)** ऐसा **(सः)** प्रसिद्ध **(अजः)** वीतराग भगवान् ने **(अग्राह्य-मानं)** ग्रहण करने के अयोग्य मान कषाय को **(हित्वा)** छोड़कर **(मानं)** ज्ञान को **(संगृह्य)** सम्यक् ग्रहण करके भव्यजनों को **(जगाद)** कहा है।

भावार्थ–'कामरूप अग्नि से अत्यधिक जलता हुआ जगत् अपरिमित दुःख का अनुभव करता है' ऐसा उन जन्मातीत–जिनेन्द्र ने ग्रहण करने के अयोग्य मान को छोड़कर तथा ज्ञान का अच्छी तरह संग्रह करके कहा है।

संयमिभिर्महितेन, शीलेन समं सुमते ! मम हि तेन ।
मतिरतिवाम ! हितेन, त्वस्तु परं स्वधाम हि तेन ॥१८॥

अन्वयार्थ– **(अतिवाम!)** हे निष्काम! **(सुमते!)** हे सुबुद्धे! **(संयमिभिः)** संयमी साधुजनों के द्वारा **(महितेन)** पूजित **(हितेन)** कल्याणकारी **(तेन)** उस प्रसिद्ध **(शीलेन समं)** शीलव्रत के साथ **(हि)** यथार्थ में **(मम)** मेरी **(मतिः)** बुद्धि **(अस्तु)** हो। अर्थात् निरतिचार शीलव्रत पालन करने में मेरी बुद्धि हो। **(तेन)** उस कारण मुझ कल्याण के इच्छुक के **(तु हि)** तो **(परं)** सम्मुख **(स्वधाम)** मोक्ष हो।

भावार्थ– हे निष्काम! हे सुमतिसम्पन्न! जिनेन्द्र! संयमी साधुओं के द्वारा पूजित, हितकारी उस शीलव्रत के साथ ही मेरी बुद्धि रहे और इस कारण श्रेष्ठ मोक्ष प्राप्त हो।

कामाग्नि से जल रहा त्रयलोक सारा, देखे जहाँ दुख भरा कुछ ना सहारा।
ऐसे जिनेश कहते, जग के विधाता, जो काम मान मद त्याग बने प्रमाता ॥१७॥
पूजा गया मुनिगणों यति योगियों से, त्यों शील, नीलमणि ज्यों जगभोगियों से।
सत् शील में सतत लीन अतः रहूँ मैं, लो! मोक्ष को निकट ही फलतः लखूँ मैं॥१८॥

हिमांशुनाऽपि हिमेन, ह्यलं गाङ्गेनाम्बुनाऽपि हिमेन।
वरोऽस्त्वस्य महिमेन, बाह्येतरदाहहा हि मे न! ॥१९॥

अन्वयार्थ–(इन!) हे स्वामिन्! **(न!)** हे जिनपते! **(हिमेन)** बर्फ से **(हिमांशुना अपि)** चन्द्रमा से भी **(गाङ्गेनाम्बुना)** गंगा के जल से **(अपि)** और **(हिमेन)** चन्दन से **(अलं)** पर्याप्त–क्या प्रयोजन है? **(मे)** मेरे **(अस्य)** इस शीलव्रत की **(बाह्येतरदाहहा)** बाह्य और अंतर दाह को हा–हरने वाली **(महिमा)** महिमा **(वर:)** श्रेष्ठ **(हि)** निश्चय से **(अस्तु)** हो।

भावार्थ–हे स्वामिन्! हे जिनेन्द्र! बर्फ, चन्द्रमा, गंगाजल और चन्दन की आवश्यकता नहीं है। बाह्य और आभ्यन्तर दाह को नष्ट करने वाली इस शीलव्रत की उत्कृष्ट महिमा ही मेरे पास रहे।

स्तुतानि ह्यङ्ग ! तानि, व्रतानि यानि सता शुचितां गतानि।
अकानि सम्यगतानि, त्यक्त्वाऽऽगतान्यनागतानि ॥२०॥

अन्वयार्थ–(अङ्ग!) हे जिनेन्द्र! **(आगतानि)** वर्तमान काल सम्बन्धी **(अनागतानि)** भविष्यकाल सम्बन्धी और **(गतानि)**भूतकाल सम्बन्धी **(अकानि)** समस्त पापों का **(हि)** परमार्थ से **(त्यक्त्वा)** त्याग करके **(यानि)** जो **(सता)** साधुजनों के द्वारा **(स्तुतानि)** स्तुत हैं **(शुचितां)** निर्दोषता को **(गतानि)** प्राप्त हुए हैं ऐसे **(तानि)** उन **(व्रतानि)** व्रत समूह को मैं **(सम्यक्)** सम्यक् रूप से **(अतानि)** प्राप्त करता हूँ।

भावार्थ– हे अङ्ग! जिनेन्द्र! वर्तमान, भविष्यत् और भूतकाल सम्बन्धी पापों को छोड़कर सत्पुरुषों के द्वारा स्तुत होते हुए जो निरतिचारवृत्ति को प्राप्त हुए हैं, उन व्रतों को मैं प्राप्त होता हूँ।

गंगाम्बु को न हिम को शशि को न चाहूँ, चाहूँ न चन्दन कभी मन में न लाऊँ।
जो शीलझील मन की गरमी मिटाती, डूबूँ वहाँ सहज शीतलता सुहाती ॥१९॥
मैं भूत भावि सब साम्प्रत पाप छोड़ूँ, चारित्र संग झट चंचल चित्त जोड़ूँ।
सौभाग्य मान जिसको मुनि साधु त्यागी, हैं पूजते नमन भी करते विरागी ॥२०॥

सा भातु गजगतितया, सती नानेन संसृतिर्गतितया।
सिद्धः सदा गतितया, सदागतिनोषा जगति तया॥२१॥

अन्वयार्थ– **(जगति)** लोक में जिस प्रकार **(गजगतितया)** गज–हाथी की, गति–चाल के समान गमन करने से **(सा)** वह प्रसिद्ध **(सती)** पतिव्रता नारी **(भातु)** शोभित होती है **(गतितया)** चार गतियों में गमन करने से **(संसृतिः)** संसार शोभित होता है **(गतितया)** केवलज्ञान रूप गति से **(सिद्धः)** मुक्तात्मा शोभित होती है। **(सदागतिना)** वायु से **(उषा)** प्रातः बेला शोभित होती है **(तया)** उसी प्रकार **(अनेन)** इस शीलव्रत भावना से यह **(ना)** भक्त पुरुष **(सदा)** सतत शोभित होता रहे।

भावार्थ–संसार में वह पतिव्रता स्त्री हाथी जैसी चाल से सुशोभित हो, संसार चतुर्गतियों से सुशोभित हो, सिद्ध परमेष्ठी प्रसिद्ध केवलज्ञान से अथवा अगतिता- गतिराहित्य से सुशोभित हों, प्रातःकाल वायु से सुशोभित हो और मनुष्य इस शीलव्रत से सदा सुशोभित हो।

शीलरथो मयाऽऽरूढो, वामोऽनेन भृशं स्वतः।
किल ह्यथो भयारूढो, यमो येन स शं गतः॥२२॥

अन्वयार्थ- **(अनेन मया)** इस स्तुतिकर्ता ने **(वामः)** सुन्दर **(शीलरथः)** शीलरूपी रथ पर **(आरूढः)** आरूढ़ किया है **(येन)** जिससे **(सः)** वह प्रसिद्ध **(शंगतः)** शं–हिंसक भाव को, गत–प्राप्त **(यमः)** काल **(किल)** यथार्थ में **(स्वतः)** अपने आप से **(भृशं)** अत्यधिक **(भयारूढः)** भयभीत होकर देख रहा है।

भावार्थ–अब मैंने इस सुन्दर शीलरथ पर आरोहण किया है जिससे वह हिंसक यम स्वयं ही अत्यन्त भयभीत दिखाई देता है। अथो, हि यह पादपूर्ति के लिए है।

जैसे सती जगत में गजचाल हो तो, शोभे उषा पवन मन्द सुगन्ध हो तो।
संसार शोभित रहे गति चार होवें, सर्वज्ञ सिद्ध सब वे गति चार खोवें।
वैसा सुशीलव्रत संयम योग से रे, होते सुशोभित सुधी, न हि भोग से रे॥
सिद्धान्तपारग सभी गुरु यों बताते, सद्ध्यान में सतत जीवन हैं बिताते॥२१॥
निर्भीक मैं बढ़ रहा शिव ओर स्वामी, आरूढ़ शीलरथ पै अतिशीघ्रगामी।
लो! काल व्याल-विकराल-कुचाल वाला, है भीति से पड़ गया वह पूर्ण काला॥२२॥

यथा कल्पते मदनता, रसतो मदनाहितेन मदनः।
मदोऽनलतोऽपि मदनः, प्रज्ञानयोगात् कामद! न! ॥२३॥

अन्वयार्थ– (कामद!) काम–इष्ट मनोरथों को, द–देने वाले जिन! **(न!)** हे पूज्य! **(यथा)** जिस तरह **(रसतः)** रसायन से **(मदनता)** धतूरे की मादकता, **(मदनाहितेन)** मदन–काम के, अहितेन–वैरीरूप ब्रह्मचर्य द्वारा **(मदनः)** काम, **(अनलतः)** अग्नि से **(मदनः)** सिक्थक–मोम जिस तरह **(कल्पते)** नष्ट हो जाता है उसी प्रकार **(प्रज्ञानयोगात्)** श्रेष्ठ ज्ञान के योग से **(मदः)** गर्व, अहंकार **(अपि)** भी नष्ट हो जाता है।

भावार्थ–हे मनोरथ को पूर्ण करने वाले जिनेन्द्र! जिस प्रकार रसायन से धतूरे की मादकता, कामवैरी के द्वारा काम और अग्नि से मैल नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार प्रकृष्ट–श्रेष्ठ ज्ञान के योग से अहंकार नष्ट हो जाता है।

कुमुदमथो वा मेन, जलधिर्वामा यूनेव वामेन।
मुदमेति च वामेन!, मनोऽनेनोऽनेन वा मे न!॥२४॥

अन्वयार्थ–(अथो अनेनः!) [एनः=पाप, न एनः=अनेनः] हे निष्पाप! **(वाम)** हे सुन्दर **(इन)** स्वामिन्! **(न!)** जिन! **(मेन)** **म**=चन्द्र–चन्द्रेण, चन्द्रमा से **(कुमुदं)** कुमुद फूल **(वा)** अथवा **(जलधिः)** समुद्र, **(वामेन)** सुन्दर **(यूना)** युवक से **(वामा)** स्त्री **(इव)** के समान **(मुदं)** हर्ष को **(एति)** प्राप्त होती है, **(इव)** उसी प्रकार **(मे)** मेरा **(मनः च)** मन भी **(अनेन)** ज्ञानोपयोग से **(मुदं)** हर्ष को **(एति)** प्राप्त होता है।

भावार्थ–हे निष्पाप! हे सुन्दर! हे स्वामिन्! हे जिनेन्द्र! जिस प्रकार चन्द्रमा से कुमुद अथवा समुद्र और सुन्दर युवक से स्त्री हर्ष को प्राप्त होती है, उसी प्रकार मेरा मन इस अभीक्ष्णज्ञानोपयोग से हर्ष को प्राप्त हो।

होता विनिर्विष रसायन से धतूरा, है अग्नि से पिघलता झट मोम पूरा।
ज्यों काम देख शिव को दश प्राण खोता, विज्ञान को निरख त्यों मद नष्ट होता ॥२३॥
संयोग पा मदन मञ्जुल कान्त का वे, जैसा नितान्त ललनाजन मोद पावे।
किंवा सुखी कुमुद वारिधि चन्द्र से हो, वैसा मदीय मन मोदित ज्ञान से हो ॥२४॥

मुनिषु मम विपाकस्य, त्वं भव सखाग्निरिव भुवि पाकस्य।
यद् भवेद् विपाकस्य, व्ययश्चायः सुखविपाकस्य ॥२५॥

अन्वयार्थ—(भुवि) वसुधा पर **(पाकस्य)** वायु के **(सखा)** मित्र **(अग्निः इव)** अग्नि के समान **(मुनिषु)** मुनियों में **(विपाकस्य)** वि–विशिष्ट, पाकः–शिशुरूप–बालरूप–अज्ञानी के अथवा वि–विरुद्ध, पाकस्य–कर्मोदय से पीड़ित **(मम)** मेरे हे ज्ञानोपयोग! **(त्वं)** तुम **(सखा)** मित्र **(भव)** होओ **(यद्)** जिससे **(विपाकस्य)** वि–विरुद्ध, पाकस्वरूप दुर्गति का **(व्ययः)** विनाश **(च)** और **(सुखविपाकस्य)** सुखदायक कर्मोदय की **(आयः)** उत्पत्ति–प्राप्ति **(भवेत्)** होवे।

शब्दार्थ—पाक=वायु, शिशु। विपाकः=परिणाम, खेद, स्वादु, दुर्गति।

भावार्थ—पृथ्वी पर जिस प्रकार वायु का सखा अग्नि है, उसी प्रकार हे ज्ञानोपयोग! तुम मुझ अज्ञानी मुनि के सखा होओ, जिससे दुःखदायक कर्मोदय का विनाश और सुखदायक कर्मोदय की प्राप्ति हो।

महतां वराजराजः, शिरसि यदूनोऽपि धृतराजराजः।
श्रितो मुनिराजराज, स्यादजोऽनेन राजराजः॥२६॥

अन्वयार्थ—(हे मुनिराजराज!) हे मुनियों के राजा आचार्य और आचार्यों के राजा मुनिराजराज, हे यतीन्द्र शिरोमणे! **(अजर!)** हे जरा रहित! **(महतां वर!)** महापुरुषों में श्रेष्ठ! **(शिरसि)** सिर पर **(धृतराजराजः)** धृत–धारण किया है, राजराज–चन्द्र जिसने ऐसा शिव **(यदूनः)** जिस ज्ञानोपयोग से रहित होकर **(अपि)** भी **(अजः)** बकरा हुआ किन्तु **(राजराजः)** राजाओं के राजा **(अजः)**श्रीकृष्ण **(अनेन)** ज्ञानोपयोग भावना से **(श्रितः)** तीर्थंकर **(स्यात्)** होगें/कल्याणों को प्राप्त होंगे।

भावार्थ—हे श्रेष्ठ मुनियों के नाथ! हे महापुरुषों में महान्! हे जरारहित! जिनेन्द्र! शिर पर चन्द्रमा को धारण करने वाला शिव भी इस ज्ञानोपयोग से रहित हो छाग हुआ अर्थात् बकरा हुआ किन्तु राजराजेश्वर कृष्ण इस ज्ञानोपयोग से सहित हो तीर्थंकर होंगे।

ज्ञानोपयोग बन तू मम मित्र प्यारा, ज्यों अग्नि का पवन मित्र बना उदारा।
पीड़ा मिटे, सुख मिले, भव-जेल छूटे, धारा अपूर्व सुख की न कदापि टूटे ॥२५॥
स्वामी! भले ही शिर पै शशि भा रहा हो, विज्ञान से विकल शंकर ही रहा हो।
श्रीकृष्ण पाकर इसे कुछ ही दिनों में, होंगे सुपूज्य यतियों मुनि सज्जनों में ॥२६॥

चञ्चलचित्तसंवरं, कलयति च कुरुतेऽयं विधिसंवरम्।
विमदमलीमसं वरं, गता मुनय आहुः संवरम् ॥२७॥

अन्वयार्थ– (अयं) यह ज्ञानोपयोग **(विधिसंवरं)** कर्मास्रव को रोकनेवाले संवर को **(कुरुते)** करता है **(चञ्चलचित्तसंवरं च कलयति)** चंचलचित्त के निरोधरूप संवर को भी करता है ऐसा **(विमदमलीमसं वरं संवरं गता)** वि–विगत, विनष्ट हुआ है मदरूपी मलीमस–कलंक जिनका ऐसे वरं–श्रेष्ठ, संवरं–संवर तत्त्व को प्राप्त हुए **(मुनयः)** मुनिजन **(आहुः)** कहते हैं।

भावार्थ–यह ज्ञानोपयोग कर्मों के संवर को तथा चञ्चलचित्त के निरोध को करता है' ऐसा मदरूपी मैल से रहित उत्कृष्ट संवर को प्राप्त मुनि कहते हैं।

(अनुष्टुप् छन्दः)

ज्ञानरूपी करे दीपो,ऽमनोऽचलो यतेऽस्त्ययम्।
सन्नरूपी हरेऽपापो, जिनोऽवलोक्यते स्वयम् ॥२८॥

अन्वयार्थ– (हरे!) हे भगवन्! **(अमनः!)** हे भावमनो रहित! **(यते)** हे साधो! **(अयं)** यह **(अचलः)** अकम्प–स्थिर **(ज्ञानरूपीदीपः)** ज्ञानात्मक दीपक यदि जिसके **(करे)** हस्त में **(अस्ति)** है तो उसे **(अपापः)** पाप रहित **(अरूपी)** रूप रहित **(सन्)** होते हुए **(जिनः)** जिनेन्द्रदेव **(स्वयं)** बाह्य निमित्त के बिना ही **(अवलोक्यते)** दिखाई देते हैं।

भावार्थ– हे हरे! हे भावमन से रहित! हे मुने! यदि यह अविनाशी ज्ञानरूपी दीपक हाथ में है तो पापों से रहित एवं रूप से शून्य जिन, स्वयमेव दिखने लगता है।

ज्ञानोपयोग वर संवर साधता है, चाञ्चल्यचित्त झट से यह रोकता है।
भाई निजानुभवियों यति नायकों ने, ऐसा कहा सुन! जिनेन्द्र उपासकों ने ॥२७॥
जाज्वल्यमान न कदापि चलायमान, हो ज्ञानदीप कर में यदि विद्यमान।
रूपी दिखे, पर पदार्थ सभी अरूपी, हैं स्पष्ट रूप दिखते जिन चित्स्वरूपी ॥२८॥

स ना भुवि नायकेन, प्रभातु शरोऽप्यजवाक् विनायकेन।
विरतो विनायके न, संवेगेन विनाऽयकेन ॥२९॥

अन्वयार्थ– **(विन!)** हे वि–विशिष्ट, न–पूज्य! **(अयक!)** हे गतिशील–परिणमनशील जिन! अथवा अयः–शुभरूप होने से हे अयक! **(इन!)** हे स्वामिन्! **(न!)** हे जिन! **(भुवि)** भूमि पर **(नायकेन)** मध्यमणि से **(शरः)** हार, **(विनायकेन)** वि–विशिष्ट नायक गणधर परमेष्ठी से **(अजवाक्)** जिनवाणी **(प्रभातु)** शोभायमान होती है। उसी प्रकार **(विनायके)** विशिष्ट नायक गुरु में **(विरतः)** विशेष रूप से अनुरक्त **(सः)** प्रसिद्ध **(ना)** पुरुष **(अपि)** भी **(संवेगेन)** भवभीरु लक्षणरूप गुण से शोभित होता है।

भावार्थ–हे विशिष्टपूज्य!, हे गतिशील!, हे स्वामिन्!, हे जिनेन्द्र!, जिस प्रकार पृथ्वी पर मध्यमणि से हार सुशोभित होता है और गणधर से तीर्थंकर की दिव्यवाणी शोभायमान होती है, उसी प्रकार गणधरपरमेष्ठी में लीन मनुष्य भी संवेग से शोभायमान होवे।

शब्दार्थ–अयः=शुभप्रदकर्म, नायक=नेता, श्रेष्ठहार के मध्य की मणि। विनायक=जिन, बुद्ध और गरुड़।

मुनितात्मनि शान्तेन, स्थितेन च निशेशेन निशान्तेन।
विरवोऽपि निशान्ते नः, सत्कवेः कविता निशान्तेन ॥३०॥

अन्वयार्थ–(नः!) हे पुरुष आत्मन्! **(आत्मनि)** शुद्धात्मस्वरूप में **(स्थितेन)**स्थित **(शान्तेन)** शान्त **(अन्तेन)** धर्मरूप, स्वरूप से **(मुनिता)** मुनित्व, **(निशेशेन)** निशा–रात्रि के, ईश–चन्द्रमा से **(निशा)** रात्रि **[भातु]** सुशोभित होती है **(शान्तेन)** शान्तरस से **(सत्कवेः)** श्रेष्ठ कवि की **(कविता)** काव्य **(च)** इस प्रकार और **(निशान्ते)** निशा के अन्त में–प्रभात में **(विरवः)** वि–पक्षी गणों का रवः–शब्द–कलरव **[प्रभातु]** शोभित होता है। इसी प्रकार संवेग भावना से मुनिराज **(अपि)** भी शोभित होते हैं।

भावार्थ–हे जिनेन्द्र! आत्मा में स्थित शान्त धर्म से जिस प्रकार मुनिता (मुनिपद) सुशोभित होती है, चन्द्रमा से जिस प्रकार रात्रि सुशोभित होती है, शान्तरस से जिस प्रकार सुकवि की कविता सुशोभित होती है और प्रातःकाल से जिस प्रकार पक्षियों का कलरव सुशोभित होता है, उसी प्रकार संवेग से मुनि सुशोभित हो।

माला सुमेरु मणि से जिस भाँति भाती, वाणी गणेश मुख से जिन की सुहाती।
संवेग से मनुज भी उस भाँति भाता, जो है सदैव जिनका गुणगीत गाता ॥२९॥
बोलें विहंगम, उषा मन को लुभाती, शोभावती वह निशा शशि से दिखाती।
हो पूर्ण शान्तरस से कविता कहाती, शुद्धात्म में मुनि रहें मुनिता सुहाती ॥३०॥

भवोरुवनधनञ्जयः, कर्मकौरवगर्वान्तधनञ्जयः।
ततो निजं धनं जय, ह्ययं करणभेकधनञ्जयः॥३१॥

अन्वयार्थ– (अयं) यह संवेग **(करणभेकधनञ्जयः)** करण–इन्द्रियरूपी, भेक–मण्डूकों को नष्ट करने के लिए, धनञ्जय–सर्प के समान है **(कर्मकौरवगर्वान्तधनञ्जयः)** कर्मरूपी कौरव के गर्व–मद को, अन्त–नष्ट करने के लिए, धनञ्जय–अर्जुन के समान है। **(भवोरुवनधनञ्जयः)** भव–संसाररूपी, उरुवन–विशाल वन को जलाने के लिए, धनञ्जय–अग्नि के समान है। ऐसे **(ततः)** उस संवेग से **(निजं धनं)** निजात्मधन को हे भव्य! तू **(हि)** निश्चय से **(जय)** आत्मसात कर।

भावार्थ–यह संवेग इन्द्रियरूप मेंढ़कों को नष्ट करने के लिए नाग है, कर्मरूपी कौरवों के गर्व को नष्ट करने के लिए अर्जुन है और संसाररूपी वन को भस्म करने के लिए अग्नि है, इसलिए आत्मधनस्वरूप संवेगभाव जयवन्त हो।

चिदानन्दोषाकरो, ऽयमशेषदोषोन! सदोषाकरः।
विलसत्वदोषाकरो, दोषायां न नु दोषाकरः॥३२॥

अन्वयार्थ– (अशेषदोषोन!) अशेष–समस्त दोषों से, ऊन–रहित हे निर्दोष देव! **(अयं)** यह संवेण गुण **(चिदानन्दोषाकरः)** चिदानन्द को प्रकट करने के लिए, उषाकरः–प्रभात करने वाला प्रभातकाल है, **(सदा)** सतत **(उषाकरः)** उषा–कामीजनों को, अक–दुख को, र–देने वाला है क्योंकि कामी जन रात्रि में सुखी होते हैं **(अदोषाकरः)** दोषाकर–चन्द्रमा तो दोषाकर–दोषों का, आकर–खान है ऐसे दोषों से अतीत यह संवेग अदोषाकर है। **(अतः)** इसलिए संवेग **(विलसतु)** सदा शोभायमान होता रहे। **(दोषायां)** रात्रि में **(दोषाकरः)** चन्द्रमा **(न नु)** नहीं शोभित हो।

भावार्थ–हे समस्त दोषों से रहित जिनेन्द्र! यह संवेगभाव, चिदानन्द–आत्मानन्द को प्रकट करने के लिए प्रभातकाल है, सदा कामी मनुष्य को दुःख देने वाला है और अवगुणों की खान नहीं है, अतः सुशोभित हो, किन्तु रात्रि में चन्द्रमा सुशोभित न हो।

ज्यों मारता सहज अर्जुन कौरवों को, संवेग त्यों दुरित कर्म अरातियों को।
दावा यथा सघन कानन को जलाता, संसाररूप वन को यह भी मिटाता॥
ज्यों नाग नाम सुन मेंढक भाग जाता, त्यों ही कषाय इसके नहिं पास आता।
ऐसी विशेष महिमा इसकी सुनी रे! संवेगरूप धन पा बन जा धनी रे! ॥३१॥
संवेग है परम सौख्यमयी उषा का, धाता, परन्तु शशि है दुखदा निशा का।
निर्दोष है यह सदा शशि दोष धाम, संवेग श्रेष्ठ शशि से लसता ललाम ॥३२॥

जितको दृग्भयानकः, पापाब्धिवाडवोऽयं भयानकः।
अवतीति विभया न कश्चञ्चलमनोमृगभयानकः ॥३३॥

अन्वयार्थ– (विभयाः!) भयों से मुक्त जिन! **(अयं)** यह संवेग **(दृग्भया)** दृग्–सम्यग्दर्शन की, भा–कान्ति से **(जितकः)** क–सूर्य को, जित–जीतने वाला है **(अनकः)** अक–पाप और दुख से, अन्–रहित है **(भयानकः)** भयंकर **(पापाब्धिवाडवः)** पापरूपी अब्धि–समुद्र को सोखने के लिए, वाडवः–बड़वानल की तरह है और **(चञ्चलमनोमृगभयानकः)** चंचल मनरूपी मृग के लिए, भयानकः–शार्दूल–सिंह के समान है **(इति)** ऐसा **[कः]** कौन पुरुष **(न अवति)** नहीं जानता है ? अर्थात् सभी जानते हैं।

भावार्थ–हे विभय! भय से रहित जिनेन्द्रदेव! यह संवेगभाव सम्यग्दर्शन की दीप्ति से सूर्य को जीतने वाला है, पाप या दुःख से रहित है, भयानक है, पापरूप समुद्र को सुखाने के लिए बड़वानल है और चञ्चल मनरूपी मृग के लिए भयानक शार्दूल है, यह कौन नहीं जानता?

संसारदेहभोगेभ्यो, भीतिर्भवेत् सतां परा।
यत् सा सदेह भोऽघेभ्यो, हीतिर्भवेऽमिता खरा ॥३४॥

अन्वयार्थ–(भो) जिनवर! **(संसारदेहभोगेभ्यः)** संसार, शरीर और पंचेन्द्रिय के विषयरूप भोगों से **(सतां)** साधु–सन्तों को **(परा)** उत्कृष्ट **(भीतिः भवेत्)** भय होता है **(यत्)** जिस कारण से **(इह भवे)** इस लोक में उन्हें **(सदा)** निरन्तर **(अघेभ्यः)** पापों से **(अमिता)** अपरिमित **(खरा)** तीक्ष्ण कष्टदायिनी **(सा)** वह लोकप्रसिद्ध **(हि)** वास्तव में **(ईतिः)** पीड़ा होती है।

भावार्थ–हे भगवन्! संसार, शरीर और भोगों से सत्पुरुषों को सदा भय रहे, जिससे इस संसार में पापों से उसे अपरिमित एवं सातिशय पीड़ा हो, पापों से पलायन हो।

सम्यक्त्वज्योति बल से रवि को हराता, है तेज वाडव भवाम्बुधि को सुखाता।
चाञ्चल्यचित्त मृग को यह व्याघ्र खाता, संवेग आत्मिक महासुख का विधाता॥३३॥
संसार से स्वतन से जड़ भोग से वे, होते निरीह बुध हैं इनको न सेवें।
पीड़ा अतीव इनसे दिन रैन होती, शीघ्रातिशीघ्र बुझती निजबोध ज्योति॥३४॥

ज्वलतात्र शङ्करेण, त्यागो ह्यनाधृतोऽतोऽशङ्करेण।
जगत् सुखि शङ्करेण, त्रिशूलमहताऽशङ्करेण॥३५॥

अन्वयार्थ–(अशङ्क!) हे शंकातीत जिनवर! **(अत्र)** इस जगत् में **(रेण)** कामाग्नि से **(ज्वलता)** जलते हुए **(शङ्करेण)** नामधारी शंकर ने **(हि)** यथार्थ में **(त्यागः)** धर्म ही **(अनाधृतः)** धारण नहीं किया **(अतः)** इस कारण से **(त्रिशूलमहता)** माया, मिथ्या, निदानरूप त्रिशूल से सहित **(अशङ्करेण)** शं–धर्म को, न शं–अशं–अधर्म को, करेण–करने वाले अधर्मी **(शङ्करेण)** शं–हिंसा को, कर–करने वाले शंकर से **(जगत्)** संसार **(सुखि)** क्या सुखी है? कदापि नहीं। अर्थात् शस्त्रधारी अभयप्रदाता नहीं हो सकता।

भावार्थ– हे अशंक! इस जगत् में कामाग्नि से जलते हुए शिव ने त्यागधर्म का अनादर किया, इसलिए त्रिशूलधारी और हिंसाकारी शंकर से जगत् सुखी है क्या? अर्थात् नहीं है।

विदधानमामोदकं, नासां कुसुममिव रसनां मोदकम्।
मोदयतु मा मोदकं, तृषितमिह नुतसमामोदकम् ॥३६॥

अन्वयार्थ– (नुतसम!) हे सर्वजन संस्तुत! **(अम!)** म–बंध, अ–रहित हे निर्बन्ध जिन! **(इह)** लोक में **(नासां)** नासिका को प्रिय **(आमोदकं)** सुगंध **(विदधानं)**धारण करने वाला **(कुसुमं)** पुष्प, **(रसनां)** जिह्वा को **(मोदकं)** लड्डु, **(तृषितं)** प्यासे को **(मोदकं)** प्रमुदित करने वाला **(उदकम् इव)** जल के समान **[अयं]** यह त्यागधर्म **(मा-मां)** मुझे **(मोदयतु)** प्रमुदित–आनंदित करे।

भावार्थ–हे नुतसम! सबके द्वारा स्तुत! हे अम! हे बन्धन से रहित! जिस प्रकार सुगन्धित पुष्प नासिका को, लड्डू रसना को और पानी प्यासे मनुष्य को प्रमुदित करता है, उसी प्रकार यह त्यागधर्म मुझे प्रमुदित करे।

कामाग्नि से जल रहा यदि पूर्ण रागी, धाता नहीं वह न शंकर है न त्यागी।
तो विश्व का अमित दुःख त्रिशूलधारी, कैसे मिटाकर, बने स्वपरोपकारी ? ॥३५॥
ले क्षीर स्वाद रसना अति मोद पाती, पा फूल फूल-सम नासिक फूल जाती।
संतुष्ट ओ तृषित शीतल नीर से हो, मेरा सुतृप्त मन तो अघ त्याग से हो ॥३६॥

मोदेऽमुनाहमधुना, नासानन्दनेनेवाम्रमधुना।
लता कोकिलो मधुना, नन्दनो जननीस्तनमधुना ॥३७॥

अन्वयार्थ–(नासानन्दनेन) घ्राण को आनन्द देने वाले **(आम्रमधुना)** रसाल आम के, मधुना–मकरन्द से **(कोकिलः)** कोयल, **(जननीस्तनमधुना)** माता के स्तन से निकले, मधुना–क्षीर से, दूध से **(नन्दनः)** पुत्र, **(मधुना)** जल से मुदित हुई **(लता इव)** बेल के समान **(अहं)** मैं **(अधुना)** इस समय **(अमुना)** इस त्याग धर्म से **(मोदे)** प्रसन्न हो रहा हूँ।

भावार्थ–जिस प्रकार घ्राण को आनन्द देने वाले आम के मकरन्द से कोयल, माँ के स्तन से निकले दूध से बालक और जल से लता प्रसन्न होती है, उसी प्रकार मैं इस समय इस त्यागधर्म से प्रसन्न हो रहा हूँ।

शमयति नान्नं वसुकं, ह्यतिघृतयुतमपि गतमधिकं वसुकम् ।
तथा भवक्षुद्वसुकं, श्रुतोनो यियासो स्ववसुकम् ॥३८॥

अन्वयार्थ– (अधिकं) अधिक **(वसुकं)** लवण **(गतं)** युक्त और **(अतिघृतयुतं)** अतिघृत संयुक्त **(हि अपि)** भी **(वसुकं अन्नं)** भोजन जिस प्रकार क्षुधा को **(न शमयति)** शान्त नहीं करता **(तथा)** उसी प्रकार **(स्ववसुकं)** आत्मधन को **(यियासोः)** प्राप्त करने के इच्छुकजनों का **(श्रुतोनः)** श्रुत–शास्त्र से, ऊन–विरुद्ध यह त्याग **(भवक्षुद्वसुकं)** भव–संसार की, क्षुद्–क्षुधारूपी, वसुकं–अग्नि को **(न शमयति)** शान्त नहीं करता है।

भावार्थ–जिस प्रकार अधिक नमक और अधिक घी से युक्त होने पर भी अन्न क्षुधा को शान्त नहीं करता है, उसी प्रकार हे आत्मधन को प्राप्त करने के इच्छुक साधो! शास्त्रविरुद्ध त्याग भी संसार की भूखरूप अग्नि को शान्त नहीं करता है।

संतुष्ट बाल जननीस्तनपान से हो, फूले लता ललित लो! जलस्नान से हो।
हो तुष्ट आम्रकलिका लख कोकिला वे, मेरा कषाय तज के मन मोद पावे॥३७॥
शास्त्रानुसार यदि त्याग नहीं बना है, लो! दुःख ही न मिटता उससे अहा है।
जो अन्नसार रस से अति ही भरा है, भाई कभी न मिटती उससे क्षुधा है॥३८॥

समुदिता सह साधुना, समताश्रीर्नेन वचसा साधुना।
मयावसिता साधुना, साधुनाऽसाधुना साऽधुना ॥३९॥

अन्वयार्थ– **(साधुना)** वृद्ध **(नेन)** पूज्य गुरुदेव के द्वारा अथवा वृद्ध पुराण पुरुष के द्वारा **(साधुना)** श्रुतिमधुर–कर्णों को प्रिय **(वचसा सह)** वचनों के साथ **(समताश्रीः)** साम्यभावरूपी लक्ष्मी **(समुदिता)** प्राप्त की गई थी किन्तु **(सा)** वह समतारूपी लक्ष्मी **(अधुना मया)** मुझ **(असाधुना)** युवा **(साधुना)** मुनि के द्वारा **(साधुना)** अच्छी तरह से **(अवसिता)** पूर्ण सेवित है अथवा समाप्त–सम्यक् रूप से प्राप्त की गई है। जो समता लक्ष्मी वृद्ध ज्ञानसागरजी गुरु के द्वारा प्राप्त की गई वह आज मुझ युवा मुनि के द्वारा भी प्राप्त की गई है। अवसिता=अव–पूर्णरूप से, सिता–प्राप्त–ज्ञात।

भावार्थ–वृद्ध, जिनेन्द्र और श्रुति मधुर अथवा पूर्वापर विरोध से रहित वचन के साथ समतारूपी लक्ष्मी प्रकट हुई थी परन्तु मुझ युवा साधु के द्वारा वह समतारूपी लक्ष्मी इस समय सम्यक्रूप से पूर्ण तरह से प्राप्त हो रही है।

सत्यस्मिन्नेव संत्याग, आलोको भास्करे यथा ।
सत्यं मुने ह्यसङ्गाङ्ग, व्यलोलं भातु रे ! तथा ॥४०॥

अन्वयार्थ– **(अङ्ग)** हे! **(असङ्ग मुने!)** निर्ग्रन्थ यते! **(यथा)** जिस प्रकार **(भास्करे)** सूर्य के **(सति)** रहने पर **(आलोकः)** प्रकाश **(भातु)** शोभित होता है **(तथा)** उसी प्रकार **(अस्मिन्)** इस **(संत्यागे)** त्याग भावना के **(सति एव)** होने पर भी **(हि)** यथार्थ में **(सत्यं)** सत्य धर्म **(रे)** हे भव्यो! **(व्यलोलं)** वि–विशेष रूप से, अलोल–चंचलता से रहित अतिस्थिर **(भातु)** शोभित होता रहे।

भावार्थ–अंग असंग मुने! जिस प्रकार सूर्य के रहते प्रकाश सुशोभित रहता है, उसी प्रकार इस त्यागधर्म के रहते हुए सत्यधर्म निश्चय से अत्यन्त स्थिर सुशोभित रहे।

क्या साधु से सुबुध से ऋषि से यमी से, भाई! प्रशंसित रही समता सभी से।
सौभाग्य है मम घड़ी शुभ आ गई है, सर्वांग में सुसमता सुसमा गई है॥३९॥
मैं वीतराग बन के मन रोकता हूँ, तो सत्य तथ्य निजरूप विलोकता हूँ।
आलोक हो अरुण ओ जब जन्म लेता, अज्ञात को नयन भी झट देख लेता॥४०॥

स्थितिर्निजात्मनि काये, तपो न मुनेः क्षणान्तात्मनि काये।
रता वदन्ति निकाये,ऽन्यथा त्विति व्यथा मुनिका ये॥४१॥

अन्वयार्थ– (क्षणान्तात्मनि) क्षणभंगुर स्वभाव वाले **(काये)** शरीर में **(स्थितिः)** स्थित रहने का भाव **(मुनेः)** मुनि का **(तपः)** तप **(न)** नहीं है किन्तु **(काये)** शुद्धज्ञान स्वरूप **(निजात्मनि)** निजात्मा में **(स्थितिः)** ठहरना **(तपः)** तप है। **(अन्यथा तु)** अन्य प्रकार से तो अर्थात् आत्मा को छोड़कर अन्य पदार्थों में रमने से तो **(व्यथा)** कष्ट-पीड़ा होती है **(इति)** ऐसा **(निकाये)** स्वात्मा में **(ये)** जो **(रताः)** निमग्न हैं वे **(मुनिकाः)** मुनिराज **(वदन्ति)** कहते हैं। मुनि शब्द में क प्रत्यय जोड़ने से मुनिक शब्द बनता है।

शब्दार्थ–काय=स्वभाव, शरीर। निकाय=स्वात्मा, स्थान।

भावार्थ–''क्षणभंगुर शरीर में स्थित रहना-उसमें ममत्व रखना मुनि का तप नहीं है किन्तु निजात्मा में रहना तप है, अन्यथा पीड़ा होती है'' ऐसा स्वभाव में स्थित मुनि कहते हैं।

तापसोऽतो विनाऽशं, तपनतापतापिततनुर्विनाशम्।
उद्गच्छतु भुवि नाशं, विहाय विलम्बेन विना शम् ॥४२॥

अन्वयार्थ– (अतः) इस कारण से **(तपनतापतापिततनुः)** तपन-सूर्य के ताप से तापित-तप गया है, तनु-शरीर जिसका ऐसा **(तापसः)** तपस्वी साधु **(अशं विना)** अहिंसा-दया के बिना **(विनाशं)** विनाश को **(उद्गच्छतु)** प्राप्त होता है क्योंकि दया के बिना तप व्यर्थ है। **(भुवि)** पृथ्वी पर **(ना)** पुरुष **(शं)** हिंसा को **(विहाय)** त्यागकर **(विलम्बेन विना)** विलम्ब के बिना शीघ्र **(शं)** धर्म को, कल्याण को, शान्ति को प्राप्त करे। श-शतायुष में, हिंसा में और शं-धर्म के अर्थ में है।

भावार्थ– अतः सूर्य के सन्ताप से सन्तापित है शरीर जिसका, ऐसा साधु दया के बिना विनाश को प्राप्त हो, पृथ्वी पर मानव हिंसा को छोड़कर विलम्ब के बिना-शीघ्र ही धर्म या कल्याण को प्राप्त हो।

शुद्धात्म में स्थिति सही तप ही वही हो, तो नश्यमान तन में रुचि भी नहीं हो।
ऐसा न हो सुख नहीं दुख ही अतीव, हैं वीतराग गुरु यों कहते सदीव॥४१॥
आतापनादि तप से तन को तपाया, योगी बना, बिन दया निज को न पाया॥
पाया नहीं सुख कभी बहु दुःख पाया, होता अहिंसक सुखी जिनदेव गाया ॥४२॥

न यातिलुञ्चिताङ्गजं, परीषहजयिनं श्रीः कलिताङ्गजम् ।
वहन्तमविभुताङ्गजं, सतां स्तुतिं गताऽजिताङ्गजम् ॥४३॥

अन्वयार्थ– (सतां स्तुतिं गत!) हे साधुजनों से स्तुति को प्राप्त प्रभो! जो **(अविभुताङ्गजं)** अप्रभुतारूपी, अंगजं–रोग को **(वहन्तं)** धारण कर रहा है **(लुञ्चिताङ्गजं)** जिसने अंगजं–केशों का, लुञ्चित–लुञ्चन किया है, जो **(कलिताङ्गजं)** अंगजं–स्वेद–पसीना से, कलित–सहित है, युक्त है **(परीषहजयिनं)** क्षुधादि २२ परीषहों को जीतता है किन्तु **(अजिताङ्गजं)** जिसने अंगज–काम विकार को, अजित–नहीं जीता है उसको **(श्रीः)** अन्तरंग–मोक्ष लक्ष्मी **(न याति)** नहीं प्राप्त होती है।

भावार्थ–हे साधुस्तुत्य! जो अविभुतारूप रोग को धारण कर रहा है, जिसने केशों का लोंच किया है, जो पसीना को धारण किए हुए है, जो परीषहों को जीतने वाला है, किन्तु अंगज- काम को जिसने नहीं जीता है, ऐसे साधु को बहिरंग एवं अन्तरंग लक्ष्मी प्राप्त नहीं होती।

सतेति किं न वा सितं, नैत्ययो रसाद्धेमतां वासितम्।
उपधिना न नु वासितं, तपसोऽपि च सिततां वा सितम् ॥४४॥

अन्वयार्थ– (वासितं) वस्त्र से वेष्टित **(अयः)** लोहतत्त्व **(रसात्)** रसायन से **(हेमतां)** स्वर्णता को **(न एति च)** नहीं प्राप्त होता है तथा **(उपधिना)** परिग्रह से **(सितं)** बद्ध–बंधा हुआ **(वासितं)** ज्ञान **(अपि)** भी **(तपसः)** तपश्चरण की **(सिततां)** धवलता–उज्ज्वलता को **(न एति)** नहीं प्राप्त करता **(इति)** ऐसा **(सता)** साधुओं के द्वारा **(किं)** क्या **(नु)** यथार्थ में **(न सितं)** नहीं जाना गया है? जाना गया है। वा समुच्चय के अर्थ में है।

शब्दार्थ–वासित शब्द ज्ञान, वस्त्र वेष्टित, सुगन्धिकृत अर्थ में है। सित शब्द श्वेत, समाप्त, ज्ञान और बद्ध इन अर्थों में है। यह तीनों लिंगों में चलता है।

भावार्थ–वस्त्र से वेष्टित लोहा रसायन से सुवर्णता को प्राप्त नहीं होता और परिग्रह से बद्ध–सहित ज्ञान तप की उज्ज्वलता को प्राप्त नहीं होता, ऐसा क्या साधु ने नहीं जाना? अपितु जाना है।

दीखे परीषहजयी वह देखने में, है लीन यद्यपि महाव्रत पालने में।
लक्ष्मी उसे तदपि है वरती न स्वामी, जो मूढ़ है विषय लम्पट भूरिकामी ॥४३॥
लोहा सुवेष्टित रहे यदि वस्त्र से जो, होगा नहीं कनक पारस संग से ओ।
तो संग के सहित जो तप भी करेंगे, ना आत्म को परम पूत बना सकेंगे ॥४४॥

यथा दहति सदागति-, प्रेरितो वनजो वनं सदागतिः।
विधिततिमिति सदागतिः, सदागतिष्वाह सदागतिः॥४५॥

अन्वयार्थ— (सदागतिप्रेरितः) वायु से प्रेरित **(वनजः)** वन में उत्पन्न **(सदागतिः)** अग्नि **(यथा)** जिस प्रकार **(वनं दहति)** वन को जलाती है उसी प्रकार सुतप **(विधिततिं)** कर्मसमूह को **(दहति)** जलाता है **(इति)** ऐसा **(सदागतिषु)** मुनियों में **(सदागतिः)** प्रधान ईश्वरस्वरूप **(सदागतिः)** आचार्य ने **(आह)** कहा है।

सदागति–यह शब्द वायु, अग्नि, मुनि, ईश्वर और निर्वाण के अर्थ में है।

भावार्थ— जिस प्रकार वायु से प्रेरित वन की अग्नि वन को जला देती है, उसी प्रकार तप कर्मसमूह को जला देता है–इस प्रकार मुनियों में ईश्वरस्वरूप आचार्य ने कहा है।

दृशान्वितं विदो युक्तं, सत् तपो गीयते ह्यतः।
आशातीतं ह्यदो व्यक्तं, पूतधीर्गीर्यते सतः॥४६॥

अन्वयार्थ— (उ पूतधीःयते!) हे पवित्रमते मुने! पूत–पवित्र है, धी–बुद्धि जिनकी ऐसे हे मुने! **(दृशान्वितं)** सम्यग्दर्शन से युक्त, **(विदा युक्तं)** सम्यग्ज्ञान से युक्त**(हि)** यथार्थ **(आशातीतं)** तृष्णा से रहित है और **(व्यक्तं)** स्पष्ट **है (अतः)** इसीलिए **(अदः)** यह **(हि)** ही **(सत्)** समीचीन **(तपः)** तप **(गीयते)** कहलाता है **(इति)** ऐसी **(सतः)** सन्तों की **(गीः)** भारती है।

भावार्थ—हे पवित्र बुद्धि से युक्त! जो सम्यग्दर्शन से सहित है, सम्यग्ज्ञान से युक्त है और इसीलिए जो तृष्णा से परे है, सुव्यक्त है, वही उत्तम तप कहलाता है, ऐसी साधु की वाणी है।

दावा यथा वनज हो वन को जलाता, भाई तथा तप सही तन को जलाता।
सम्यक्त्व पूर्ण तप की महिमा यही है, देवाधिदेव जिन ने जग को कही है॥४५॥
आशा निवास जिसमें करती नहीं है, सम्यक्त्वबोध युत जो तप ही सही है।
ऐसा सदैव कहती प्रभु सन्त वाणी, तृष्णा मिटे, झटिति पी अति शीत पानी॥४६॥

साधोः समाधिकरणं, सुखकरं च गुणानामाधिकरणम्।
न कृतागमाधिकरणं, करणोन! नु कामाधिकरणम् ॥४७॥

अन्वयार्थ–(कृतागम!) हे आगम के रचने वाले गुरो! **(करणोन!)** करण–इन्द्रिय विषय से, ऊन–रहित हे मुने! **(सुखकरं)** सुख को उत्पन्न करने वाला **(गुणानां)** वात्सल्यादि गुणों का **(आधिकरणं)** आधार **(कामाधिकरणं)** काम–इच्छित मनोरथों का, आधिकरणं–पूरक **(न च)** और न **(आधिकरणं)** मानसिक व्यथा का आधार है ऐसी **(नु)** निश्चय से ही **(साधोः)** साधु की **(समाधिकरणं)** समाधिकरण भावना है।

भावार्थ– हे कृतागम! आगम के रचयिता! हे करणोन! इन्द्रियविषयों से रहित! जो सुखकारी है, गुणों का आधार है, मनोरथों का पूरक है और मानसिक व्यथा को करने वाला नहीं है, वही साधु की साधुसमाधि नामक भावना है।

सर्वमन्यद् व्यलीकं,ह्यदो विहाय विपश्चितां व्यलीकम्।
अताम्येतद् व्यलीकं, कदाप्यनिच्छन् भुव्यलीकम् ॥४८॥

अन्वयार्थ–(विपश्चितां) सम्यग्ज्ञानियों द्वारा आचरित कथित **(अदः)** इस साधुसमाधि साधन भावना को **(विहाय)** छोड़कर **(हि)** निश्चय से **(अन्यत्)** अन्य **(सर्वं)** सम्पूर्ण पर पदार्थ **(व्यलीकं)** अकार्य और **(व्यलीकं)** अप्रिय हैं। इसलिए **(भुवि)** पृथ्वी पर **(अलीकं)** मिथ्या **(व्यलीकं)** स्वर्ग को **(कदापि)** कभी भी **(अनिच्छन्)** नहीं चाहता हुआ मैं **(एतत्)** इस साधुसमाधि भावना को **(अतामि)** प्राप्त होता हूँ।

व्यलीक–अप्रिय, अकार्य। **अलीक–**मिथ्या, अप्रिय।

भावार्थ–विद्वानों के लिए इस साधुसमाधि को छोड़कर अन्य सब अकार्य हैं, अप्रिय हैं। मैं पृथ्वी पर व्यर्थ स्वर्ग की इच्छा न करता हुआ इस साधुसमाधि को प्राप्त होता हूँ।

साधू समाधि करना भव मुक्त होना, पा कीर्ति पूजन गुणी बन दुःख खोना।
ऐसा जिनेश कहते शिवमार्गनेता, वेत्ता बने जगत के मन अक्ष जेता॥४७॥
ये आधि व्याधि समुपाधि सभी अनादि, से आ रही, पर मिली न निजी समाधि।
चाहूँ समाधि, नहिं नाक नहीं किसी को, चाहें सभी चतुर चेतन भी इसी को॥४८॥

यो मदादिं न मन्तुं, मुञ्चति भुवीशो गन्तुं न मन्तुम्।
तदूनस्तं न मन्तुं, जातु स्वमिच्छामि नमन् तुम्॥४९॥

अन्वयार्थ— **(भुवि)** पृथ्वी पर **(यः)** जो **(तदूनः)** तत्-साधुसमाधि करण से, ऊन-रहित है **(मदादिं)** अहंकारादि भाव को और **(मन्तुं)** अपराध को **(न मुञ्चति)** नहीं छोड़ता है वह **(मन्तुं)** परमेष्ठी स्वरूप परमात्मा को **(गन्तुं)** प्राप्त करने के लिए **(ईशः)** समर्थ **(न)** नहीं होता है। **(स्वं)** स्वयं को **(नमन्)** नमस्कार करने वाले **(तुं)** चौर स्वरूप **(तं)** उस **(मन्तुं)** मानव को **(कदाचित्)** कभी भी **(न इच्छामि)** नहीं चाहता हूँ।

भावार्थ—जो साधुसमाधि से रहित हो अहंकार आदि अपराध को नहीं छोड़ता है वह परमेष्ठी को प्राप्त करने में समर्थ नहीं है। स्वकीय आत्मा को नमन करता हुआ मैं उस चौर मानव-परपदार्थों को अपना मानने वाले मानव की कभी इच्छा नहीं करता।

ततस्तदाप्त्यै भगतस्, तिष्ठाम्यहमतिदूरं न तु भगतः।
एवास्यचलन् भगतः, परमपदमपीह वृषभ! गतः॥५०॥

अन्वयार्थ— **(ततः)** उस कारण से **(तदाप्त्यै)** उस साधुसमाधि भावना की प्राप्ति के लिए **(अहम्)** मैं **(भगतः)** भग-यश, तः-से **(अतिदूरं)** अतिदूर **(तिष्ठामि)** रहता हूँ **(तु)** किन्तु **(भगतः)** वैराग्य से **(न)** नहीं। **(हे वृषभ!)** हे पुरुदेव! **(भगतः)** धर्म से **(अचलन् एव)** विचलित नहीं होते हुए **(इह)** इस जगत् में आप **(परमपदं)** श्रेष्ठ मोक्षपद को **(अपि)** भी **(गतः)** प्राप्त हुए **(असि)** हो।

भावार्थ— इसलिए उस साधुसमाधि की प्राप्ति के लिए मैं यश से अतिदूर रहता हूँ, वैराग्य से नहीं। हे वृषभजिनेन्द्र! धर्म से विचलित न होते हुए आप भी परमपद को प्राप्त हुए हैं।

मानी नहीं मुनि समाधि करा सकेगा, तो वीरदेव निज को वह क्या ? लखेगा।
सम्मान मैं न उसका मुनि हो करूँगा, शुद्धात्म को नित नितान्त अहो स्मरूँगा॥४९॥
वैराग्य का प्रथम पाठ अहो पढ़ाता, पश्चात् प्रभो प्रथम देव बने प्रमाता।
मैं भी समाधि सधने बनता विरागी, ऐसी मदीय मन में वर ज्योति जागी॥५०॥

पवनो गतः परागं, मुनिमितमिदमिव शस्यतेऽपरागम्।
गता तव गीः परागं, सुललनाकरलतेप! रागम् ॥५१॥

अन्वयार्थ–(ईप!) ई–लक्ष्मी, प–रक्षक–पति हे लक्ष्मीपति राजन्! **(परागं गतः)** पराग–सुगंधी को प्राप्त **(पवनः)** वायु, **(परागं)** लाल रंग वाली मेंहदी की लाली को **(गता)** प्राप्त **(सुललनाकरलता)** सुन्दर स्त्री की हथेली, **(तव)** आपके **(गं)** गीत को **(गता)** प्राप्त मेरी **(परा)** उत्कृष्ट **(गीः इव)** वाणी के समान **(अपरागं)** वीतराग **(मुनिं)** मुनि को **(इतं)** प्राप्त हुयी **(इदं)** यह साधुसमाधि करण भावना **(शस्यते)** प्रशंसनीय है।

भावार्थ– हे ईप! हे लक्ष्मीपते! जिस प्रकार पुष्परज को प्राप्त हुआ पवन, मेंहदी की लाली को प्राप्त हुई सुन्दर स्त्री की करलता और आपके गीत–गुणगान को प्राप्त हुई मेरी वाणी प्रशंसनीय है, उसी प्रकार वीतराग मुनि को प्राप्त हुई यह साधुसमाधि भावना प्रशंसनीय है।

भव्यकौमुददोषेशः, कामधेनुः सुरागकः।
दिव्यविद्मुक्तिदोमेश, मामटेन्नु तरां तु क ॥५२॥

अन्वयार्थ–(दिव्यविद्मुक्तिद!) हे दिव्य केवलज्ञान सहित मुक्ति प्रदायक अर्हन्! **(उमेश!)** हे उमा–कीर्ति के, ईश–स्वामिन्! **(क!)** हे ब्रह्मन्! **(भव्यकौमुददोषेशः)** भव्य जीव रूपी, कौमुद–कुमुद समूह को विकसित करने के लिए, दोषेश–चन्द्रमास्वरूप **(कामधेनुः)** इच्छित सुखप्रदात्री सुरगवी–सुरगायस्वरूप **(सुरागकः)** सुर–देवों का, अग–वृक्ष, सुरतरुस्वरूप साधुसमाधि करण भावना **(मां)** मुझे **(तरां)** अतिशय रूप से **(अटेत्)** प्राप्त हो। तु, नु पादपूर्ति के लिए हैं।

भावार्थ–हे दिव्यज्ञान और मुक्ति के दाता! हे कीर्ति के स्वामी! हे ब्रह्मन्! हे जिनेन्द्र! भव्यरूप कुमुदसमूह को चन्द्रमा, कामधेनु और कल्पवृक्ष रूप यह साधुसमाधि मुझे निश्चय से अच्छी तरह प्राप्त हो।

लाली लगे कर-लता अति शोभती है, शोभे जिनेन्द्र नुति से मम भारती है।
होता परागवश वात सुगंधवाही, शोभा तभी मुनि करे मुनि की समाधि॥५१॥
है भव्यकौमुद शशी जग में समाधि, है कामधेनु सुर पादप से अनादि।
कैसे मुझे यह मिले कब तो मिलेगी? हे वीर देव! कब ज्ञानकली खिलेगी॥५२॥

यथोद्यत इह रोहितः, सततं जगतां नु हिताय रोहितः।
वान्तस्वार्थरोहितः, सत्सेवको भव परो हितः ॥५३॥

अन्वयार्थ– (यथा) जिस प्रकार **(इह)** लोक में **(रोहितः)** वीर **(जगतां)** जगज्जन के **(हिताय)** हित के लिए **(रोहितः)** सूर्य जगज्जन के हित के लिए **(नु)** निश्चय से **(उद्यतः)** तत्पर रहता है उसी प्रकार हे आत्मन्! तू भी **(वान्तस्वार्थरोहितः)** वान्त–वमन किया है, स्वार्थ रूपी, रोहित–रुधिर को जिसने ऐसा होता हुआ भव्य जीवों के **(हितः)** हित करने में **(परः)** तत्पर **(सत्सेवकः)** श्रेष्ठ साधुओं का सेवक–वैयावृत्ति करने वाला **(भव)** हो।

भावार्थ–जिस प्रकार इस जगत् में वीर राजा जगत् जनों के हित के लिए उद्यत रहता है अथवा उगता हुआ सूर्य जगत् के हित के लिए तत्पर होता है, उसी प्रकार हे आत्मन्! तू स्वार्थरूपी रुधिर को वमन करता हुआ जगत् का हितकारी उत्कृष्ट सेवक हो।

मम तमितमुरःकुमुदं, तदूनमञ्चे न जितमनःकुमुदम्।
बन्धुरयति किं कुमुदं, नलिनीदलनन्दनं कुमुदम् ॥५४॥

अन्वयार्थ–(तदूनं) साधुसेवा नहीं करने वाले को **(न अञ्चे)** नहीं पूजता हूँ किन्तु **(जितमनःकुमुदं)** जित–जीत लिया है, मनः–मन के, कुमुद–कुत्सित हर्ष विषयानन्द को जिसने ऐसे **(मम)** मेरे **(उरःकुमुदं)** हृदय कैरव–पुष्प को **(इतं)** प्राप्त **(तं)** उन जिन को पूजता हूँ **(किं)** क्या **(बन्धुः)** परिजन **(कुमुदं)** कृपण को और **(कुमुदं)** कैरव–चन्द्रविकासी पुष्प **(नलिनीदलनन्दनं)** कमल दल को आनंदित करने वाले सूर्य के पास **(अयति)** जाता है? नहीं जाता है।

कुमुद शब्द कैरव और कृपण के अर्थ में भी है।

भावार्थ–साधुसेवा से रहित मानव की मैं पूजा नहीं करता, किन्तु मन के कुत्सित हर्ष–विषयानन्द को जीतने वाले अपने हृदयकुमुद में आये उन जिनेन्द्र की पूजा करता हूँ। क्या कुटुम्ब परिवार कृपण मनुष्य के पास जाता है? अथवा कैरव सूर्य के पास जाता है ? अर्थात् नहीं।

राजा प्रजाहित करे पर स्वार्थ त्यागे, देता प्रकाश रवि है कुछ भी न मांगे।
कर्तव्य मानकर तू कर साधु सेवा, पाले पुनः परम पावन बोधमेवा ॥५३॥
जो साधु सेवक नहीं उन मानियों को, चाहूँ न मैं, नित भजूं मुनि सज्जनों को।
क्या चाहता कृपण को परिवार प्यारा, क्या प्यार से कुमुद ने रवि को निहारा ॥५४॥

हरति दययाऽमा नतः, प्रक्षन्नमनो न! मनो मानतः।
यो मुनिगतामानतः, स मुक्तिमेत्यघतोऽमानतः॥५५॥

अन्वयार्थ–(हे अमनः!) मन रहित सर्वज्ञ! **(न!)** हे जिन! **(यः)** जो **(दयया)** दया के **(अमा)** साथ **(नतः)** नम्रीभूत **है, (मानतः)** मान कषाय से **(मनः)** मन को **(प्रक्षन्)** बचाता हुआ **(मुनिगतामान्)** मुनियों को, गत–हुए, अमान्–रोगों को **(हरति)** हरता है, दूर करता है वह **(अतः)** वैयावृत्ति करने से **(अमानतः)** अपरिमित **(अघतः)** पाप से **(मुक्तिं)** निवृत्ति को **(एति)** प्राप्त करता है। अथवा अ–ईषत्–थोड़े से, मान–ज्ञान से मुक्ति पाकर–छूटकर अपरिमित केवलज्ञान को प्राप्त करता है। **मान** शब्द–मानकषाय, ज्ञान, प्रमाण और परिमाण के अर्थ में है।

भावार्थ–हे अमनः न! हे भावमन से रहित जिनदेव! जो दया के साथ नम्रीभूत तथा गर्व से मन की रक्षा करता हुआ मुनियों के रोगों को हरता है–दूर करता है, वह इसके फलस्वरूप अपरिमित पाप से मुक्ति पा जाता है।

समौक्तिकोऽत्र कलिङ्गः, कलितः कमनीयमणिना कलिङ्गः।
दुर्लभो भुवि कलिङ्गस्तथा युतोऽनेन सकलिङ्गः ॥५६॥

अन्वयार्थ–(अत्र भुवि) इस धरती पर जैसे **(समौक्तिकः)** मुक्ताफलों से युक्त **(कलिङ्गः)** हाथी–गजराज **(दुर्लभः)** दुर्लभ है **(कमनीयमणिना)** सुन्दर फणमणि से **(कलितः)** सहित **(कलिङ्गः)** नाग–सर्प **(तथा)** उसी प्रकार **(अनेन)** इस वैयावृत्य से **(युतः)** युक्त **(सकलिङ्गः)** क–आत्मा का, लिंग–चिह्न निर्ग्रन्थ मुद्रा से स–सहित मुनि **(कलिङ्गः)** चतुरजन **(दुर्लभः)** दुर्लभ है।

कलिङ्ग–सर्प, हाथी, निर्ग्रन्थ मुद्रा, चतुरजन।

भावार्थ– जिस प्रकार इस भूमि पर मोतियों सहित हाथी और सुन्दर मणि से सहित नाग दुर्लभ है, उसी प्रकार इस वैयावृत्त्य से सहित निर्ग्रन्थ नग्नमुद्रा से सहित चतुरजन दुर्लभ है।

जो पूर्ण पूरित दयामय भाव से है, औ दूर भी विमलमानस मान से है।
सेवा सुसाधु जन की करता यहाँ है, होता सुखी वह अवश्य जहाँ तहाँ है ॥५५॥
ये साधु सेवक कहीं मिलते यहाँ हैं, जो जातरूप धरते जग में अहा है।
प्रत्येक नाग, मणि से कब शोभता है? प्रत्येक गज कब मौक्तिक धारता है? ॥५६॥

रतेन निजे पदे न, न्विदं शोभते च वस्तुतोऽपदेन।
सरसिजं षट्पदेन, पदेन जनपदोऽलं पदेन ॥५७॥

अन्वयार्थ–(न!) हे पूज्य भगवन्! **(वस्तुतः)** परमार्थ से **(निजेपदे)** निजस्वभाव में **(रतेन)** लीन **(अपदेन)** वस्त्ररूप पद से रहित–दिगम्बर निर्ग्रन्थ साधु द्वारा **(नु)** निश्चय से **(इदं)** यह वैयावृत्य **(शोभते)** शोभित होता है, जिस प्रकार **(सरसिजं)** कमल **(षट्पदेन)** भ्रमर से **(जनपदः)** देश **(पदेन)** व्यवसाय–उद्योग से शोभित होता है **(च)** और **(पदेन)** शब्दों से **(अलं)** क्या प्रयोजन/बस रहने दो अर्थात् निर्ग्रन्थ पद से ही वैयावृत्यकरण शोभित होता है।

शब्दार्थ- पद= स्वभाव, वस्त्र, चरण, व्यवसाय, शब्द, प्रतिष्ठा, वस्तु , स्थान, त्राण, रक्षा।

भावार्थ–हे न! पूज्य! जिनवर! यथार्थतः निज स्वभाव में लीन दिगम्बर-निर्ग्रन्थ साधु से ही यह वैयावृत्य सुशोभित होता है, उस प्रकार, जिस प्रकार कि भ्रमर से कमल और उद्योग से, देश सुशोभित होता है।

श्रेयसा मनसा साधोः, सेवा विधीयते मया।
जायतां मयि साऽबन्धोऽहं वा सुधीर्यते यया ॥५८॥

अन्वयार्थ– (यते!) हे श्रमण! **(श्रेयसा)** श्रेष्ठ **(मनसा)** मन से **(साधोः)** साधु–मुनि की **(सेवा)** वैयावृत्ति **(मया)** मेरे द्वारा **(विधीयते)** की जाये, **(यया)** जिस भावना से **(अहं)** मैं **(अबन्धः)** बन्ध रहित हो जाऊँ **(वा)** अथवा **(मयि)** मुझमें–काव्यकर्ता में **(सा)** वैयावृत्य परायणा **(सुधीः)** प्रशस्त बुद्धि **(जायतां)** उत्पन्न हो सके। **[इति ममानुमानं सम्यक्]** ऐसा मेरा अनुमान सम्यक् है।

भावार्थ–हे यते! श्रेष्ठ मन से मेरे द्वारा साधु की सेवा की जावे, जिस सेवा से मैं बन्धरहित हो जाऊँ और मुझमें वह सुबुद्धि उत्पन्न हो सके।

जैसा सरोज अलि से सबको सुहाता, उद्योग से जगत में यश देश पाता।
वैसा विराग मुनि से यह साधु सेवा, होती सुशोभित अतीव विभो सदैवा ॥५७॥
मैं काय से वचन से मन से सदैवा, सौभाग्य मान करता बुध साधु सेवा।
होऊँ अबन्ध भवबन्धन शीघ्र छूटे, विज्ञान की किरण मानस मध्य फूटे ॥५८॥

स्तुता यतिपतिनाऽऽगता, वस्तुगताश्च दशा गतानागताः।
निजं जयन्तु ना गता, यद्धियं बाधां विना गताः ॥५९॥

अन्वयार्थ– (आगताः) वर्तमान **(गताः अनागताः च)** भूत–अतीत और भविष्य सम्बन्धी **(वस्तुगताः)** द्रव्यगत **(दशाः)** पर्यायें **(बाधां विना)** बाधा के बिना **(यद्)** जिनकी **(धियं)** केवलज्ञान–बुद्धि को **(गताः)** प्राप्त हुई है **[ते]** वे **(नाः)** जिनेश्वर हैं। जो **(निजं)** निजस्वभाव को **(गताः)** प्राप्त कर चुके हैं **(यतिपतिना)** मुनिनायक–आचार्य के द्वारा **(स्तुताः)** संस्तुत है वे जिनेन्द्र भगवान् **(जयन्तु)** जयवन्त होवें।

भावार्थ–अतीत, अनागत और वर्तमान सम्बन्धी द्रव्यगत पर्यायें बिना किसी बाधा के जिनके ज्ञान में प्राप्त हैं, जो निज स्वभाव को प्राप्त कर चुके हैं और गणधरदेवों के द्वारा जो स्तुत हैं, वे जिनेन्द्र जयवन्त हों।

खगणः कामहा! लयं, त्वयेत इन इतोऽसि दृङ्महालयम्।
श्रिया तया महालयं, कुरुषेऽये त्वात्र महालयम् ॥६०॥

अन्वयार्थ– (कामहाः!) कामं जहाति इति कामहाः। हे जितकाम!–कामविजयिन् **(अत्र)** लोक में **(त्वया)** आपके द्वारा **(खगणः)** इन्द्रिय विषय समूह **(लयं)** विनाश को **(इतः)** प्राप्त हुआ है अतः आप **(दृङ्महालयं)** सम्यग्दर्शन रूप महाभवन को **(इतः)** प्राप्त हुए **(असि)** हो। **(तया श्रिया)** प्रसिद्ध मोक्ष लक्ष्मी के साथ **(महालयं)** महान्, लय–क्रीड़ा को **(कुरुषे)** करते हो इसलिए आप **(इनः)** स्वामी **(असि)** हो अतः मैं **(महालयं)** तीर्थस्वरूप आनन्द के भवन व मह–उत्सवों के आलय स्वरूप **(त्वा)** आपको शरण जानकर **(अये)** प्राप्त होता हूँ। **लय**–विनाश, आलिंगन,तल्लीन, श्लेष, गायन, नृत्य के अर्थ में है। **मह**–तेज, उत्सव,पूजा के अर्थ में है।

भावार्थ–हे मदनविजयिन्! इस जगत् में आपके द्वारा इन्द्रियों का समूह विनाश को प्राप्त हुआ है, अतः आप सम्यग्दर्शनरूप महाभवन को प्राप्त हैं। आप उस अनिर्वचनीय मोक्षलक्ष्मी के साथ आलिंगन करते हैं, अतः आप स्वामी हैं। इसीलिए उत्सवों के आलयस्वरूप आपको प्राप्त होता हूँ–आपकी शरण में आता हूँ।

बाधा बिना सहज से जिनसे निहारे, जाते अनागत गतागत भाव सारे।
शुद्धात्म में निरत जो जिनदेव ज्ञानी, वे विश्व पूज्य जयवन्त रहें अमानी ॥५९॥
हो पूर्ण इन्द्रियजयी जितकाम आप, पाके अनंत सुख को तज पापताप।
क्रीड़ा सदैव करते शिवनारि साथ, जोडूँ तुम्हें सतत हाथ, अनाथ–नाथ ॥६०॥

दक्षो दूरोऽक्षरतो,ऽतितापात् क्षितिं स्रवत् क्षरं क्षरतः।
तथा मामिहाक्षरतो, न रक्षरक्षाक्षरोऽक्षरतः ॥६१॥

अन्वयार्थ–जिस प्रकार **(इह)** इस लोक में **(क्षरतः)** मेघ से **(स्त्रवत्)** झरता हुआ **(क्षरं)** नीर **(अतितापात्)** तीव्र ताप से **(क्षितिं)** पृथ्वी की **(रक्षति)** रक्षा करता है **(तथा)** उसी प्रकार आप **(अक्षरतः)** जड़ शब्दों से **(दूरः)** दूर रहने वाले–वचनों के अगोचर–अविषय **(दक्षः)** चतुर **(न अक्ष-रतः)** अक्ष–इन्द्रिय विषयों में, रत–आसक्त, न–नहीं हैं अथवा **(अक्ष-रतः)** अक्ष–आत्मा में, रत–लीन **(अक्षरः)** न क्षरः अक्षरः क्षर–विनाशशील, न–नहीं हो ऐसे अविनाशी आप **(मां)** मेरी **(रक्ष रक्ष)** रक्षा करो, रक्षा करो।

भावार्थ–जिस प्रकार मेघ से झरता हुआ पानी तीव्र तपन से पृथ्वी की रक्षा करता है, उसी प्रकार अक्षरों से दूर रहने वाले-वचनागोचर, समर्थ अथवा चतुर, इन्द्रियों में अनासक्त, आत्मरत और अविनाशी आप मेरी रक्षा करें, रक्षा करें।

मोहोरगरसायनं, मुक्तेर्यद्दर्शितमुरसाऽयनम्।
यजेऽलं च रसाय नं, निरञ्जनं नं स्वरसाय नम् ॥६२॥

अन्वयार्थ–(मुक्तेः) मुक्ति का **(अयनं)** मार्ग **(यद्-दर्शितं)** यत्–जिसने, दर्शित–दिखाया है **(मोहोरगरसायनं)** मोहरूपी उरग–सर्प को वश में करने के लिए जो रसायनं–गरुड़ हैं, **(च)** और **(निरञ्जनं)** कर्माञ्जन से रहित हैं, **(नं)** पूज्य हैं ऐसे **(नं)** जिनेन्द्र देव को **(स्वरसाय)** आत्मानुभव की प्राप्ति के लिए–स्वान्तः सुखाय–मन की शांति के लिए **(उरसा)** हृदय से **(यजे)** पूजता हूँ **(रसाय)** विषय रस–राग के लिए **(अलं)** नहीं।

रस–यह शब्द तिक्तादिक रसों में, शृंगारादि में, जल, विष, धातु, वीर्य, राग, द्रव, पारद, गंधरस और शरीर के अर्थ में है।

भावार्थ– मुक्ति का मार्ग जिसने दिखाया है, जो मोहरूपी सर्प को गरुड़ हैं, कर्मकालिमा से रहित हैं और पूज्य हैं, ऐसे जिनेन्द्र की मैं आत्मप्रीति के लिए हृदय से पूजा करता हूँ। इन्द्रियसुख मेरे लिए अपेक्षित नहीं है।

पीयूष पावन पवित्र पयोद धारा, ज्यों तृप्त भूमि तल को करती सुचारा।
त्यों शान्ति दो दुखित हूँ भवताप से जो, है प्रार्थना मम विभो! बस आप से यों ॥६१॥
हो मोह सर्प, तुम हो गरुणेन्द्रनामी, हो मुक्तिपन्थ-अधिनायक, हो अमानी।
स्वामी, निरंजन, न अञ्जन की निशानी, पूजूँ तुम्हें बन सकूँ द्रुत दिव्यज्ञानी ॥६२॥

स्वीयं मनो जहार, गुणमणिमयं पुनर्मनोऽज! हारम्।
गतोऽस्ति मनोजहाऽरं,न नंक्ष्यति मेऽमनोऽज! हा रम्॥६३॥

अन्वयार्थ– (हे मनोजहा:!) हे कामविनाशक! **(अमन:!)** मनोरहित! **(मनो!)** मनु संज्ञा धारी! **(अज!)** हे जन्मातीत! **(अज!)** हे आदिपुरुष पुरुदेव! आपने **(स्वीयं)** निजी **(मन:)** मन को **(जहार)** जीत लिया है **(पुन:)** फिर **(गुणमणिमयं हारं)** सम्यक्त्वादि गुणरूप मणि के हार को **(गत:)** प्राप्त किया **(अस्ति)** है। इस कारण से **(मे)** मेरा **(रं)** दुख अथवा कामानल **(अरं)** शीघ्र **[किं]** क्यों **(न)** नहीं **(नंक्ष्यति)** नष्ट होगा ? **(हा!)** प्रश्न है।

भावार्थ–हे मनोजहा! कामविनाशक! हे मनोव्यापार से रहित! हे मनु! हे अज! जन्मातीत! हे अज! आदि जिनेन्द्र! आपने अपने मन का हरण किया-उसे स्वाधीन किया है फिर गुणरूपी मणियों से निर्मित हार-कण्ठाभूषण को प्राप्त हुए हो, इसलिए मेरा दु:ख अथवा कामाग्नि शीघ्र क्यों नहीं नष्ट होगी ? अवश्य होगी।

अन्तं गतं ह्यनन्तं, तं मानापहं यजेऽप्यजम्।
शान्तं चान्तं जिनं कान्तं, येनाऽयेऽहं निजे निजम् ॥६४॥

अन्वयार्थ– (अन्तं) स्वभाव को **(गतं)** प्राप्त **(शान्तं)** शान्तस्वरूप **(अन्तं)** विशुद्ध **(अनन्तं)** विनाश रहित **(कान्तं)** सुन्दर **(मानापहं)** मान से, अपह–दूर **(अजं)** जन्मातीत **(अपि च तं जिनं)** ऐसे और भी सर्व जिन को **(अहं)** मैं **(यजे)** पूजता हूँ **(येन)** जिससे मैं **(हि)** यथार्थ में **(निजे)** निज स्वभाव में **(निजं)** निज शुद्धात्मा को **(अये)** प्राप्त करूँ, अनुभवूँ।

भावार्थ–जो स्वभाव को प्राप्त हैं, शान्त हैं, विशुद्ध हैं, अन्त रहित हैं, सुन्दर हैं, मान को नष्ट करने वाले हैं और जन्मरहित हैं, उन जिनदेव की मैं पूजा करता हूँ जिससे निज में निज को प्राप्त करूँ।

है आदि में स्वमन को फिर मार मारा, हे आदिनाथ! तुमने-तज भोग सारा।
कामारि हो इसलिए जग में कहाते, स्वामी! सुशीघ्र मम क्यों न व्यथा मिटाते॥६३॥
वे शान्त, सन्त, अरहन्त अनन्त ज्ञाता, वन्दूँ उन्हें निरभिमान स्वभाव धाता।
होऊँ प्रवीण फलत: पल में प्रमाता, गाता सुगीत 'जिनका' वह सौख्यपाता॥६४॥

काञ्चिदिच्छां भवनतः,करोति दरमसितविदाभ! वनतः।
निजे लयो भवन्नतः, सूरयेऽयि तस्मै भव नतः॥९५॥

अन्वयार्थ– (अयि असितविदाभ!) असित–मलिन, विद्–ज्ञान की, आभ–आभा वाले–जिसके ज्ञान की आभा मलिन हो रही है ऐसे हे अज्ञजन! **[यः]** जो **(निजे)** निज में **(लयः)** लीन **(भवन्)** होते हुए **(वनतः दरं)** वन से भय **(न करोति)** नहीं करते हैं **(भवनतः)** भवन में **(काञ्चित्)** कोई **(इच्छां)** इच्छा नहीं करते हैं **(तस्मै)** उन आचार्य **[ज्ञानसागरजी]** के लिए हे भव्यो! **(नतः भव)** नम्रीभूत होओ, नमस्कार करो।

भावार्थ–अयि असितविदाभ! जिसके ज्ञान की आभा मलिन है ऐसा हे अज्ञानीजन! जो निज स्वरूप में लीन होते हुए वन से भय नहीं करते और भवन में कोई इच्छा नहीं करते, उन आचार्य के लिए तू विनत हो–उनकी भक्ति कर।

स्वयमनुसमयञ्चरति, परान् चारयति च न परे विचरति।
मुञ्चत्यरतिञ्च रति, मस्तु मम तत्पादयोश्च रतिः॥९६॥

अन्वयार्थ–[यः सूरिः] जो आचार्यदेव **(स्वयं)** स्वयं ही **(अनुसमयं)** शास्त्रानुसार **(चरति)** आचरण करते हैं **(परान् च)** और दूसरों को भी **(चारयति)** आचरण कराते हैं **(परे न विचरति)** पर द्रव्यों में विचरण नहीं करते हैं **(च)** और **(रतिं)** प्रीति को **(अरतिं च)** और अप्रीति को **(मुञ्चति)** छोड़ते हैं **(तत् पादयोः)** उनके चरण-कमलों में **(मम)** मेरी **(रतिः अस्तु)** प्रीति होवे।

भावार्थ–जो आचार्य स्वयं शास्त्रानुसार आचरण करते हैं, दूसरों को आचरण कराते हैं, परद्रव्य में विचरण नहीं करते हैं और अप्रीति तथा प्रीति को छोड़ते हैं, उनके चरणों में मेरी प्रीति हो।

इच्छा नहीं भवन की रखते कदापि, आचार्य ये न वन से डरते प्रतापी।
होते विलीन निज में विधि पंक धोते, पूजो इन्हें समय क्यों तुम व्यर्थ खोते ॥९५॥
शास्त्रानुसार चलते सबको चलाते, पाते स्वकीय सुख को पर में न जाते।
ये रागरोष तजते सबकी उपेक्षा, मैं तो अभी कुछ रखूँ उनकी अपेक्षा ॥९६॥

रजोगतमिव लोचकं, लोचकः संगत मुनिपालो च कम्।
मत्वात्र मांलोचकं, सुविदा रक्ष कृपालो च कम् ॥६७॥

अन्वयार्थ– (उ मुनिपाल!) हे मुनिपालक! **(कं संगत कृपालो!)** कं–आत्मा को और सुख को, संगत–प्राप्त, कृपालु–दयालु आचार्यवर्य! आप **(मां)** मुझ **(लोचकं)** निर्बुद्धि मनुष्य को **(कं च मत्वा)** आत्मा जानकर **(सुविदा)** सम्यग्ज्ञान द्वारा **(रक्ष)** रक्षा करो। **(अत्र)** लोक में **(रजो गतं)** धूलि से युक्त **(लोचकं)** नेत्र तारा को **(लोचक इव)** काजल के समान रक्षा करो।

भावार्थ–हे मुनिपाल! मुनियों के रक्षक! क–सुख अथवा आत्मा को प्राप्त! दयालो आचार्य! मुझ निर्बुद्धि को आत्मा मानकर सम्यग्ज्ञान से मेरी उस प्रकार रक्षा करो, जिस प्रकार धूलि से युक्त नेत्र की कज्जल रक्षा करता है।

योगैश्च धाराधरः, कुविधिध्वंसधृतधृतिधाराधरः।
दुरितविषधाराधरः, सज्जनमयूरधाराधरः ॥६८॥

अन्वयार्थ–ये आचार्य **(दुरितविषधाराधरः)** दुरित–पापरूपी, विष की धारा को, अधरः– नहीं धारण करते **(सज्जनमयूरधाराधरः)** सज्जन–भव्यजीवरूपी मयूरों के लिए, धाराधरः–मेघ के समान हैं। **(कुविधिध्वंसधृतधृतिधाराधरः)** कुविधि–पाप कर्मों को, ध्वंस–नाश करने के लिए, धृति–धैर्यरूपी, धाराधरः–खड्ग को, जिन्होंने धृत–धारण किया है। **(च)** और जो **(योगैः)** त्रिकाल योगरूप ध्यान धारण करने के लिए **(धाराधरः)** पर्वत के समान स्थिर हैं।

भावार्थ–यह आचार्य पापरूपी विष की धारा को धारण करने वाले नहीं हैं, सज्जनरूपी मयूरों के लिए धाराधर–मेघ हैं, दुष्ट कर्मों का विध्वंस करने के लिए जिन्होंने धैर्यरूपी खड्ग को धारण किया है और ध्यान के द्वारा धाराधर–पर्वत हैं अर्थात् ध्यान धारण करने में पर्वत के समान स्थिर हैं।

आचार्यदेव मुझको कुछ बोध देवो, रक्षा करो शरण में शिशु शीघ्र लेवो।
क्या दिव्य अंजन प्रकाश नहीं दिलाता, क्या शीघ्र नेत्रगत धूलि नहीं मिटाता?॥६७॥
ये योग में अचल मेरु बने हुए हैं, ले खड्ग कर्मरिपु को दुख दे रहे हैं।
आचार्य तो अमृतपान करा रहे हैं, ये मेघ हैं, हम मयूर सुखी हुए हैं ॥६८॥

यो ज्येष्ठमासंगत-, प्रतापिनः प्रताप्यपि भासङ्गतः ।
गतः स्वे वासं गतः, स निस्पृहो जयतात् सङ्गतः॥६९॥

अन्वयार्थ—(यः) जो **(ज्येष्ठमासंगतप्रतापिनः)** ज्येष्ठ मास के सूर्य से **(अपि)** भी **(प्रतापी)** प्रतापवान् हैं, **(भासंगतः)** दीप्ति को प्राप्त हैं **(स्वे)** निज शुद्धात्मा में **(वासं)** निवास को **(गतः)** प्राप्त हैं **(संगतः)** परिग्रह से **(निःस्पृहः)** निरीह **(गतः)** हुए **(सः)** वे आचार्य देव **(जयतात्)** जयवन्त रहें, उत्कर्षरूप से प्रवर्तन करें।

भावार्थ—जो ज्येष्ठ मास के सूर्य से भी अधिक प्रतापी हैं, दीप्तिमान हैं, स्वकीय आत्मा में निवास को प्राप्त हैं और परिग्रह से निःस्पृह हैं, वे आचार्य जयवन्त रहें।

आचार्यस्य सदा भक्तिं, भक्त्या ह्यये करोमि ताम्।
वै चार्यस्य मुदा शक्तिं, युक्त्याऽप्यये गुरोऽमिताम् ॥७०॥

अन्वयार्थ— (अये गुरो!) हे आचार्य! **(आर्यस्य)** पूज्य **(आचार्यस्य)** आचार्य की **(भक्तिं)** गुणानुरागरूप भक्ति को **(भक्त्या)** भक्तिपूर्वक **(सदा)** निरन्तर **(हि)** ही **(करोमि)** करता हूँ **(वै)** निश्चित ही **[यस्य]** जिनके **(युक्त्या)** सम्पर्क से मैं **(मुदा)** हर्षित होता हुआ **(तां अमितां)** उस प्रसिद्ध असीम **(शक्तिं)** शक्ति को **(अपि च)** भी **(अये)** प्राप्त कर रहा हूँ।

भावार्थ—हे गुरो! मैं पूज्य आचार्य की भक्ति सदा उत्कट अनुराग से करता हूँ। निश्चित ही उनके सम्पर्क से मैं हर्षपूर्वक उस अपरिमित शक्ति को प्राप्त हो रहा हूँ।

हो ज्येष्ठ में नित नहीं रवि ओ प्रतापी, संतप्त पूर्ण करता जग को कुपापी।
आचार्य कोटि शत भास्कर तेज वाले, देते सदा सुख हमें समदृष्टि वाले ॥६९॥
आचार्य को विनय से उर में बिठा लूँ, मैं पूज्यपाद रज को शिरपै चढ़ा लूँ।
हे मित्र! मोक्ष मुझको फलतः मिलेगा, विश्वास है यह नियोग नहीं टलेगा ॥७०॥

विदामिहाहं रमतिः, कदाप्येति न मदमिति मुधा रमतिम्।
स्वस्मिन् स्मरति विरमति, स्मरतु तं तु ते ह्युदारमतिः॥७१॥

अन्वयार्थ– **(इह)** इस **[भुवि]** भूमि पर **(अहं)** मैं **(विदां)** विद्वानों का **(रमतिः)** नायक-नेता हूँ **(इति)** इस प्रकार कहकर वे बहुश्रुतवान् गुरु **(कदापि)** कभी भी **(मुधा)** व्यर्थ **(मदं)** मद को **(न एति)** नहीं प्राप्त करते। वे उपाध्याय परमेष्ठी **(रमतिं)** स्वर्ग का **(न स्मरति)** स्मरण भी नहीं करते। अपितु **(स्वस्मिन्)** स्व शुद्धात्मा में **(विरमति)** विश्राम करते हैं **(तं हि)** ऐसे उपाध्याय परमेष्ठी का हे भव्य! **(ते)** तेरी **(उदारमतिः)** विशाल बुद्धि **(स्मरतु)** स्मरण करे। तु शब्द पादपूर्ति के लिए है।

भावार्थ– ''इस पृथ्वी पर मैं ज्ञानियों का स्वामी हूँ'', इस प्रकार के व्यर्थ मद को जो कभी नहीं प्राप्त होते, जो स्वर्ग का स्मरण नहीं करते तथा अपने आप में विश्राम करते हैं, उन उपाध्याय परमेष्ठी का तेरी उदार बुद्धि निश्चय से स्मरण करे।

कृतमदममतापचिति, - र्यस्मादाप्तनिजानुभवोपचितिः ।
तस्य ह्यपपाप! चिति स्थितये क्रियते मयाऽपचितिः॥७२॥

अन्वयार्थ–(यः) जो बहुश्रुत धारक **(कृतमदममतापचितिः)** मद–गर्व–अहंकार को, ममता–ममत्व को जिन्होंने, अपचिति–नष्ट, कृत–किया है **(यस्मात्)** जिससे **(आप्तनिजानुभवोपचितिः)** आप्त–प्राप्त की है, शुद्धात्मानुभव की, उपचिति–वृद्धि जिसने **(तस्य)** उन बहुश्रुत मुनियों की **(अपपाप!)** हे पाप रहित साधो! **(चिति)** चैतन्य में **(हि)** ही **(स्थितये)** स्थिरता के लिए–ठहरने के लिए **(मया)** मेरे द्वारा **(अपचितिः)** पूजा–भक्ति **(क्रियते)** की जा रही है।

भावार्थ–जो मद और ममता की हानि करने वाले हैं तथा जिन्होंने आत्मानुभव की वृद्धि को प्राप्त किया है, ऐसे हे निरवद्य साधो! आत्मा में स्थिरता प्राप्त करने के लिए मेरे द्वारा उन उपाध्याय परमेष्ठी की पूजा की जाती है।

ज्ञाता बने समय के निज–गीत, गाते, तो भी कदापि मद को मन में न लाते।
वे ही अवश्य उवझाय वशी कहाते, भाई उन्हें स्मरण में तुम क्यों न लाते ॥७१॥
कालुष्यभाव रतिराग मिटा दिया है, आत्मावलोकन तथा जिनने किया है।
पूजूँ भजूँ नित उन्हें दुख को तजूँगा, विज्ञान से सहज ही निज को सजूँगा॥७२॥

सकलङ्कः स मितितयाऽ,भयाञ्चित एणाङ्को भसमितितया।
अकलङ्कः समितितया,ऽऽहेतो वरः सुरसमिति तया॥७३॥

अन्वयार्थ–(एणाङ्कः) एण–मृग है, अंक–हृदय के मध्य में जिसके **(सः)** वह चन्द्रमा **(भयाञ्चितः)** भय से सहित है **(मितितया)** सीमित **(भया)** कान्ति से सहित है **(भसमितितया)** भ–नक्षत्रों के, समिति–समूह से, अंचितः–शोभित है तथा **(सकलङ्कः)** मध्य में कलंक–दाग से, स–सहित है इस हेतु से यह उपाध्याय परमेष्ठी **(अकलङ्कः)** निष्कलंक हैं **(तया)** प्रसिद्ध **(समितितया)** समितिपने से शोभित हैं **(अभयाञ्चितः)** अभय से सहित हैं और **(सुरसमितितया)** सुर–देवों की, समिति–सभा द्वारा पूजित हैं अतः **(वरः)** श्रेष्ठ हैं **(इति)** ऐसा **(सुरसं इतः)** आत्मानुभव को प्राप्त जिनदेव ने **(आह)** कहा है।

भावार्थ–वह चन्द्रमा भय से सहित है तथा सीमित कान्ति से अञ्चित है, नक्षत्रों के समूह से अञ्चित है, अतः सकलंग है, परन्तु यह उपाध्यायपरमेष्ठी निर्भय हैं, असीमित आत्मज्ञानरूपी दीप्ति से सहित हैं, निष्कलंक हैं और देवसमूह से पूजित हैं, अतः श्रेष्ठ हैं। ऐसा सुरस को प्राप्त जिनदेव ने कहा है।

परपरिणतेरवनितः, स्वात्मानं स्वागमं योऽवन्नितः।
तेनाप्यते ह्यवनित,-द्रव्यमुरसि निजमृषिभिर्वनित ॥७४॥

अन्वयार्थ–(ऋषिभिः उरसि वनित!) ऋषि मुनियों के हृदय में वनित–शोधन को प्राप्त, योगी अर्थात् जिनके शुद्धस्वरूप को हृदय में धारण करते हैं ऐसे हे प्रभो! **(यः)** जो **(परपरिणतेः)** पर परिणति की **(अवनितः)** भूमि से **(स्वात्मानं)** निजात्मा की **(अवन्)** रक्षा करता हुआ **(स्वागमं)** जैनागम को अथवा अपनी आत्मा के ज्ञान स्वभाव को **(इतः)** प्राप्त हुआ है **(तेन निजं)** उसके द्वारा स्वकीय **(अवनितद्रव्यं)** अयाचित–स्वतःसिद्ध आत्मद्रव्य **(आप्यते)** प्राप्त किया जाता है।

भावार्थ–ऋषि समूह जिसे हृदय में धारण करते हैं ऐसे हे प्रभो! जो परपरिणति की भूमिस्वरूप कषायभाव से स्वकीय आत्मा की रक्षा करते हुए उत्तम आगम को प्राप्त हुए हैं, उन उपाध्याय के द्वारा स्वतः सिद्ध आत्मद्रव्य प्राप्त किया जाता है।

तारा समूह नभ में जब दीख जाता, दोषी शशी न दिन में निशि में सुहाता।
पै दोष मुक्त उवझाय सदा सुहाते, ये श्रेष्ठ इष्ट शशि से जिन यों बताते ॥७३॥
स्वाध्याय से चपलता मन की घटा दी, काषायिकी परिणति जिनने मिटा दी।
पावें सुशीघ्र उवझाय स्वसंपदा वे, आवें न लौट भव में गुरु यों बतावें ॥७४॥

निशापतिर्नालीकं, तोषयति नायं गवा नालीकम्।
निष्पक्षोऽनालीकं, कोऽमुं न मनुतेऽनालीकम् ॥७५॥

अन्वयार्थ—(निशापतिः) चन्द्रमा **(नालीकं)** कमल समूह को **(गवा)** किरणों से **(न तोषयति)** संतुष्ट नहीं करता किन्तु **(अयं)** उपाध्याय परमेष्ठी **(निष्पक्षः)** पक्षपात से रहित **(नालीकं)** अज्ञ को **(अनालीकं)** विज्ञ–सुधी को वाणी के द्वारा संतुष्ट करते हैं। इस कार्य में **(कः)** कौन व्यक्ति है जो **(अमुं)** उपाध्याय को **(अनालीकं)** प्रिय **(न मनुते)** नहीं मानता हो? अर्थात् सभी मानते हैं।

भावार्थ—चन्द्रमा किरणों से कमल को सन्तुष्ट नहीं करता परन्तु यह उपाध्याय परमेष्ठी निष्पक्ष हो अज्ञ और विज्ञ को अपनी वाणी से सन्तुष्ट करता है। इस प्रकार के कार्य में उन्हें कौन प्रिय नहीं मानता? सभी मानते हैं।

शब्दार्थ–अलीक=अप्रिय, अलीक ही आलीक है जो आलीक–अप्रिय नहीं है वह अनालीक–प्रिय का वाचक बन जाता है। नालीक शब्द–कमल, अज्ञ, शर, शल्य इत्यादि के अर्थ में है।

वैद्यो रोगविनाशीव, ह्ययं कामविदारकः।
वन्द्योऽतोऽङ्ग! जनानां वः, स्वयं कामप्रदायकः॥ ७६॥

अन्वयार्थ— (अङ्ग) हे आत्मन्! **(रोगविनाशी)** रोगनिवारक **(वैद्यः इव)** वैद्य के समान **(हि)** ही **(अयं)** उपाध्यायपरमेष्ठी **(कामविदारकः)** काम–मदन के विदारक–विनाशक हैं अथवा क–आत्मा के अम–रोगों–जन्ममरणादि रोगों को विदीर्ण करने वाले हैं और **(स्वयं)** स्वयं ही **(कामप्रदायकः)** काम–इष्ट पदार्थों को–मनोरथों को प्रदान करने वाले हैं अथवा काम–मोक्ष को देने वाले हैं। **(अतः)** इसलिए वे **(वः)** तुम सब **(जनानां)** जनों के **(वन्द्यः)** वन्दनीय हैं।

भावार्थ—हे अंग! हे भव्यजनो! रोग को नष्ट करने वाले वैद्य के समान यह उपाध्याय परमेष्ठी मदन अथवा आत्मा के रोगों के विदीर्ण करने वाले और मनोरथों के देने वाले हैं, अतः आप सबके वन्दनीय हैं।

साथी बना कुमुद का शशि पक्षपाती, भाई सरोज दल का वह है अराती।
पै साम्यधार उवझाय सुखी बनाते, हैं विश्व को, इसलिए सबको सुहाते ॥७५॥
वे वैद्य लौकिक शरीर इलाज जाने, ये वैद्यराज भवनाशक हैं सयाने।
हैं वन्द्य, पूज्य, शिवपन्थ हमें बताते, निःस्वार्थपूर्ण निज जीवन को बिताते ॥७६॥

तं जयताज्जिनागमः, श्रय श्रेयसो न येन विना गमः।
न हि कलयति मनागगस्त्वां मदो यद् भवेऽनागमः॥७७॥

अन्वयार्थ– (येन विना) जिसके बिना **(श्रेयसः)** कल्याण का **(गमः)** मार्ग **(न)** नहीं मिलता **(सः)** वह **(जिनागमः)** जैनागम–जिनशासन **(जयतात्)** जयशील रहे, **(तं)** उस जिनागम को हे भव्य! तुम **(श्रय)** सेओ–सेवा करो **(यत्)** जिससे **(त्वां)** तुझको **(मदः)** अहंकाररूपी **(अगः)** भुजंग–सर्प **(मनाक्)** थोड़ा भी **(न हि)** नहीं **(कलयति)** प्राप्त हो, तब तेरा स्वयं ही **(भवे)** संसार में **(अनागमः)** पुनर्जन्म नहीं होगा। अहंकार रहित होकर आगम का अभ्यास करने से पुनरागमन नहीं होता।

भावार्थ–जिसके बिना मोक्ष अथवा कल्याण का मार्ग नहीं मिलता, वह जिनागम जयवन्त रहे। तू उस जिनागम का आश्रय ले, जिससे तुझे अल्प भी अहंकार प्राप्त न हो और यह सब होने पर तेरा संसार में आगमन नहीं हो।

अन्येनालं मधुना, वनं विविधतरुलतान्वितं मधुना।
मुदमेति यथा मधुना, ममात्मानेन चायमधुना॥७८॥

अन्वयार्थ–(विविधतरुलतान्वितं वनं) विविध प्रकार के वृक्ष और लताओं से युक्त वन **(मधुना)** वसंत ऋतु के द्वारा **(यथा)** जैसे **(मुदं)** हर्ष को **(एति)** प्राप्त होता है **(तथा)** उसी प्रकार **(मम)** मेरा **(अयं)** यह **(आत्मा)** ज्ञान स्वभावी आत्मा **(अधुना)** इस समय **(मधुना)** इस जिनागम रूपी मधुर क्षीर के द्वारा हर्ष को–प्रमोदभाव को प्राप्त होता है। **(अतः)** इसलिए **(अन्येन)** अन्य कामवासना प्रवर्धक कामादि शास्त्ररूप **(मधुना)** मधु–शहद और शराब से **(अलं)** बस होवे। सब व्यर्थ है अर्थात् कदागम उपासना व्यर्थ है।

भावार्थ–अनेक प्रकार के वृक्ष और लताओं से युक्त वन जिस प्रकार वसन्त से हर्ष को प्राप्त होता है, उसी प्रकार मेरा यह आत्मा इस समय जिनागमरूप दूध से हर्ष को प्राप्त हो रहा है। इसलिए अन्य विषयवासना को बढ़ाने वाले कामादि शास्त्ररूप मद्य की मुझे आवश्यकता नहीं है।

था, है जिनागम, रहे जयवन्त आगे, पूजो इसे तुम सभी उरबोध जागे।
पावो कदापि फिर ना भवदुःख नाना, हो मोक्षलाभ, भव में फिर हो न आना॥७७॥
आता वसन्त वन में वन फूल जाता, नाना प्रकार रस पी दुख भूल जाता।
पीऊँ जिनागम सुधा चिरकाल जीऊँ, दैवादि शास्त्र मदिरा उसको न पीऊँ॥७८॥

श्रयति श्रमणः समयं, सममनसा समयति स समं समयम्।
समेति निजवासमयं, विस्मयोऽस्त्विह नो चिरसमयम् ॥७९॥

अन्वयार्थ– **(श्रमणः)** जो साधु **(सममनसा)** दुराग्रह रहित चित्त के **(समं)** साथ **(समयं)** आगम का **(श्रयति)** आश्रय लेता है **(सः)** वह **(समयं)** समयस्वरूप आत्मा को **(समयति)** सम्–सम्यक्रूप से, अयति–प्राप्त करता है **(निजवासं)** निजस्वरूप में रमणरूप वास को **(समेति)** सम्–एति–सम्यक् प्राप्त करता है। वह **(इह)** इस संसार में **(चिरसमयं)** चिरकाल तक **(नो अस्तु)** नहीं रहे, अर्थात् अल्प काल में ही संसार–सागर को पार कर लेता है। इस कार्य में **(अयं)** यह **(विस्मयोऽपि)** विस्मय–आश्चर्य भी नहीं है।

भावार्थ–जो मुनि मध्यस्थ–दुराग्रह रहित मन के साथ आगम का आश्रय लेता है, वह आत्मा को प्राप्त होता है और वह इस संसार में दीर्घकाल तक नहीं रहे, यह आश्चर्य नहीं है।

मुक्तास्ते प्रभावतः, सम्भवन्ति जिना जनाश्च भावतः।
रागादेर्विभावतस्त्वयि रतोऽकलये विभावतः ॥८०॥

अन्वयार्थ–हे जिनागम! **(ते प्रभावतः)** आपके प्रभाव से **(जनाः)** भव्य प्राणी व मनुष्य **(जिनाः सम्भवन्ति)** जिनेन्द्र हो जाते हैं **(भावतः)** रागादि भावरूप संसार से **(मुक्ताः)** मुक्त–सिद्ध हो जाते है, **(रागादेः विभावतः च)** और रागादि विभाव परिणति से मुक्त हो जाते है **(अतः)** इस कारण से **(अकलये)** अक–पाप और दुख का जिसमें लय–विनाश हो गया ऐसे अकलये **(विभौ)** लोकोत्तर सामर्थ्य से युक्त **(त्वयि)** तुझ जिनागम में मैं **(रतः)** अनुरक्त–लीन **[भवामि]** होता हूँ।

भावार्थ–(हे जिनागम!) तेरे प्रभाव से सामान्य मनुष्य जिन हो जाते हैं, भव से मुक्त हो जाते हैं और रागादिक विभाव से छूट जाते हैं, अतः दुःख का विनाश करने वाले तुझमें लीन होता हूँ।

निष्पक्ष हो श्रमण आगम देखता है, शुद्धात्म को सहज से वह जानता है।
जाके निवास करना निज धाम में ओ, संदेह विस्मय नहीं इस काम में हो ॥७९॥
आधार ले अयि! जिनागम पूर्ण तेरा, हैं भव्य जीव करते शिव में बसेरा।
मैं भी तुझे इसलिए दिन रैन ध्याऊँ, धारूँ तुझे हृदय में सुख चैन पाऊँ ॥८०॥

दु:खमनुभवन्नवसु, ह्यनधिगतागमोऽयं निधिषु नवसु।
प्राप्तवान् सुखं नवसु,मानतो विमलज्ञानवसु ॥८१॥

अन्वयार्थ– **(अयं)** यह **(अनधिगतागमः)** जिनागम को नहीं जानने वाला **(असुमान्)** प्राणी **(हि)** निश्चय से **(नवसु निधिषु)** नव निधियों के रहने पर भी **(अवसु)** धनाभाव रूप **(दु:खं)** दुख का **(अनुभवन्)** अनुभव करता हुआ **(विमलज्ञानवसु)** निर्मलज्ञानरूपी धन वाले **(सुखं)** सुख को **(अतः)** इस कारण **(नो)** नहीं **(प्राप्तवान्)** प्राप्त हुआ है।

भावार्थ–जिनागम को नहीं जानने वाला प्राणी निश्चय से नौ निधियों के रहने पर भी निर्धनता के दु:ख का अनुभव करता हुआ निर्मल ज्ञानरूपी धन के सुख को इसी कारण प्राप्त नहीं कर सका है।

जिनागमं सदा श्रित्वा, सादरं समतां व्रजेत्।
यन्ना समं विदा मुक्त्वा, वादरं स नतां भजेत् ॥८२॥

अन्वयार्थ– **(यत्)** जिस कारण से **(ना)** मनुष्य **(सादरं)** सविनय **(जिनागमं)** जैनागम–जिनशासन का **(श्रित्वा)** आश्रय लेकर–अध्ययन करके **(समतां)** मोह क्षोभ रहित अथवा पक्षपात से रहित समता को यदि **(व्रजेत्)** प्राप्त कर लेता है तो **(सः)** वह **(दरं)** भय को **(मुक्त्वा)** छोड़कर **(विदा समं)** सम्यग्ज्ञान के साथ **(नतां)** न=जिन, ता=त्व उसको नतां–तीर्थकरत्व–जिनत्व को **(भजेत्)** प्राप्त कर ले ऐसा निश्चय है।

भावार्थ–यदि मनुष्य, आदर से जिनागम का आश्रय ले साम्यभाव को प्राप्त हो तो वह भय छोड़कर ज्ञान के साथ तीर्थंकर पद को प्राप्त हो सकता है, यह निश्चय है।

ज्ञाता नहीं समय का दुख ही उठाता, औ ना कभी विमल केवलज्ञान पाता।
राजा भले वह बने, निधि क्यों न पाले, भाई न खोल सकता वह मोक्ष ताले ॥८१॥
श्रद्धा समेत जिन आगम को निहारें, जो भी प्रभो! हृदय में समता सुधारे।
वे ही जिनेन्द्र पद का द्रुत लाभ लेते, संसार का भ्रमण त्याग विराम लेते ॥८२॥

निर्दोषो भुवि सुरभिः, सज्जनकण्ठमेति गुणेन सुरभिः।
तथेह समता सुरभि,र्न च सुरभीति नाम्ना सुरभिः॥८३॥

अन्वयार्थ–जिस प्रकार **(इह भुवि)** इस लोक में **(निर्दोषः)** मलरहित **(सुरभिः)** स्वर्ण **(सज्जनकण्ठं एति)** सज्जन के कण्ठ को प्राप्त होता है, **(सुरभिः)** चम्पक पुष्प **(गुणेन)** सूत्र द्वारा गुम्फित हो सज्जन कण्ठ में शोभित होता है **(सुरभि)** गो माता **(इति नाम्ना)** इस नाम से अथवा गुणेन-घृत, दही, क्षीर, मूत्र और गोमय के प्रशंसनीय गुणों से, मनोरथों को पूर्ण करने वाले गुणों से कामधेनु-सज्जनों के कण्ठ में प्रशंसा हेतु शोभित होती है **(तथा च समता)** उसी प्रकार समता-माध्यस्थ्य वृत्ति **(सज्जनकण्ठं एति)** सज्जन के कण्ठ को प्राप्त होती है, **(न सुरभिः)** मद्य नहीं।

भावार्थ–जिस प्रकार इस पृथ्वी पर निर्दोष सुरभि-स्वर्ण अपने गुण से हार बनकर सज्जन के कण्ठ को प्राप्त होता है, चम्पक पुष्प गुण-सूत्र में गुम्फित हो सज्जन के कण्ठ को प्राप्त होता है और 'सुरभि' इस नाम से प्रसिद्ध कामधेनु मनोरथों को पूर्ण करने वाले गुणों से सज्जन के कण्ठ को प्राप्त होती है, उसी प्रकार साम्य परिणति सज्जन के कण्ठ को प्राप्त होती है, मदिरा नहीं।

असमयवर्षास्तमितं, धान्यं वसुधातलममनस्तमितम्।
फलति न कमपि स्तमितं, ह्यकालिकी नुतिरकास्त! मितम् ॥८४॥

अन्वयार्थ– (अकास्त!) हे पापास्त-दुःखास्त! **(अमनः)** मनो व्यापार रहित जिन! **(असमयवर्षास्तमितं)** अकाल वर्षा से स्तमित-गीला, तर **(तं)** प्रसिद्ध **(वसुधातलं)** पृथ्वी के पृष्ठ भाग को **(इतं)** प्राप्त **(धान्यं)** धान्य बीज जैसे **(न)** नहीं **(फलति)** फलता, उसी प्रकार **(हि)** निश्चय से **(अकालिकी)** असमय की गई **(नुतिः)** स्तुति **(स्तमितं)** स्थिर **(मितं)** अल्प **(कं)** सुख को **(अपि)** भी **(न)** नहीं **(फलति)** फलती है।

शब्दार्थ-अक=पाप व दुख, दोनों के अस्त से अकास्त शब्द बना।

भावार्थ–हे अकास्त! हे निष्पाप! हे अमनः! मनो व्यापार से रहित! जिस प्रकार असमय की वर्षा से भीगे पृथ्वीतल को प्राप्त हुआ धान्य फलता नहीं है, उसी प्रकार निश्चय से असमय में की हुई स्तुति किञ्चित् भी स्थायी सुख को नहीं फलती है।

हो सूत्र में कुसुम सज्जन कण्ठ भाता, निर्दोष ही कनक आदर नित्य पाता।
जैसी समादरित गाय सुधी जनों से, वैसी सदैव समता मुनि सज्जनों से ॥८३॥
वर्षा हुई कृषक तो हल जोत लेगा, बोया असामयिक बीज नहीं फलेगा।
तू देव वन्दन अकाल अरे! करेगा, होगा न, मोक्ष तुझको भव में फिरेगा ॥८४॥

अशने सदंशनेन, रस इनेन जयो वै सदंशनेन।
प्राप्यतेऽदंशनेन, तथा कमगेनाऽदंशनेन ॥८५॥

अन्वयार्थ– (अदंश!) दंश–दोषों से, अ–रहित हे निर्दोष देव! **(न!)** पूज्य! **(इन!)** नाथ! जिस प्रकार **(अशने)** भोजन में **(सदंशनेन)** दशन–दांत, स–सहित अर्थात् दांतों से **(रसः)** स्वाद **(सदंशनेन)** कवच के साथ **(इनेन)** राजा के द्वारा **(वै)** निश्चित रूप से **(जयः)** विजय प्राप्त की जाती है तथा **(अदंशनेन)** अखंडित **(अगेन)** अ–अर्हन्त भगवान् के, ग–गीत, स्तुति से **(कं)** सुख **(प्राप्यते)** प्राप्त किया जाता है।

भावार्थ– हे अदंश! हे निर्दोष! हे पूज्य! हे स्वामिन्! जिस प्रकार भोजन में दन्तसहित मनुष्य के द्वारा स्वाद प्राप्त किया जाता है और कवच सहित राजा के द्वारा निश्चयतः विजय प्राप्त की जाती है, उसी प्रकार अखण्ड स्तवन से सुख प्राप्त किया जाता है।

अवनितल इव पावन,-प्रसंगाद् भवति शीतलः पावनः।
अघहननात् स्वपावन, प्रदायिन्नुपयोगः पावनः ॥८६॥

अन्वयार्थ–(स्वप!) स्व–आत्मानं, पा–पाति रक्षति, हे आत्मरक्षक! **(अवनप्रदायिन्!)** अवन–रक्षा को, प्रदान करने वाले हे रक्षादानशील अथवा अवन–आनंद को देने वाले! **(अवनितले)** इस भूतल पर **(पावनप्रसंगात्)** पावन–जल के, प्रसंग–संपर्क से **(पावनः)** वायु के **(शीतलः इव)** शीतल होने के समान **(अघहननात्)** पाप के हनन से **(उपयोगः)** परिणाम **(पावनः)** पवित्र **(भवति)** होता है।

भावार्थ–हे स्वप! हे आत्मरक्षक! हे संरक्षण देने वाले! भगवन्! इस पृथ्वीतल पर जल की संगति से जिस प्रकार वायु शीतल हो जाती है, उसी प्रकार आगामी पाप के त्याग रूप प्रत्याख्यान से उपयोग पवित्र हो जाता है।

राजा सशस्त्र रण से जय लूट लाता, हो दाँत, भोजन करो अति स्वाद आता।
सम्यक् जिनेन्द्रनुति भी सुख को दिलाती, भाई निजानुभव पेय पिला जिलाती ॥८५॥
ज्यों वात जो सरित ऊपर हो चलेगा, हो शीत, शीघ्र सब के मन को हरेगा।
आख्यान अन्त प्रति के बल पा विधाता, आत्मा अवश्य बनता सुख पूर्ण पाता ॥८६॥

सा श्रेयसः कषायात् , प्रियाऽलसाशोषायां सकषाया।
लसतु तामसकषायान्, न कतपनममानसकषायाः ॥८७॥

अन्वयार्थ– (अमानसकषायाः!) हे निष्कषाय हृदय मुनिगण! **(सा)** प्रसिद्ध **(अलसा)** आलस्यवती **(प्रिया)** वल्लभा **(श्रेयसः)** श्रेष्ठ **(कषायात्)** अंगराग से **(लसतु)** शोभित होती है **(उषायां)** प्रभात में **(सा)** वह प्रसिद्ध **(आशा)** पूर्वदिशा **(सकषाया)** लाल वर्ण वाली शोभित होती है। किन्तु **(कतपनं)** क–सूर्य के अथवा अग्नि के समीप में अथवा क–आत्मा का, तपनं–तपश्चरण **(तामसकषायात्)** तमो गुण प्रधान कषाय से **(न)** नहीं शोभित होता है।

भावार्थ– हे अमानसकषायाः! जिनके मन में कषाय नहीं है ऐसे हे मुनिजनो! वह अलसायी स्त्री श्रेष्ठ अंगराग से सुशोभित हो और प्रभातकाल में वह प्रसिद्ध पूर्व दिशा लालिमा से सहित होती हुई सुशोभित हो, परन्तु तमोगुणप्रधान कषायभाव से कुतप–पञ्चाग्नितप सुशोभित न हो (वह कुतप–बालतप है।)

दुर्वेदनात्मनो यातु, लयतां त्वयि सा स्वतः।
संवेदनाऽमुनो जा तु, जायतां त्वय्यसावतः॥८८॥

अन्वयार्थ– (अयि) हे मित्र! **(त्वयि)** आपमें **(असौ)** यह **(स्वतः)** स्वयं से **(जा)** उद्भूत **(संवेदना)** स्वानुभूति **(अमुना)** इस प्रतिक्रमण से **(जायतां)** उत्पन्न हो और **(अतः)** इसी प्रतिक्रमण से **(आत्मनः)** आत्मा की **(सा)** वह प्रसिद्ध **(दुर्वेदना तु)** दुःखानुभूति तो **(लयतां)** विनाश को **(यातु)** प्राप्त होवे। दूसरा तु शब्द पादपूर्ति के लिए हैं।

भावार्थ–अयि मित्र! आप में जो यह स्वानुभूति स्वतः समुद्भूत हुई है वह इस प्रतिक्रमण-आवश्यक से उत्पन्न हो और इसी से आत्मा की वह दुःखद वेदना विनाश को प्राप्त हो।

प्राची प्रभात जब रागमयी सुहाती, तो अंगराग लगता वनिता सुहाती।
पै राग से समनुरंजित कायक्लेश, होता सुशोभित नहीं सुख हो न लेश ॥८७॥
दुर्वेदना हृदय की क्षण भाग जाती, संवेदना स्वयम की झट जाग जाती।
ऐसी प्रतिक्रमण की महिमा निराली, तू धार शीघ्र इसको बन भाग्यशाली ॥८८॥

भवता निजानुभवतः, प्रभोः प्रभावना क्रियतां हि भवतः।
मनोऽवन् मनोभवतः, क्षणविनाशविभावविभवतः ॥८९॥

अन्वयार्थ— (भवतः) संसार से **(क्षणविनाशविभावविभवतः)** क्षण में विनाश होने वाले विभाव की शक्ति युक्त **(मनोभवतः)** काम विकार से **(मनः)** मन की **(अवन्)** रक्षा करते हुए **(निजानुभवतः)** निजानुभव से **(हि)** निश्चित ही हे मित्र! **(भवता)** आपके द्वारा **(प्रभोः)** जिनेन्द्र प्रभु की **(प्रभावना)** महिमा का प्रसार **(क्रियतां)** किया जाना चाहिए।

भावार्थ—संसार से, क्षणभंगुरविभावरूप विभव से तथा काम विकार से मन की रक्षा करते हुए आपके द्वारा निजानुभव से जिनेन्द्रप्रभु की प्रभावना की जावे।

सागारकोऽप्यसारं, क्षुत्तृड्रुजार्तेषु वितरति सारम् ।
मत्वा किल संसारं, ह्यवतरति तत् कार्ये साऽरम् ॥९०॥

अन्वयार्थ—जब **(सागारकः)** गृहस्थ **(अपि)** भी **(किल)** वास्तव में **(संसारं)** संसार को **(असारं)** सारहीन **(मत्वा)** मानकर **(क्षुत्तृड्रुजार्तेषु)** क्षुधा, तृषा तथा रुज्-रोग से, आर्त्त-पीड़ित मनुष्यों में **(सारं)** योग्य द्रव्य **(वितरति)** वितरण करता है, प्रदान करता है तब **(तत्कार्ये)** उस कार्य में **(सा)** वह धर्म प्रभावना **(हि)** निश्चय से **(अरं)** शीघ्र **(अवतरति)** प्रकट होती है।

भावार्थ—जो गृहस्थ भी संसार को असार मान कर भूख, प्यास तथा रोग से पीड़ित मनुष्यों पर धन वितरण करता है तब उस कार्य में वह प्रभावना शीघ्र अवतीर्ण होती है। दीन-दुःखी जीवों पर दयादृष्टि से दान देने से भी जिनधर्म की प्रभावना होती है।

भाई सुनो मदन से मन को बचाओ, संसार के विषय में रुचि भी न लाओ।
पाओ निजानुभव को निज को जगाओ, सद्धर्म की फिर अपूर्व प्रभावना हो ॥८९॥
संसार के विभव वित्त असार सारे, सागार भी सतत यों मन में विचारें।
रोगी दुखी क्षुधित पीड़ित जो विचारे, दे, अन्नपान उनके दुख को निवारें ॥९०॥

शिष्याः स्युस्तके तव, शशिशितवृषयशःप्रसारकेतवः।
दृग्विद्चरितकेतवः, कुमतवनाय धूमकेतवः॥९१॥

अन्वयार्थ—हे जिन! **(तव)** आपके **(तके)** वे विख्यात **(शिष्याः)** अन्तेवासी शिष्य **(शशिशितवृषयशःप्रसारकेतवः)** चन्द्रमा के समान शित-उज्ज्वल, वृष-धर्म, यश का प्रसार करने के लिए, केतु-ध्वजा हैं **(कुमतवनाय)** मिथ्यामतरूपी वन को जलाने के लिए **(धूमकेतवः)** धूम है केतु-ध्वजा जिसकी ऐसी अग्नि के समान हैं **(दृग्विद्चरितकेतवः स्युः)** सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की केतु-पताका भी हैं। हे भगवन्! आपके शिष्य रत्नत्रय से युक्त होकर सर्वथा एकान्तवाद का निराकरण करके आपके उज्ज्वल धर्म और यश के प्रसारक होते हैं।

भावार्थ—हे जिन! आपके वे शिष्य, चन्द्रमा के समान उज्ज्वल यश का प्रसार करने के लिए पताका, मिथ्यामतरूप वन के लिए अग्नि और दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप चिह्नों से सहित होवें।

भायाच्च तमां केन, सरो रमाभालं कुङ्कुमाङ्केन।
नानया समां केन, श्रमणता गतेन मां के न! ॥९२॥

अन्वयार्थ— **(न!)** हे जिन! **(रमाभालं)** ललना का ललाट **(कुङ्कुमाङ्केन)** कुंकुम के चिह्न से, **(सरः)** सरोवर **(केन)** जल से, **(के)** आत्मा में **(केन)** आत्मा के द्वारा **(समां)** समतारूपी **(मां)** लक्ष्मी को **(गतेन)** प्राप्त करने से **(श्रमणता)** साधुता **(च)** और **(ना)** सद्गृहस्थ पुरुष **(अनया)** मार्ग प्रभावना से **(तमां)** अत्यन्त रूप से **(भायात्)** शोभित होते रहें।

भावार्थ—हे न! हे जिन! ललना का ललाट कुंकुम के चिह्न से, सरोवर जल से, साधुता आत्मा में साम्यभावरूपी लक्ष्मी को प्राप्त करने से और मनुष्य इस धर्मप्रभावना से अत्यन्त सुशोभित हो।

हे वीर देव! तव सेवक धर्म सेवें, होवें ध्वजा विमल धर्म प्रसार में वे ।
सम्यक्त्व बोध व्रत से निज को सजावें, ज्वाला बनें कुमत कानन को जलावें ॥९१॥
अच्छा लगे तिलक से ललना ललाट, है साम्य से श्रमणता लगती विराट।
होता सुशोभित सरोवर कंज होते, सद्भावना वश मनुष्य प्रशस्य होते ॥९२॥

गङ्गा गौश्च वामृतं, ददाति गङ्ग्यालमपि गवाऽमृतम्।
अस्या मानवामृतं, मिलति वरं चिदनुभवामृतम् ॥९३॥

अन्वयार्थ–(हे मानव!) हे मनुज! **(गङ्गा)** भागीरथी **(च गौः)** और गोमाता **(अमृतं)** अमृत **(ददाति)** देती है **(गङ्ग्या गवा अपि)** गंगा और गाय से भी **(अलं)** प्रयोजन नहीं है किन्तु **(अस्याः)** धर्मप्रभावना से **(अमृतं)** अविनश्वर अथवा अयाचित **(अमृतं)** मोक्ष और **(वरं)** श्रेष्ठ **(चिदनुभवामृतं च मिलति)** चैतन्य के अनुभव का अमृत भी प्राप्त होता है।

भावार्थ–हे मानव! गंगा और गौ अमृत देती है–गंगा जल देती है और गौ दूध देती है, परन्तु गंगा और गौ से प्रयोजन नहीं है, क्योंकि उनकी आवश्यकता नहीं है। इस धर्मप्रभावना से अविनश्वर, मोक्ष और आत्मानुभवरूप अमृत प्राप्त होता है।

संसारागाधपाठीना,-करमज्जितदेहिनाम् ।
दासानगारपालानां, साराराजिः सदेह ना॥९४॥

अन्वयार्थ–(अनगारपालानां दास!) हे मुनियों के रक्षकों के दास! हे गुरुसेवक! यह धर्मप्रभावना **(संसारागाधपाठीनाकरमज्जितदेहिनां)** संसाररूपी, अगाध–गंभीर, पाठीनाकर–मीनाकर–समुद्र में, मज्जित–डूबे हुए प्राणियों को **(सदा)** सदाकाल **(इह)** लोक में **(साराराजिः)** श्रेष्ठ रेखा से अंकित **(ना)** नौका है।

भावार्थ–हे मुनिरक्षकों के दास! यह धर्मप्रभावना, संसाररूपी गहरे समुद्र में निमग्न प्राणियों के लिए सदा इस संसार में श्रेष्ठ रेखाओं से अंकित नौका है।

गंगा प्रदान करती बस शीत पानी, तो गाय दूध दुहती जग में सयानी।
चाहूँ इन्हें न, इनसे न प्रयोजना है, देती निजामृत जिनेन्द्र प्रभावना है ॥९३॥
संसार सागर असार अपार खारा, कोई न धर्म बिन है तुमको सहारा।
नौका यही तरणतारण मोक्षदात्री, ये जा रहे, कुछ गये उस पार यात्री ॥९४॥

सद्धर्मिणि धृतसम ! यः, वात्सल्यं वत्स इव गौः कृतसमय!।
करोत्याप्यते समयः, श्रियस्तेन सदयेन समयः ॥९५॥

अन्वयार्थ–(धृतसम!) हे समता को धारण करने वाले सहधर्मियों के रक्षक! **(कृतसमय!)** हे आगम के प्रणेता **(यः)** जो **(वत्से)** बछड़े पर **(गौः इव)** गाय के समान **(सद्धर्मिणि)** सद्धर्म के धारकों में **(वात्सल्यं करोति)** सहज स्नेहभाव रखता है **(तेन सदयेन)** उस सदय मनुष्य के द्वारा **(समयः)** शुद्धात्मा और **(श्रियः)** अनन्तचतुष्टयरूप लक्ष्मी का भी **(समयः)** संगम **(आप्यते)** प्राप्त किया जाता है।

भावार्थ– हे धृतसम! सहधर्मा जनों की रक्षा करने वाले! हे कृतसमय! आगम अथवा आचार को करने वाले! बछड़े पर गाय के समान जो समीचीन धर्म के धारक जनों पर स्नेह करता है, उस दयालु मानव के द्वारा शुद्धात्मा और मोक्ष लक्ष्मी का समागम प्राप्त किया जाता है।

अस्मिन् धृतभाव सति, प्रभोऽस्तु हिंसात्मकवृत्तेर्वसतिः।
लसति विहायसि वसति, प्रभाकरे किं वसति वसतिः ॥९६॥

अन्वयार्थ– (धृतभाव!) हे स्वभाव धारक **(प्रभो)** प्रभो! **(अस्मिन् सति)** इस वात्सल्य गुण के रहने पर **(हिंसात्मकवृत्तेः)** क्रूर परिणति की **(किं)** क्या **(वसतिः)** स्थिति **(अस्तु)** रह सकती है? अपितु नहीं रह सकती। **(विहायसि)** गगन में **(लसति)** शोभायमान **(प्रभाकरे)** सूर्य के **(वसति)** रहने पर **(किं)** क्या **(वसतिः)** निशा **(वसति)** रह सकती है? अपितु नहीं रह सकती।

भावार्थ–हे धृतभाव! हे स्वभाव के धारक, हे प्रभो! इस वात्सल्यभाव के रहते हुए क्रूरवृत्ति की क्या स्थिति हो? अर्थात् नहीं हो। आकाश में देदीप्यमान सूर्य के रहते क्या रात्रि रह सकती है? अर्थात् नहीं।

गो वत्स में परम हार्दिक प्रेम जैसा, साधर्मि में तुम करो यदि प्रेम वैसा।
शुद्धात्म को सहज से द्रुत पा सकोगे, औ मोक्ष में अमित काल बिता सकोगे ॥९५॥
वात्सल्य हो उदित ओ उर में जभी से, हैं क्रूरभाव मिटते सहसा तभी से।
भानू उगे गगन भू उजले दिखाते, क्या आप तामस निशा तब देख पाते? ॥९६॥

अनलयोगात् कलङ्कस्तथात्मनोऽस्माल्लयमेति कलङ्कः ।
सकलं गतः कलं कः, कलयति कलमेशोऽकलङ्कः ॥९७॥

अन्वयार्थ—जिस प्रकार **(अनलयोगात्)** अग्नि के संयोग से **(कलङ्कः)** कालायस-लोह सम्बन्धी दोष **(लयम् एति)** विनाश को प्राप्त होता है **(तथा)** उसी प्रकार **(आत्मनः)** आत्मा का **(कलङ्कः)** दोष **(अस्मात्)** वात्सल्य गुण के कारण **(लयम् एति)** विनाश को प्राप्त होता है। ऐसा **(सकलंगतः)** सकल कलाओं को प्राप्त अथवा संपूर्ण को प्राप्त अथवा सकलंगतः- सकल=पदार्थसमूह को गतः=जानने वाले अर्थात् दिव्य ज्ञान से सबको जानने वाले **(कलं)** परमौदारिक शरीर को भी प्राप्त अथवा कलंगतं-कल=अनन्तवीर्य को प्राप्त अर्थात् अनन्तबलशाली। **(कलमेशः)** कल-शरीर की, मा-लक्ष्मी-शोभा के, ईश-स्वामी **(अकलङ्कः)** राग-द्वेषादि रहित **(कः)** अर्हत् परमेष्ठी **(कलयति)** जानते हैं और निरूपण करते हैं अर्थात् जो सर्व को जानता है वह नियमरूप से अनन्तबल को धारण करता है। ऐसे अर्हत्परमेष्ठी सकल को जानते हैं और पदार्थों का निरूपण भी करते हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार अग्नि के संयोग से कलंक नाश को प्राप्त होता है, उसी प्रकार वात्सल्यभाव से आत्मा का द्वेष नाश को प्राप्त होता है, ऐसा कलाओं से सहित परमौदारिक शरीर को प्राप्त, लक्ष्मीपति, कलंकरहित जिनेन्द्र कहते हैं।

भवति स्म भो ! भावतो, भवति भवभवकृतशुभतो भावतः।
न्विदं विभो! विभावतो, वियुतोऽभवो भवो भावतः ॥९८॥

अन्वयार्थ— (भो विभो!) हे भगवन्! **(भावतः)** सहजरूप **(भावतः)** जन्म से ही **(भवति)** भगवान् आप में **(नु इदं)** यह वात्सल्य **(भवभवकृतशुभतः)** जन्म-जन्म में किए गए शुभ कार्य से **(भवति स्म)** हुआ है। **[अतः]** इसलिए **(भावतः)** संसार के **(विभावतः)** रागद्वेषादि परिणतिरूप विभाव से **(वियुतः)** रहित **(अभवः)** जन्म रहित **(भवः)** सिद्धपर्याय रूप हुए हो अथवा भवः-कल्याण स्वरूप हो।

भावार्थ—भो! विभो! हे भगवन्! सहजरूप से, जन्म से ही आपमें यह वात्सल्य अनेक भवों में किए पुण्य योग से प्रकट हुआ था। अतः संसार एवं विभावपरिणति से रहित जन्मातीत सिद्धपर्याय प्राप्त होती है।

निर्दोष हो अनल से झट लोह पिण्ड, वात्सल्य से विमल आतम हो अखण्ड।
आलोक से सकललोक अलोक देखा, यों वीर ने सदुपदेश दिया सुरेखा ॥९७॥
वात्सल्य तो जनम से तुम में भरा था, सौभाग्य था सुकृत का झरना झरा था।
त्रैलोक्य पूज्य जिनदेव तभी हुए हो, शुद्धात्म में प्रभव वैभव पा लिए हो ॥९८॥

ननु रविरिव पयोऽङ्ग तं, पयोजचयं प्रति पयः पयोगतम्।
भूतमपापयोग तन्, मनोऽस्त्वकं मे कृपया गतम्॥९९॥

अन्वयार्थ– **(अङ्ग अपापयोग!)** हे पापयोग रहित! **(तं)** प्रसिद्ध **(पयोजचयं प्रति)** कमलसमूह के प्रति **(रविः इव)** सूर्य के समान **(पयोगतं)** दुग्ध में मिले **(पयः)** जल के प्रति **(पयः इव)** दुग्ध के समान **(अकंगतं)** दुख व पाप को प्राप्त **(भूतं)** प्राणियों के प्रति **(मे)** मेरा **(तत्)** वात्सल्य युक्त **(मनः)** मन **(कृपया)** दया से युक्त **(ननु)** निश्चय से **(अस्तु)** हो।

भावार्थ– हे अशुभोपयोग से रहित! प्रसिद्ध कमलसमूह के प्रति सूर्य के समान तथा दूध में मिले पानी के प्रति दूध के समान दुःखी प्राणी के प्रति मेरा वह मन करुणा से युक्त हो।

(अनुष्टुप् छन्दः)

मनोहरं मदोन्मत्तं, मनो हरं हरिं नय ।
एनोहरं न्वदो वित्तं, रं नो ह्यरं ह्यरिं श्रय ॥१००॥

अन्वयार्थ– **(उ)** हे आत्मन्! तू **(मदोन्मत्तं)** मद से उन्मत्त **(मनः)** मन को **(एनोहरं)** पाप को हरने वाले, **(मनोहरं)** मन को हरने वाले **(हरिं)** सिंह स्वरूप–मनरूपी हरिण को वश में करने वाले **(हरं)** दुख को हरने वाले प्रथम जिनेन्द्र के पास **(नय)** ले जा। **(अदः)** इस वात्सल्यरूप **(वित्तं)** धन को **(अरं)** शीघ्र **(श्रय)** भज, प्राप्त कर। **(हि)** निश्चय ही **(रम् अरिं)** कामशत्रु को **(नो)** नहीं भज, आश्रय न ले। हि शब्द पादपूर्ति के लिए है और नु शब्द वितर्क के अर्थ में है।

भावार्थ–हे आत्मन्! तू यह वात्सल्यभाव सबसे पहले मदोन्मत्त मन को, मन को हरण करने वाले सिंह को और पाप को हरने वाले हर को प्राप्त कराओ। इस वात्सल्यरूप धन का तू शीघ्र ही आश्रय ले, कामाग्निरूप शत्रु का आश्रय मत ले।

बन्धुत्व को जलज के प्रति भानू धारा, मैत्री रखे सुजल में वह दुग्ध धारा।
स्वामी! परन्तु जग के सब प्राणियों में, वात्सल्य हो, न मम केवल मानवों में॥ ९९॥
उन्मत्त होकर कभी मन का न दास, हो जा उदास सबसे बन वीर दास।
वात्सल्यरूप सर में डुबकी लगाले, ले ले सुनाम 'जिन' का प्रभु गीत गा ले ॥१००॥

गुरुस्मरणम्

श्रीज्ञानसागरकृपापरिपाक एव,
यद्‘भावनाशतककाव्य’-मघारिहन्तृ ।
अध्यास्य सुश्रयमतोऽस्य सुशस्यकस्य,
विद्यादिसागरतनुर्लघु ना भवामि॥१०१॥

अन्वयार्थ—यह **(श्रीज्ञानसागरकृपापरिपाकः)** श्री ज्ञानसागरजी गुरुदेव के कृपा-करुणा का परिपाक-फल **(एव)** ही है **(यत्)** जो **(अघारिहन्तृ)** पाप शत्रु को नष्ट करने वाला **(भावनाशतक-काव्यं)** भावनाशतक नाम का काव्य मेरे द्वारा रचा गया है। **(अतः)** इस कारण से **(सुशस्यकस्य)** सुप्रशंसनीय है, क-आत्मा जिनकी ऐसे **(अस्य)** ज्ञानसागर गुरु का **(सुश्रयं)** श्रेष्ठ आश्रय **(अध्यास्य)** प्राप्तकर **(ना)** यह साधारण मनुष्य मैं **(लघु)** शीघ्र **(विद्यादिसागरतनुः)** विद्यासागर रूप **(भवामि)** हो रहा हूँ।

भावार्थ—यह श्री ज्ञानसागर महाराज की कृपा का फल है कि मेरे द्वारा पापरूप शत्रुओं को नष्ट करने वाला ‘भावनाशतक’ नाम का काव्य बन सका। अतः अतिशय प्रशंसनीय आत्मा वाले इन गुरु का आश्रय प्राप्त कर मैं एक साधारण मनुष्य शीघ्र ही विद्यासागर हो रहा हूँ।

गुरु-स्मृति

आशीष लाभ यदि, मैं तुमसे न पाता, तो भावनाशतक काव्य लिखा न जाता।
हे ज्ञानसागर गुरो! मुझको संभालो, विद्यादिसागर बना तुममें मिला लो ॥१०१॥

मङ्गलकामना:

विद्याचारित्रसम्यक्त्वैः, संसारपापपुण्यविद्।
द्यामनिच्छन् यतेर्भाव, एहि ह्यलमविद्यया ॥१॥

अन्वयार्थ– (विद्याचारित्रसम्यक्त्वैः) सम्यक्त्व, ज्ञान और चारित्र के द्वारा **(संसारपाप-पुण्यविद्)** संसार और संसार के कारणभूत पाप तथा पुण्य को जानने वाला **(द्यां)** स्वर्ग को **(अनिच्छन्)** नहीं चाहने वाला जो **(यतेर्भावः)** मुनि का भाव है वह **(हि)** यथार्थ में **[मां]** मुझे **(एहि)** प्राप्त हो **(अविद्यया अलं)** अविद्यारूप अज्ञान दूर रहे।

भावार्थ– सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के द्वारा संसार और इसके कारणभूत पुण्य-पाप को जानने वाला तथा स्वर्ग की इच्छा न करने वाला यति का जो भाव है, वह मुझे प्राप्त हो, अज्ञान दूर हो।

सात्त्विकवृत्तिरादर्श-,भूषाऽस्माकं नु चेद्धि सा।
गमिष्यामो यथा धाम, श्रेयसः श्रेष्ठ ! सर्वग!॥२॥

अन्वयार्थ–(श्रेष्ठ!) हे सर्वोत्तम! **(सर्वग!)** हे सर्वज्ञ! **(नु चेत्)** यदि **(अस्माकं हि)** हम भव्यों की ही **(सा)** वह प्रसिद्ध **(आदर्शभूषा)** आदर्शों से विभूषित **(सात्विकवृत्तिः)** सत्य प्रवृत्ति **[भवेत्]** हो जावे तो हम सब **(श्रेयसः)** कल्याण के **(धाम)** स्थान मोक्ष को **(यथा गमिष्यामः)** यथा पुरुषार्थ प्राप्त हो जायेंगे।

भावार्थ–हे श्रेष्ठ! हे सर्वज्ञ! यदि हम लोगों की आदर्शभूत वह सात्त्विक वृत्ति हो जाय तो हम कल्याण के स्थान-मोक्ष को प्राप्त हो जावें।

रतिरागविरक्तोऽसि, सद्गुरो! ज्ञानसागर !।
रत्नाकराय दोषेशो, दर्शनं देहि शङ्कर!॥३॥

अन्वयार्थ– (ज्ञानसागरसद्गुरो!) हे दीक्षा प्रदाता महाकवि आचार्य ज्ञानसागर गुरु! आप **(रतिरागविरक्तः असि)** रति तथा रागभाव से विरक्त हो **(रत्नाकराय)** रत्नत्रयस्वरूप समुद्र की वृद्धि के लिए **(दोषेशः)** दोषा-रात्रि के, ईशः-स्वामी=चन्द्रमा हो **(शङ्कर!)** हे सुख शान्ति को करने वाले गुरुदेव! **[मां]** मुझे **(दर्शनं देहि)** दर्शन दीजिये।

भावार्थ– हे समीचीन गुरो ज्ञानसागर! आप रति तथा राग से विरक्त हो, रत्नत्रयरूप सागर की वृद्धि करने के लिए चन्द्रमा हो तथा शान्ति को उत्पन्न करने वाले हो, मुझे दर्शन दीजिये।

चिति स्थितेन काव्यं न, मया शब्दैः कृतं शुचि ।
तन्तुभिश्च पटो जातो, सतेति किं न सम्मतम् ॥४॥

अन्वयार्थ– (चितिस्थितेन) आत्मा में स्थित [गुरुज्ञानसागरेण] गुरु ज्ञानसागर जी के द्वारा

(शब्दैः) शब्दों से **(शुचि)** पवित्र **(काव्यं)** भावनाशतक नामक काव्य **(कृतं)** किया गया है **(न मया)** मेरे द्वारा नहीं। **(तन्तुभिः)** तन्तुओं के द्वारा **(पटः)** वस्त्र **(जातः)** उत्पन्न होता है **(किं)** क्या **(इति)** ऐसा **(सता)** सज्जनों के द्वारा **(सम्मतं न)** सम्मत नहीं है? सम्मत ही है।

भावार्थ— आत्मा में स्थित आपके द्वारा ही यह निर्मल काव्य रचा गया है, मेरे द्वारा नहीं। तन्तुओं से पट बनता है, यह क्या सत्पुरुषों के द्वारा नहीं माना गया है? माना गया है।

भारतः सर्वदेशेषु भातु भेषु शशिप्रभा।
वनेऽप्यत्र सन्तः सन्ति मृगेन्द्रा विभया इव ॥५॥

अन्वयार्थ— (भारतः) भारतदेश **(सर्वदेशेषु)** सभी देशों में **(भेषु)** नक्षत्रों में **(शशिप्रभा इव)** चन्द्रमा की चाँदनी की तरह **(भातु)** शोभित होता है **(वने मृगेन्द्राः इव)** वन में सिंह के समान **(सन्तः)** दिगम्बर संत **(अपि)** भी **(अत्र)** इस देश में **(विभयाः)** निर्भय हो **(सन्ति)** विहार करते हैं/ विचरण करते हैं।

भावार्थ— भारतवर्ष सब देशों में उस तरह सुशोभित हो जिस तरह नक्षत्रों में चन्द्रमा की प्रभा। जिस प्रकार वन में सिंह निर्भय रहते हैं, उसी प्रकार इस देश में सत्पुरुष भी निर्भय रहते हैं।

नानास्वापत्तिषु श्रेयो-, मार्गी मुक्त्वा धृतिं न ना।
शमी दमी यमी भूत्वा,ऽयते वृषं ह्यकर्कशः ॥६॥

अन्वयार्थ— (श्रेयोमार्गी ना) मोक्षमार्गी पुरुष **(नानासु)** अनेक **(आपत्तिषु)** विपत्तियों के आने पर **(धृतिं)** धैर्य को **(न हि मुक्त्वा)** नहीं छोड़कर **(शमी)** शान्त परिणामी **(दमी)** जितेन्द्रिय **(यमी)** महाव्रती संयमी और **(अकर्कशः)** मृदु परिणामी **(भूत्वा)** होकर **(वृषं)** धर्म को **(अयते)** प्राप्त होते हैं, धारण करते हैं।

भावार्थ— मोक्षमार्गी मनुष्य विविध विपत्तियों में भी धैर्य को नहीं छोड़ता है। वह शान्त, जितेन्द्रिय तथा मृदुपरिणामी साधु होकर धर्म को प्राप्त होता है।

तले क्षितेर्जनाः सर्वे, सुखिनः सन्तु सौगत!।
कं भजन्तु सदैवैते, यान्तु कदापि नो ह्यकम् ॥७॥

अन्वयार्थ— (सौगत!) हे सर्वज्ञ भगवन्! **(क्षितेः तले)** इस वसुधा तल पर **(सर्वे जनाः)** सभी जीव **(सुखिनः)** सुखी **(सन्तु)** हों, **(सदैव)** सदा ही **(एते)** सभी जीव **(कं)** सुख को **(भजन्तु)** प्राप्त हों, **(कदापि)** कभी भी **(अकं)** दुख को **(नो यान्तु)** नहीं प्राप्त हों, **(हि)** निश्चय से यह मेरी भावना है।

भावार्थ— हे भगवन्! पृथ्वीतल पर सब मनुष्य सुखी हों, ये सदा ही सुख को प्राप्त हों, कभी भी दुःख को प्राप्त न हों, यह मेरी भावना है।

क्षायोपशमिकज्ञानात् स्खलनमत्र भावतः ।
विज्ञैरतः समाशोध्य पठितव्यं सुखप्रदम् ॥८॥

अन्वयार्थ– (क्षायोपशमिकज्ञानात्) क्षयोपशमज्ञान के कारण **(अत्र)** इस काव्य में **(स्खलनं)** अशुद्धियाँ सम्भव हैं **(अतः)** इसलिए **(विज्ञैः)** विज्ञ जनों के द्वारा **(भावतः)** अभिप्राय की अपेक्षा से **(समाशोध्य)** सम्यक् रूप से शुद्ध करके **(सुखप्रदं)** सुखकारी ग्रन्थ को **(पठितव्यं)** पढ़ना चाहिए।

भावार्थ– क्षायोपशमिक ज्ञान होने से इस ग्रन्थ में अशुद्धियाँ संभव हैं, अतः ज्ञानीजनों को भाव की अपेक्षा संशोधन कर इस सुखदायक ग्रन्थ को पढ़ना चाहिए।

स्थान और समय परिचय

ख्याते क्षेत्रे 'महावीरे' सर्वैर्जनैः समादृते।
गम्भीरनदकूलस्थे संसारकूलदर्शिनि ॥९॥
समुपयोग-योगाभ्रमोक्षे विक्रम संवत्सरे ।
वैशाखीममामित्वेतीमामिति मितिं गतम् ॥१०॥

अन्वयार्थ–(सर्वजनैः) सर्वजनों से **(समादृते)** आदर को प्राप्त **(गम्भीरनदकूलस्थे)** गंभीर नदी के तट पर स्थित **(संसारकूलदर्शिनि)** संसार का किनारा दिखाने वाले **(ख्याते क्षेत्रे)** विख्यात अतिशय तीर्थक्षेत्र **(महावीरे)** महावीरजी में **(समुपयोगयोगाभ्रमोक्षे)** उपयोग-२, योग-३, अभ्र-०, मोक्ष-२ अंकानांवामतोगतिः के अनुसार विपरीत संख्या में २०३२ **(विक्रमसंवत्सरे)** विक्रमसंवत्सर में **(वैशाखीं)** वैशाख की **(इमां)** प्रसिद्ध **(अमां)** अमावस्या **(मितिं)** तिथि को **(इत्वा)** प्राप्तकर, जानकर **(इति)** ऐसा भावनाशतकनामक काव्य **(इतिं)** पूर्णता को **(गतं)** प्राप्त हुआ।

भावार्थ–जो सब लोगों के द्वारा आदृत है, गम्भीर नदी के तट पर स्थित है और संसार का किनारा दिखलाने वाला है ऐसे श्री महावीरजी अतिशय क्षेत्र में वैशाख वदी अमावस्या, विक्रम संवत् २०३२ को संस्कृत 'भावनाशतकम्' की रचना पूर्णता को प्राप्त हुई।

❑ ❑ ❑

निरञ्जनशतकम्

रचयिता

आचार्य विद्यासागर महाराज

निरञ्जनशतकम्

संत शिरोमणि आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज का द्वारा रचित निरञ्जनशतक में निरञ्जन भगवान् जिनेन्द्र का स्तवन है। कोशों में निरञ्जन शब्द के अनेक पर्यायवाची शब्द हैं–निष्कलंक, निर्दोष, मिथ्यात्व से रहित और ऋजु। परमात्मा के लिए भी इसका प्रयोग होता है।

इसमें सौ श्लोक हैं तथा अन्त में इनके अतिरिक्त पाँच अनुष्टुप् श्लोकों में मंगलकामना व्यक्त की गई है। शतक के ९९ पद द्रुतविलम्बित छन्द में तथा गुरुस्मरण १ आर्या छन्द में निबद्ध है। अन्त में २ अनुष्टुपों में रचना स्थल एवं रचना काल का उल्लेख किया है–

श्रीधरकेण चान्तेन केवलिना शुचिं गते।
सिद्धक्षेत्रे सुरम्येऽत्र विख्याते कुण्डले गिरौ॥१॥
गुप्ति-ख-गति-संगेऽदो वीरे संवत्सरे शुभे।
श्रुतस्य पञ्चमीमीत्वेतीतामितिं मितिं गतम्॥२॥

'निरंजनशतकम्' को श्रीधरकेवली की निर्वाण स्थली श्री दिगम्बर जैन सिद्धक्षेत्र कुण्डलगिरि दमोह (म.प्र.) में गुप्ति=मन-वचन-कायगुप्ति=३, ख=आकाश =०, गति=नरक-तिर्यंच-मनुष्य-देव एवं सिद्धगति=५, संग=बाह्य एवं भीतरी परिग्रह=२; 'अंकानां वामतो गतिः' के अनुसार वीर निर्वाण संवत् २५०३, विक्रम संवत् २०३२, ज्येष्ठ शुक्ल पंचमी–श्रुतपंचमी, सोमवार, २३ मई, १९७७ ई० को पूर्ण किया। सर्वप्रथम हम इसके वर्ण्य-विषय पर दृष्टिपात करते हैं।

शतक का प्रारम्भ आचार्यश्री द्वारा सुर, नरों से नमित, मुनिरञ्जक एवं कर्मकालुष्य से हीन निरञ्जन–सिद्ध भगवान को नमस्कार करके इस उद्देश्य के साथ हुआ है कि मैं संसार-परिभ्रमण से मुक्त होने के लिए जिनेन्द्र भगवान् अथवा सिद्ध परमेष्ठी की स्तुति करता हूँ।

इस स्तुति में कवि का अपना उद्देश्य स्पष्टतः मोक्ष-प्राप्ति है। निरंजन देव सिद्ध परमेष्ठी हैं। त्रिकालज्ञाता महामुनि जिनेन्द्र देव हैं। कवि को विश्वास है कि उनकी स्तुति से स्तुतिकर्ता भी 'जिन' रूप हो जायेंगे। द्वितीय श्लोक में 'एषः' शब्द स्वयं विद्यासागर के निमित्त प्रयुक्त हुआ उपलक्षण मात्र है। वास्तव में सभी स्तोता तद्रूप हो जाते हैं।

निरञ्जनशतकम्

सविनयं ह्यभिनम्य निरञ्जनम्, नतिमितं नृसुरैर्मुनिरंजनम्।
भवलयाय करोमि समासतः, स्तुतिमिमां च मुदात्र समा सतः ॥१॥

अन्वयार्थ—(अत्र) जगत् में **(नृसुरैः)** मनुष्य और देवों से **(नतिं)** नमस्कार को **(इतिं)** प्राप्त **(मुनिरञ्जनं)** मुनिजन को आनंद उत्पन्न करने वाले **(निरञ्जनं)** घातिकर्म कालिमा से अतीत अर्हन्तों को और सर्वकर्मरूपी अंजन से विमुक्त सिद्धों को **(सविनयं)** विनयसहित **(हि)** ही **(अभिनम्य)** भक्तियुक्त नमस्कार करके **(सतः)** अर्हन्त-सिद्ध परमेष्ठीस्वरूप निरंजनदेव की **(इमां)** इस प्रस्तुत **(स्तुतिं च)** स्तुति को **(मुदा समा)** हर्ष के साथ **(समासतः)** संक्षेप से **(भवलयाय)** जन्म-मरणमय संसार को नष्ट करने के लिए **(करोमि)** करता हूँ।

भावार्थ—इस जगत् में (मैं विद्यासागर) मनुष्यों और देवों के द्वारा स्तुत तथा मुनियों को प्रमुदित करने वाले कर्मकालिमा से रहित सिद्ध परमात्मा को विनयपूर्वक नमस्कार कर अपना संसार-परिभ्रमण नष्ट करने के लिए हर्ष सहित उन निरंजन-जिनेश्वर अथवा सिद्ध परमेष्ठी की संक्षेप से इस स्तुति को करता हूँ।

निजरुचा स्फुरते भवतेऽयते, गुणगणं गणनातिगकं यते!
विदितविश्व! विदा विजितायते! ननु नमस्तत एष जिनायते ॥२॥

अन्वयार्थ— (विदितविश्व!) हे लोकालोक को जानने वाले सर्वज्ञ! **(विदा)** स्वसंवेदन ज्ञान के बल से **(विजिता)** जीत लिया है **(आयते)** आगामी संसार को जिन्होंने ऐसे हे वीतराग! **(यते!)** हे मुने! **(निजरुचा)** निजदेह की कान्ति से अथवा ज्ञान स्वभावी आत्मा की बुद्धि से **(स्फुरते)** देदीप्यमान **(गणनातिगकं)** गणना से अतीत **(गुणगणं)** गुणसमूह को **(अयते)** प्राप्त करने वाले **(ते)** आपको **(ननु)** निश्चय से **(नमः)** नमस्कार करता हूँ। **(ततः)** उस नमस्कार से **(एषः)** स्तुतिकर्ता **(जिनायते)** जिनेन्द्र के समान आचरण करता है।

भावार्थ—जिन्होंने समस्त पदार्थ को जान लिया है, जिन्होंने ज्ञान के द्वारा अपने भविष्य को विजित किया है तथा जो महामुनीन्द्र है, ऐसे हे जिनेन्द्र! अपरिमित गुण समूह को प्राप्त करने वाले आपके लिए मेरा निश्चय से नमस्कार है। इस नमस्कार से मैं ऐसा अनुभव करता हूँ कि मैं जिन के समान हो गया हूँ आपके स्तवन से मैं जिन बनूँगा, इसमें संशय नहीं है।

सन्तों नमस्कृत सुरों बुध मानवों से, ये हैं जिनेश्वर नमूँ मन वाक्तनों से।
पश्चात् करूँ स्तुति निरंजन की निराली, मेरा प्रयोजन यही कि मिटे भवाली॥१॥
स्वामी! अनन्त-गुण-धाम बने हुए हो, शोभायमान निज की द्युति से हुए हो।
मृत्युंजयी सकल-विज्ञ विभावनाशी, वंदूँ तुम्हें, जिन बनूँ सकलावभासी ॥२॥

परपदं ह्यपदं विपदास्पदं, निजपदं नि पदं च निरापदम्।
इति जगाद जनाब्जरविर्भवान्, ह्यनुभवन् स्वभवान् भववैभवान् ॥३॥

अन्वयार्थ–(विपदास्पदं) विपत्तियों का स्थान **(अपदं)** अरक्षक **(हि)** वस्तुतः **(परपदं)** आत्मा के ज्ञान स्वभाव से भिन्न परपद है **(च)** और **(निरापदं)** आपदाओं से रहित **(नि)** निश्चय से **(पदं)** विश्राम का स्थान **(निजपदं)** ज्ञानस्वभावी आत्मतत्त्व ही निजपद है। **(इति)** इस प्रकार **(स्वभवान्)** स्वयं से उत्पन्न **(भववैभवान्)** संसार में आत्मवैभव का **(अनुभवन्)** अनुभव करने वाले **(जनाब्जरविः)** भव्यजन कमलों को विकसित करने के लिए सूर्य के समान **(भवान्)** आप अर्हन्त तीर्थंकर ने **(इति जगाद)** ऐसा कहा है।

भावार्थ–निश्चयतः आत्मस्वभाव से भिन्न-अन्यपद विपदाओं के स्थान हैं, अतएव अपद-अरक्षक हैं और आत्मस्वभावरूप निजपद विपदाओं से रहित तथा आत्मरमण का स्थान है। परमार्थ से स्वोत्पन्न संसार में आत्म वैभवों का अनुभव करने वाले तथा भव्य जनरूपी कमलों को विकसित-प्रफुल्लित करने के लिए सूर्यस्वरूप आपने, ऐसा स्पष्ट कहा है।

पदयुगं शिवदं नु शमीह ते, श्रयतु चेत्स्वपदं स समीहते।
अधनिनो धनिनं हि धनाप्यते, किमु भजंति न लब्धधनाप्त! ये ॥४॥

अन्वयार्थ– (लब्धधन!) हे अनन्त चतुष्टयरूप धन को प्राप्त ! **(आप्त!)** हे अर्हन् सर्वज्ञ **(चेत्)** यदि **(सः)** वह **(शमी)** कषायों का शमन करने वाले सज्जन **(स्वपदं)** स्वकीय चैतन्य वैभव को **(समीहते)** चाहते हैं **(नु)** निश्चय से **(ते)** आपके **(शिवदं)** मोक्ष देने वाले **(पदयुगं)** चरण कमल का **(श्रयतु)** आश्रय लेवें **(इह)** इस जगत् में **(ये)** जो **(अधनिनः)** निर्धन व्यक्ति **(ते)** वे **(हि)** निश्चय से **(धनाप्तये)** धन प्राप्ति के लिए **(किमु)** क्या **(धनिनं)** धनिक लोगों को **(न भजन्ति)** नहीं भजते हैं?

भावार्थ–हे आत्मधन को प्राप्त करने वाले अरहन्तदेव! इस जगत् में यदि शान्त स्वभाव वाला जन सुखस्वरूप स्वपद शुद्धात्मतत्त्व को प्राप्त करना चाहता है तो वह मोक्षदायक अथवा कल्याणप्रदाता आपके चरणयुगल की सेवा करे, क्योंकि इस जगत् में जो निर्धन मनुष्य हैं, वे धन प्राप्ति के लिए क्या धनिकपुरुष की सेवा नहीं करते अर्थात् अवश्य करते हैं।

सच्चा निजी पद निरापद सम्पदा है, तो दूसरा पद घृणास्पद आपदा है।
हे! भव्यकंजरवि! यों तुमने बताया, शुद्धात्म से प्रभव वैभवभाव पाया ॥३॥
जो चाहता शिव सुखास्पद सम्पदा है, वो पूजता तव पदाम्बुज सर्वदा है।
पाना जिसे कि धन है अयि 'वीर' देवा! क्या निर्धनी धनिक की करता न सेवा? ॥४॥

यदसि सत्यशिवोऽसि सदा हितः, तव मदो महसा हि स दाहितः।
गतगतिः सगतिर्गतसंमतिः, मम मतेः सुगतिर्भुवि सन्मतिः॥५॥

अन्वयार्थ—विभो! **(तव)** आपके **(महसा)** रत्नत्रय के तेज से **(हि)** वस्तुतः **(सः मदः)** वह प्रसिद्ध काममद **(दाहितः)** जलाया गया **(यत्)** जिस कारण से आप **(सत्यशिवः असि)** वास्तविक शिव-शंकर हैं। इसलिए **(भुवि)** पृथ्वी पर आप **(सदा हितः असि)** निरन्तर हितरूप हैं **(गतगतिः)** दुखरूप चार गतियों से रहित हैं **(गतसंमतिः)** क्षयोपशमरूप मतिज्ञान से गत-रहित अथवा पूर्णज्ञान से गत-सहित हैं। **(सगतिः)** मोक्षगति-सिद्धगति से सहित हैं ऐसे **(सन्मतिः)** केवली भगवान् अथवा तीर्थंकर वर्धमान स्वामी ही **(मम मतेः)** मेरी मति की **(सुगतिः)** श्रेष्ठ शरण हैं।

भावार्थ—यतश्च आपके तेज के द्वारा वह मद-गर्व अथवा मदन दग्धकर दिया गया। अतः तुम्हीं सत्यशिवरूप हो और तुम्हीं सदा हितरूप हो यतश्च आप गतगति-चतुर्गति रूप परिभ्रमण से रहित हो, सगति-मोक्षरूप गति से सहित और गतसंमति-समीचीन मति से सहित है।

नयनयुग्मनिभेन नयद्वयम्, समयनिश्चयहेतु न! यद्वयम्।
कलयतीति तदाशयवेदका, निजमयाम इव व्यपवेदकाः ॥६॥

अन्वयार्थ— (न!) हे जिन! **[तव]** आपके **(नयद्वयं)** निश्चयनय और व्यवहारनय **(नयनयुग्मनिभेन)** नेत्रयुगल के समान **(समयनिश्चयहेतु)** समय-आगम, पदार्थ व आत्मपदार्थ का निश्चय-निर्णय कराने में हेतुरूप को **(इति)** इस तरह **(कलयति)** प्रकट करते हैं। **(यत्)** जिसकारण से **(वयं)** हम सब **(तत् आशयवेदकाः)** उस अभिप्राय के ज्ञाता हुए हैं और **(व्यपवेदकाः इव)** नष्ट हुए वेद की तरह **(निजम् अयामः)** आत्मा के अनुभव को प्राप्त हुए हैं।

भावार्थ—हे जिनेन्द्र! आपके निश्चय व्यवहारनयों का युगल, नेत्रयुगल के समान समय-आगम अथवा द्रव्यपर्यायात्मक पदार्थ के निश्चय का कारण है, ऐसा जान करके उसके अभिप्राय को जानते हुये हम वेदरहित पुरुष-अखण्डब्रह्मचारी के समान स्वकीय स्वभाव को प्राप्त होते हैं।

सत् तेज से मदन को तुमने जलाया, अन्वर्थ नाम फलरूप 'महेश' पाया।
नीराग हो अमित सन्मति विज्ञ प्यारे, स्वामी मदीय मन को तुम ही सहारे॥५॥
हे! देव दो नयन के मिस से तुम्हारे, हैं वस्तु को समझने नय मुख्य प्यारे।
यों जान, मान, हम लें उनका' सहारा, पावें अवश्य भवसागर का किनारा ॥६॥

अधिपतौ निजचिद् विमलक्षिते व्व्यय-भव-ध्रुव-लक्षण-लक्षिते।
मयि निरामयकः सहसा गरेऽवतरतीव शशी किल सागरे ॥७॥

अन्वयार्थ—(निजचिद्विमलक्षिते) निज चेतना की निर्मल भूमि के **(अधिपतौ)** स्वामी स्वरूप **(व्ययभवध्रुवलक्षणलक्षिते)** व्यय, उत्पाद और ध्रुव लक्षण से सहित **(मयि गरे)** मुझ विषरूप में **(निरामयकः इव)** नीरोग के समान आप भगवान् **(सागरे)** समुद्र में **(शशी इव)** चन्द्रमा के समान **(किल सहसा)** शीघ्र **(अवतरति)** अवतीर्ण हुए हो।

भावार्थ—जो स्वकीय चेतनारूपी निर्मलभूमि का स्वामी है तथा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप लक्षण से सहित है ऐसे मुझमें, विष के बीच नीरोग रहने वाले आप समुद्र में चन्द्रमा के समान सहसा अवतीर्ण हुए हैं।

स्तुतिरियं तव येन विधीयते, तमुभयावयतो न विधी यते!
गजगणोऽपि गुरुर्गजवैरिणम्, नखबलैः किमटेद् विभवैरिनम्॥८॥

अन्वयार्थ— (यते!) हे महामुने! [ज्ञानी मुनियों द्वारा] **(तव)** आपकी **(इयं स्तुतिः)** यह स्तुति **(विधीयते)** की जाती है **(तं)** उन मुनियों को **(उभयौ विधी)** दोनों प्रकार के द्रव्यकर्म और भावकर्म **(न अयतः)** नहीं प्राप्त होते **(नखबलैः)** नखबलों की **(विभवैः)** सामर्थ्य के द्वारा **(गुरुः)** विशालकाय **(गजगणः अपि)** गजसमूह भी **(किं)** क्या **(इनं)** वनस्वामी **(गजवैरिणं)** गजवैरी-सिंह के निकट **(अटेत्)** जाता है? नहीं जाता है।

भावार्थ—हे यतीन्द्र! जिस बुद्धिमान् के द्वारा आपकी यह स्तुति की जाती है उसके पास दोनों प्रकार के कर्म नहीं जाते हैं। क्या हाथियों का समूह स्थूल होने पर भी अपने नखबल के वैभव से वनराज सिंह के सामने जाता है? अर्थात् नहीं जाता।

उत्पाद ध्रौव्य व्यय भाव सुधारता हूँ, चैतन्यरूप वसुधातल पालता हूँ।
पाते प्रवेश मुझमें तुम हो इसी से, स्वामी! यहाँ अमित सागर में शशी से ॥७॥
जो आपमें निरत है सुख लाभ लेने, आते न पास उसके विधि कष्ट देने।
क्या सिंह के निकट भी गज झुण्ड जाता? जाके उसे भय दिखाकर क्या सताता ? ॥ ८॥

निगदितुं महिमा ननु पार्यते, सुगत! केन मनो! मुनिपार्य! ते।
वदति विश्वनुता भुवि शारदा, गणधरा अपि तत्र विशारदाः ॥९॥

अन्वयार्थ– (आर्य!) स्वयं गुणवान् एवं गुणवानों द्वारा पूज्य हे आर्य! **[मुनिप!]** हे मुनि श्रेष्ठ **(मनो!)** हे मनुरूप भगवन् **(ते महिमा)** आपकी महिमा **(ननु)** वास्तव में **(केन)** किन विद्वानों के द्वारा **(निगदितुं)** कहने के लिए **(पार्यते)** शक्य हो सकती है? किसी के द्वारा भी नहीं। **[इति]** इस प्रकार **(भुवि)** पृथ्वी पर **(विश्वनुता)** सकल विश्व द्वारा स्तुत **(शारदा वदति)** जिनवाणी कहती है **(तत्र)** उस स्तुति के विषय में **(विशारदाः)** चार ज्ञानधारी **(गणधराः अपि)** गणधरदेव भी ऐसा **[वदन्ति]** कहते हैं अर्थात् भगवान् जिनेन्द्र की महिमा वचनों के अगोचर है।

भावार्थ–हे बुद्ध! हे मनुरूप! हे मुनिपालक-मुनिश्रेष्ठ! हे आर्य! हे पूज्य! निश्चय से आपकी महिमा किसके द्वारा कही जा सकती है ? अर्थात् किसी के द्वारा नहीं। पृथिवी पर सब के द्वारा स्तुत सरस्वती ऐसा कहती है और स्तुतिविद्या में निपुण गणधरदेव भी ऐसा ही कहते हैं।

निजनिधेर्निलयेन सताऽतनो-, र्मतिमता वमता ममता तनोः।
कनकता फलतो ह्युदिता तनौ, यदसि, मोहतमः सविताऽतनो!॥१०॥

अन्वयार्थ– (अतनो!) हे अशरीरिन्! **(अतनोः)** तनु-अल्प व अतनु-विशाल **(निजनिधेः)** आत्मसम्पदा के **(निलयेन)** भंडार **(मतिमता सता)** बुद्धिमान् होकर आपने **(तनोः)** देह की **(ममता)**ममता **(वमता)** वमन कर दी-मिटा दी **(फलतः)** फलस्वरूप आपकी **(तनौ)** देह में **(कनकता)** स्वर्ण जैसी आभा **(हि)** सम्यक्रूप से **(उदिता)** प्रकट हुई है **(यत्)** जिसके कारण आप **(मोहतमः)** मोहरूपी अन्धकार को नष्ट करने के लिए **(सविता असि)** सूर्य के समान हैं।

भावार्थ–हे अतनो! हे अशरीर! यतश्च आप विशाल आत्मसम्पदा के आधार है, यतश्च स्वपरभेद विज्ञानी होकर आपने शरीर सम्बन्धी ममताओं को दूर किया है और यतश्च आपके शरीर में सुवर्ण जैसी आभा प्रकट हुई है अतः आप मोहरूपी तिमिर को नष्ट करने के लिए सूर्यतुल्य हैं।

हे! शुद्ध! बुद्ध! मुनिपालक! बोधधारी!, है कौन सक्षम कहे महिमा तुम्हारी ?
ऐसा स्वयं कह रही तुम भारती है, शास्त्रज्ञ पूज्य गणनायक भी व्रती हैं ॥९॥
है आपने स्वतन की ममता मिटादी, सच्चेतना सहज से निज में बिठादी।
लो! देह में इसलिए कनकाभ जागी, मोहान्धकार विघटा, निज, ज्योति जागी ॥१०॥

जिनपदौ शरणौ त्वपि कौ कलौ, कमलकोमलकौ विमलौ कलौ।
जनजलोद्भवरात्र्यहितौ हितौ ,मयि मयाद्य हितौ महितौ हि तौ ॥११॥

अन्वयार्थ– हे जिन! **(जनजलोद्भव-रात्र्यहितौ)** जो भव्यजन रूपी कमलों को विकसित करने सूर्य के समान **(विमलौ)** पापरहित **(कलौ)** सुन्दर **(कमलकोमलकौ)** कुसुम के समान मृदु **(मया महितौ)** मेरे द्वारा पूजित **(मयि हितौ)** मेरे हृदय में धारण किए गये हैं ऐसे **(तौ)** पूज्य प्रसिद्ध **(जिनपदौ)** जिनपद युगल **(अद्य अपि)** आज भी **(कलौ)** कलियुग-पंचमकाल में **(कौ)** पृथ्वी पर **(शरणौ)** शरण हैं। 'तु' शब्द पादपूर्ति के लिए है।

भावार्थ–हे जिन! जो भव्यजनरूपी कमलों को विकसित करने के लिए सूर्य स्वरूप हैं, कमल के समान कोमल हैं, निर्मल हैं, मनोहर हैं, हितकारी हैं और मेरे द्वारा पूजित होकर अपने हृदय में विराजमान किए गये हैं, ऐसे जिनेन्द्रचरण ही पंचमकाल में पृथ्वी पर परमार्थ से शरणभूत हैं-रक्षक हैं।

सुरसयोगमितं यदयोगतं, कनकतां शिवमेष अयोगतः।
इति भवान् क्व रसः क्व मनो चिता, तदुपमा सहसा सह नोचिता ॥१२॥

अन्वयार्थ– (मनो!) हे केवलज्ञानिन्! भगवन्! **(सुरसयोगं)** रसायन के योग को **(इतं)** प्राप्त **(यत्)** जो **(अयः)** लोह तत्त्व **(कनकतां)** स्वर्णपने को **(गतं)** प्राप्त हो गया है **(तु)** परन्तु **(एषः)** स्तुतिकर्त्ता **(अयोगतः)** लोह रूप होकर भी अथवा रसायन के संयोग बिना ही अथवा योग रहित होकर भी **(शिवं)** कल्याण **[प्राप्तः]** प्राप्त हुआ है। **(इति)** इस तरह **(भवान् क्व)** आप कहाँ और **(रसः क्व)** रसायन कहाँ **(चिता)** चैतन्य रूप **(भवता सह)** आपके साथ **(सहसा)** बिना विचारे **(तदुपमा)** रस की उपमा **(उचिता न)** उचित नहीं है। दोनों में बड़ा अंतर है।

भावार्थ–यतश्च लोहा समीचीन रसायन का संयोग पाकर सुवर्णता को प्राप्त हो गया परन्तु यह स्तुतिकर्त्ता आपके प्रभाव से रसायन के सम्बन्ध के बिना ही (पक्ष में-योगरहित अवस्था से) शिव कल्याणरूपता स्वर्णरूपता (पक्ष में मोक्ष) को प्राप्त हो गया। इस तरह आप कहाँ ? और रसायन कहाँ? दोनों में बड़ा अन्तर है। आप चैतन्यरूप हैं और रसायन जड़रूप है। अतः चैतन्यरूप के साथ अचेतन रस की उपमा बिना विचार किए देना उचित नहीं।

श्रीपाद ये कमल-कोमल लोक में हैं, ये ही यहाँ शरण पंचम काल में हैं।
है भव्य कंज खिलता, इन दर्श पाता, पूजूँ अतः हृदय में इनको बिठाता ॥११॥
लोहा बने कनक पारस संग पाके, मैं शुद्ध किन्तु तुमसा तुम संग पाके।
वो तो रहा जड़, रहे तुम चेतना हो, कैसा तुम्हें जड़ तुला पर तोलना हो? ॥१२॥

जिनगतस्त्वयि योऽपि मुदालयं, स्वमयते सह स स्वविदालयम्।
गुणकुलैरतुलैर्ननु संकुलम्, कलकलं विकलय्य भृशं कुलम्॥१३॥

अन्वयार्थ– (अयि जिन!) हे जिन! **(त्वयि)** आपके ध्यान में **(मुदा)** हर्ष के साथ **(यः)** जो कोई जन **(लयं)** लीनता को **(गतः)** प्राप्त हो गया **(सः)** वह भव्य **(ननु)** निश्चय से **(स्वविदा)** अपने आत्मज्ञान से **(कुलं)** शरीर को **(भृशं)** अत्यन्त **(विकलय्य)** पृथक् करके **(अतुलैः)** अतुलनीय **(गुणकुलैः)** गुणसमूह के द्वारा **(संकुलं)** परिपूर्ण **(कलकलं)** सुन्दर कलाओं से युक्त **(स्वम् आलयं)** आत्मगृह [आत्म स्वभाव] को (अयते) प्राप्त करता है।

भावार्थ–हे जिन! जो भी पुरुष हर्ष से आप में लीनता को प्राप्त होता है वह आत्मज्ञान के साथ शरीर को अत्यन्त पृथक् कर अनुपम गुणसमूहों से व्याप्त एवं मनोहर कलाओं से युक्त स्वकीय गृह को प्राप्त होता है।

असितकोटिमिता अमिताः तके, नहि कचा अलिभास्तव तात! के।
वरतपोऽनलतो बहिरागता, सघनधूम्रमिषेण हि रागता ॥१४॥

अन्वयार्थ– (तात!) हे तात! **(तव)** आपके **(के)** सिर पर **(तके)** वे **(अमिताः)** अपरिमित **(असितकोटिं)** कृष्ण वर्ण को **(इताः)** प्राप्त **(अलिभाः)** भ्रमर के समान काले **(कचाः)** केश **(न हि)** नहीं हैं किन्तु **(वरतपोऽनलतः)** उत्कृष्ट तप की अग्नि से **(सघनधूम्रमिषेण)** सघन धूम्र के मिस से **(रागता)** रागभाव **(हि)** ही **(बहिः)** बाहर **(आगता)** आ गया है।

भावार्थ–हे पूज्य! आपके शिर पर वे अपरिमित काले केश नहीं है किन्तु उत्कृष्ट ध्यानरूप अग्नि से उठे हुए धूम के बहाने भीतर की राग परिणति बाहर आयी है। ऐसा मैं मानता हूँ। यह अपह्नवालंकार है।

सानन्द भव्य तुम में लवलीन होता, पाता स्वधाम सुख का, गुणधाम होता।
औ देह त्याग कर आत्मिक वीर्य पाता, संसार में फिर कभी नहिं लौट आता ॥१३॥
काले घने भ्रमर से शिर में तुम्हारे, ये केश हैं नहि विभो! जिनदेव! प्यारे।
ध्यानाग्नि से स्वयम को तुमने जलाया, लो! सान्द्र धूम्र मिस बाहर राग आया ॥१४॥

अयशसां रजसां वपुषाकरः, तव जितो महसा स निशाकरः।
जिन! रतोऽत्र ततोऽप्यमहानये, नखमिषेण पदे ह्यघहानये ॥१५॥

अन्वयार्थ— (अये जिन!) हे जिनवर! **(वपुषा)** शरीर से **(अयशसां)** अयश रूपी मलिन **(रजसां)** धूलि की **(आकरः)** खानि स्वरूप **(सः)** वह प्रसिद्ध **(निशाकरः)** चन्द्रमा **(तव)** आपके **(महसा)** तेज से **(जितः)** पराभूत हुआ है **(ततः)** उस कारण से वह **(अमहान्)** अति लघु होता हुआ **(तव)** आपके **(अत्र)** यहाँ **(पदे)** पदों में **(नखमिषेण)** नखों के बहाने **(हि)** निश्चय से **(अघहानये)** पापों के नाश के लिए **(रतः)** लीन हुआ है। ऐसा मैं मानता हूँ। यह उत्प्रेक्षालंकार है।

भावार्थ—हे जिनदेव! वह चन्द्रमा, जो कि शरीर के द्वारा अपयशरूपी मलिन धूलि की खान हो रहा है आपके तेज से पराजित हो अमहान्-तुच्छ बन गया, इसीलिए वह इस जगत् में पापों को नष्ट करने के लिए नखों के बहाने (सपरिवार) आपके चरणों में आ पड़ा है।

विधिनिशा किल संव्रियतेऽनया, कवितया विभयाभय तेऽनया ।
किमुदितेऽप्यरुणे ह्यरुणे यते!, स्थितिरितिं तमसो न मुनेऽयते ॥१६॥

अन्वयार्थ— (मुने!) हे मुने! **(अभय!)** हे अभय! **(यते!)** हे यते! **(ते)** आपकी **(अनया)** इस **(कवितया)** कवितारूप **(विभया)** विभा द्वारा **(अनया)** अन्याय अनीतिरूप **(विधिनिशा)** पापकर्मरूपी रात्रि **(संव्रियते)** रोक दी जाती है-जीत ली जाती है। **(किल)** यह उचित ही है **(अरुणे)** लाल वर्ण वाले **(अरुणे)** सूर्य के **(उदिते)** उदित होने पर **(किं)** क्या **(तमसः)** अन्धकार की **(स्थितिः)** स्थिति **(हि)** निश्चय से **(इतिं)** नाश को **(न)** नहीं **(अयते)** प्राप्त होती है? अपितु होती ही है।

भावार्थ—हे मुने! हे निर्भय ! हे यते ! आपकी इस कवितारूपी विभा-प्रभा से अनय-नयरहित दुष्कर्म रूपी रात्रि संवृत हो जाती है-समाप्त हो जाती है, यह उचित ही है क्योंकि प्रातःकाल की लाल-लाली के प्रकट होने पर क्या अन्धकार की स्थिति विनाश को प्राप्त नहीं होती? अवश्य होती है।

लो! आपके सुभग-सौम्य-शरीर द्वारा, दोषी शशी अयशधाम नितान्त हारा।
वो आपके चरण की नख के बहाने, सेवा तभी कर रहा यश कान्ति पाने॥१५॥
लो आपकी सुखकरी कविता विभा से, मोहान्धकार मिटता अविलम्बता से।
ज्योतिर्मयी अरुण है जब जाग जाता, कैसे कहूँ कि तम है कब भाग जाता ? ॥१६॥

असुषमां सुषमाममितां मनो, मम पिबत् तृषितं हि मितान्मनोः।
स्वरससेवनमेव वरं भवे,-दिति समीक्ष्य जगाद विभुर्भवे ॥१७॥

अन्वयार्थ—हे जिन! **(मनोः)** मनु स्वरूप आपकी **(अमितां)** अपरिमित **(असुषमां)** लोकोत्तर **(सुषमां)** सुन्दरता को **(मम मनः)** मेरा मन **(पिबत्)** पीता हुआ भी **(हि)** वस्तुतः **(मितात्)** सीमित होने से **(तृषितं)** प्यासा ही रहा **(इति समीक्ष्य)** इस तरह विचार करके **(विभुः)** प्रभु आपने **(भवे)** संसार में **(स्वरस सेवनं)** निज शुद्धात्मामृत का पान करना **(एव)** ही **(वरं भवेत्)** श्रेष्ठ है। **(इति)** ऐसा मुझे **(जगाद)** कहा है।

भावार्थ— हे जिन! मनुस्वरूप आपकी लोकोत्तर-सर्वश्रेष्ठ एवं अपरिमित शोभा का पान करता हुआ भी मेरा मन सीमित होने के कारण तृषित-प्यासा-असंतुष्ट रहा है अर्थात् बाह्य शोभा को देखकर मन संतुष्ट नहीं होता। ऐसा विचार कर आपने कहा कि जगत् में आत्मरस-स्वस्वभाव की आराधना करना ही श्रेष्ठ है।

त्वदधरस्मितवीचिसुलीलया, विदितमेव सतां सह लीलया।
त्वयि मुदम्बुनिधिर्हि नटायते, अहमिति प्रणतोऽप्यपटाय ते ॥१८॥

अन्वयार्थ—हे जिन! **(त्वद्-अधरस्मितवीचिसुलीलया)** आपके अधरों पर मन्द हास्य की, वीचि-सन्तति की सुन्दर लीला-शोभा से **(सतां)** सज्जन पुरुषों को **(लीलया सह एव)** सहज में ही **(विदितं)** विदित हो जाता है कि **(त्वयि)** आपके अन्तरंग में **(हि)** वास्तव में **(मुदम्बु-निधिः)** आनन्द का सागर **(नटायते)** लहरा रहा है। इसलिए **(ते अपटाय)** आप निरम्बर जिनेन्द्रदेव के लिए **(अहं)** मैं निर्ग्रन्थ श्रमण **(अपि)** होकर भी **(इति)** इस प्रकार से **(प्रणतः)** नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ—हे भगवन्! आपके अधरोष्ठ सम्बन्धी मन्द-मुस्कानों की सुन्दर लीला से ही सत्पुरुषों को यह अनायास विदित हो गया है कि आप में आनन्द का सागर लहरा रहा है इसलिए मैं भी निर्ग्रन्थमुद्रा का धारक आपके लिए प्रणत हूँ-नमस्कार करता हूँ।

सौंदर्य पान कर भी मुख का तुम्हारे, प्यासा रहा मन तभी, तुम यों पुकारे।
पीयूष पी निज, तृषा यदि है बुझाना, बेटा! तुझे सहज शाश्वत शांति पाना ॥१७॥
मूँगे समा अधर पे स्मित सौम्य रेखा, है प्रेम से कह रही मुझ को सुरेखा।
आनन्द वार्धि तुम में लहरा रहा है, पूजूँ तुम्हें, बन दिगम्बर, भा रहा है ॥१८॥

सति तिरस्कृतभास्करलोहिते, महसि ते जिन! वि:सकलो हिते।
अणुरिवात्र विभो! किमु देव! न!, वियति भं प्रतिभाति तदेव न ॥१९॥

अन्वयार्थ– **(जिन!)** हे जिन! **(न!)** हे पूज्य! **(देव!)** हे देवाधिदेव! **(विभो!)** हे नाथ! **(अत्र)** इस पृथ्वी पर **(तिरस्कृत-भास्कर-लोहिते)** तिरस्कृत कर दिया है सूर्य के प्रकाश को जिसने ऐसे **(हिते)** हितकारी **(ते महसि सति)** आपके केवलज्ञान रूप तेज के होने पर **(सकल:)** संपूर्ण **(वि:)** आकाश **(अणु: इव)** अणु के समान **(प्रतिभाति)** प्रतिभासित होता है। **(वियति)** अनन्त आकाश में **(भं)** नक्षत्र **(किमु)** क्या **(तदेव)** नक्षत्र प्रमाण ही प्रतिभासित होता है? **(न)** नहीं होता है। अपितु अणु के समान ही प्रतिभासित होता है।

भावार्थ–हे जिनदेव! हे विभो! हे पूज्य! इस पृथ्वी पर सूर्य के प्रकाश को तिरस्कृत करने वाले आपके केवलज्ञानरूप तेज में सम्पूर्ण आकाश अणु के समान प्रतिभासित होता है, ठीक ही है क्योंकि अनन्त आकाश में एक नक्षत्र क्या अणु के समान नहीं जान पड़ता। अवश्य जाना जाता है।

त्वयि जगद् युगपन्मुनिरञ्जने, लयमुपैति भवं च निरञ्जने।
परममानसुमेयतया तया, सरसि वीचिवदेव न वार्तया ॥२०॥

अन्वयार्थ– हे गुरो! **(मुनिरञ्जने)** मुनिजन को आनन्ददायक **(निरञ्जने)** कर्माञ्जन से रहित **(त्वयि)** वीतराग सर्वज्ञ गुण संयुक्त आपमें **(जगत्)** समस्त लोकालोकरूप जगत् **(युगपत्)** एकसाथ **(एव)** ही **(सरसि)** सरोवर में **(वीचिवत्)** लहरों की तरह **(परममानसुमेयतया)** ज्ञान-ज्ञेय भाव की अपेक्षा से **(भवं)** उत्पन्न **(लयं)** विनष्ट **(च)** और ध्रुवरूप से **(उपैति)** प्राप्त हो रहा है–झलक रहा है **(न वार्तया)** केवल वचन से कहने मात्र से नहीं अर्थात् भगवान् के ज्ञान में समस्त जगत् दर्पण में पदार्थों की तरह झलकता है।

भावार्थ–मुनिजनों को आनन्द देने वाले तथा कर्मकालिमा से रहित आप में यह जगत् एक ही साथ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य को उस प्रकार प्राप्त हो रहा है, जिस प्रकार कि सरोवर की तरंग। जगत् प्रसिद्ध ज्ञेय-ज्ञायकभाव की अपेक्षा यह सब यथार्थ में हो रहा है, कहने मात्र की अपेक्षा नहीं।

नक्षत्र है गगन के इक कोन में ज्यों, आकाश है दिख रहा तुम बोध में त्यों।
ऐसी अलौकिक विभा तुम ज्ञान की है, मन्दातिमन्द पड़ती द्युति भानु की है ॥१९॥
है एक साथ तुममें यह विश्व सारा, उत्पन्न हो मिट रहा ध्रुव भाव धारा।
कल्लोल के सम सरोवर में न स्वामी! पै ज्ञेय ज्ञायकतया, शिवपंथगामी ॥२०॥

सुखमजं न भजन्नपि दीदिवि,- र्भजति तावदहोऽतनुधीर्दिवि।
मुनिरयं तनुधीरपि रागत,- स्त्वयि च यावदके गतरागतः ॥२१॥

अन्वयार्थ—हे जिन! **(दिवि)** स्वर्ग में **(अतनुधीः)** विशाल बुद्धिवाला **(दीदिविः)** बृहस्पति **(अजं)** जन्ममरणातीत आपको **(भजन् अपि)** भजता हुआ भी **(अहो!)** आश्चर्य है कि **(तावत्)** उतना **(सुखं न भजते)** सुख प्राप्त नहीं करता **(त्वयि)** आपमें **(रागतः)** भक्ति के अनुराग वश **(तनुधीः)** अल्पबुद्धि वाला **(अपि)** भी **(अयं मुनिः)** यह स्तुति कर्त्ता मुनि **(अके)** तप के कष्टों में **(गतरागतः)** राग रहित होने से **(यावत्)** जितना सुख **(भजति)** प्राप्त करता है। यह तप युक्त भक्ति का प्रभाव है।

भावार्थ—जिनेन्द्र! स्वर्ग में आपकी आराधना करने वाला विशाल बुद्धि का धारक बृहस्पति उतने सुख को प्राप्त नहीं होता, जितने सुख को पर वस्तुओं में राग रहित मुनि अल्पबुद्धि होकर भी आप में राग होने तथा अक-अनात्म पदार्थ में रागरहित होने से प्राप्त होता है।

स्पृशति ते वदनं च मनोहरं, तव समं मम भाति मनो हर!
समुपयोग पयो ह्यपयोग तन्ननु भवेन्न पयोऽपि पयोगतम्॥२२॥

अन्वयार्थ— **(अपयोग!)** हे त्रियोग रहित **(समुपयोग!)** हे समीचीन दर्शनोपयोग ज्ञानोपयोग धारक भगवन्! **(हर!)** पापों को हरने वाले **(ते)** आपके **(मनोहरं)** रमणीय **(वदनं)** मुख को **(च)**और रूप को **(मम मनः)** मेरा मन जब **(स्पृशति)** वीतराग गुणरूप से स्पर्श करता है **[तदा]** तब वह **(तव समं)** आपके समान गुणरूप **(हि)** ही **(भाति)** प्रतीत होता है **(तत्)** वह जैसे **(पयोगतं)** दूध में मिलाया गया **(पयः)** जल **(अपि)** भी **(पयः)** दूध रूप **(ननु)** क्या **(न भवेत्)** नहीं हो जाता है? अवश्य होता है।

भावार्थ—हे अपयोग! मन, वचन और काय की प्रवृत्ति से रहित! हे समुपयोग! ज्ञानदर्शन रूप समीचीन उपयोगों से सहित, हे हर! हे जिनेन्द्र! जब मेरा मन आपके मनोहर वदन-मुख का स्पर्श करता है-आपके वैराग्यपूर्ण मुखमुद्रा का ध्यान करता है तब वह आपके समान वैराग्यपूर्ण हो जाता है। ठीक ही है क्योंकि दूध में मिला हुआ पानी क्या दूध या दूध के समान नहीं हो जाता ? अवश्य हो जाता है।

मैं रागत्याग तुझमें अनुराग लाके, होता सुखी कि जितना लघु ज्ञान पाके।
तेरी बृहस्पति सुभक्ति करें, तथापि, हो स्वर्ग में नहिं सुखी उतना कदापि ॥२१॥
ज्यों ही मदीय मन है तव स्पर्श पाता, त्यों ही त्वदीय सम भासुर हो सुहाता।
रागी विराग बनता तव संघ में हैं, लो ! नीर, दूध बनता गिर दूध में है ॥२२॥

असि शशी सितशीतसुधाकरैः स्वगतशुद्धगुणैश्च सदा करैः।
यदि न दृक्सलिलं समभावि भो!, मम मनोमणितो न झरेद् विभो! ॥२३॥

अन्वयार्थ—(भो विभो!) हे प्रभो! **[त्वं]** आप **(सितशीतसुधाकरैः)** धवल शीतल अमृत की खान स्वरूप **(स्वगतशुद्धगुणैः च)** मेरी आत्मा में स्थित शुद्धगुणों रूप **(करैः)** किरणों के द्वारा **(सदा)** नित्य **(शशी)** चन्द्रमारूप में **(असि)** प्रतिभासित होते हो **(यदि न)** यदि ऐसा नहीं है तो [आपके दर्शन से] **(मम)** मेरे **(मनोमणितः)** मनरूप मणि से **(समभावि)** शीघ्र उत्पन्न होने वाला **(दृक् सलिलं)** सम्यक्दर्शनरूपी जल व भक्तिरूप अश्रु जल **(न झरेत्)** नहीं झरता ? किन्तु झर रहा है। इसलिए आप शशी स्वरूप हैं।

भावार्थ—हे विभो! आप उज्ज्वल-शान्तिदायी सुधा के खान स्वकीय शुद्धगुणरूप किरणों से सदा चन्द्रमारूप हैं। यदि ऐसा नहीं है तो मेरे मनरूपी चन्द्रकान्तमणि से तत्काल सम्यग्दर्शनरूप जल न झरता।

विमदवञ्चितविश्वमकं पते!, सुमन एति न भूभृदकंप ! ते।
निजपदं ह्यय एव विभावत-, स्त्यजति नो कनकं भुवि भावतः ॥२४॥

अन्वयार्थ—(पते!) हे स्वामिन्! **(भूभृत्-अकंप!)** पर्वत की तरह अचल-धैर्यवान् भगवन्! **(ते)** आपका **(सुमनः)** विषयाशा से रहित मन **(अकं)** पाप को, दुःख को **(न एति)** प्राप्त नहीं होता **(विमदवञ्चितविश्वं)** अभिमान से प्रवंचित-ठगा हुआ सारा जगत् **[अकं]** पाप को, दुःख को प्राप्त होता है **(हि)** चूँकि उचित ही है कि **(अयः एव)** लोह तत्त्व ही **(विभावतः)** कीचड़ में गिरने के कारण **(निजपदं)** लोहपने को **(त्यजति)** छोड़ता है परन्तु **(भुवि)** पृथ्वी पर **(कनकं)** स्वर्ण कीचड़ में गिरने पर भी **(भावतः)** स्वभाव से स्वर्णपने को-निजस्वभाव को **(नो)** नहीं छोड़ता।

भावार्थ—हे पर्वत के समान अकम्प रहने वाले प्रभो! आपका प्रशस्त हृदय अक-पाप को नहीं प्राप्त होता किन्तु विविध प्रकार के मदों से प्रसारित जगत् अक–दुःख को प्राप्त होता है। यह उचित ही है क्योंकि पृथ्वी पर विरुद्ध परिणमन के कारण लोहा ही अपने स्वभाव को छोड़ता है, स्वर्ण नहीं।

मानूँ तुम्हें तुम शशी तुम में भरी हैं, सच्ची सुधा गुणमयी मन को हरी है।
ऐसा न हो, मम मनोमणि से भला यों, सम्यक्त्वरूप झरना, झर है रहा क्यों?॥ २३॥
सम्मोह से भ्रमित हो जग पाप पाता, पै आपका मन नहीं अघ ताप पाता।
लोहा स्वभाव तजता जब जंग खाता, हो पंक में कनक पै सब को सुहाता॥२४॥

असि शुचिश्च शशीव सुकेवली, गमित इत्यपि नो कुधियाऽबली।
असित एव शशी कुदृशा सितः, सदय! यद्यपि यः सुदृशा शितः॥२५॥

अन्वयार्थ– (सदय!) हे सकृप! यद्यपि आप **(शशी इव शुचिः)** चन्द्रमा की तरह निर्मल **(सुकेवली च असि)** और पूर्णज्ञानी हैं तो भी **(कुधिया)** मिथ्याज्ञानियों के द्वारा **(इति)** इस प्रकार **(नो गमितः)** नहीं जाना जाता, इस कारण वे आपको **(अबली)** बल रहित अपूर्ण मानते हैं। यद्यपि **(यः शशी)** जो चन्द्रमा **(सुदृशा)** नीरोग नेत्रों के द्वारा **(शितः)** श्वेत जाना जाता है वह **(कुदृशा)** विकृत नेत्र वालों के द्वारा **(असितः)** कृष्णरूप में या विकृतरूप में **(एव)** ही **(सितः)** जाना जाता है।

भावार्थ–हे कृपालु जिनेन्द्र! यद्यपि आप चन्द्रमा के समान उज्ज्वल और उत्तम केवलज्ञान से युक्त हैं तथापि कुबुद्धिजन आपको वैसा नहीं मानते। वह आपको अबली–बलहीन मानते हैं। उचित ही है, क्योंकि विकृत नेत्रवाला–पीलिया रोगवाला मनुष्य चन्द्रमा को असित–पीला जानता है, जबकि निर्विकार नेत्रवाला मनुष्य चन्द्रमा को सित-शुक्ल ही जानता है।

जैसे पीलिया के रोगी को श्वेत चन्द्र भी पीला दिखता है, उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव वीतराग सर्वज्ञ भगवान् को सरागी और अल्पज्ञ रूप में ही देखते हैं।

मतिरियं भवता मयि भाविता, रुचिमतो भवतीह विभाविता।
जगदिदं क्षणिकं नहि रोचते, गुरुमुखं प्रविहाय गुरो! च ते॥२६॥

अन्वयार्थ– (गुरो!) हे श्रेष्ठ प्रभो! **(मयि)** मुझमें विद्यमान **(इयं मतिः)** यह बुद्धि **(भवता)** आपके द्वारा **(भाविता)** संस्कारित होने के कारण **(विभौ)** प्रभुत्व गुणों से संयुक्त **(भवति)** आपके विषय में **(रुचिं)** श्रद्धा–प्रतीति को **(इता)** प्राप्त हुई है **(अतः)** इस कारण **(इह)** इस संसार में **(ते गुरुमुखं)** आपके श्रेष्ठ मुख को **(प्रविहाय)** छोड़कर **(इदं क्षणिकं जगच्च)** यह क्षणभंगुर जगत् [अस्मै] इसे **(न रोचते)** नहीं रुचता है, अच्छा नहीं लगता है।

भावार्थ–हे गुरुदेव! मुझमें विद्यमान यह बुद्धि यतश्च आपके द्वारा सुसंस्कारित है अतः इस जगत् में एक आप में ही श्रद्धा को प्राप्त हुई है। अब मुझे आपके श्रेष्ठतम मुख को छोड़कर यह नश्वर संसार अच्छा नहीं लगता।

हो केवली तुम बली शुचि शान्त शाला, ऐसा तुम्हें कब लखे अघ दृष्टि वाला।
हो पीलिया नयन रोग जिसे हमेशा, पीला शशी नियम से दिखता जिनेशा॥२५॥
ऐसी कृपा यह हुई मुझपे तुम्हारी, आस्था जगी कि तुममें मम निर्विकारी।
संसार भोग फलतः रुचते नहीं हैं, प्रत्यक्ष मात्र तुम हो जड़ गौण ही है॥२६॥

सति हृदि त्वयि मेऽत्र विरागता, समुदिता गुणतामितरा गता।
पयसि चेत् सुमणौ न पयोऽङ्ग! त,-दरुणतां किमु याति नियोगतः ॥२७॥

अन्वयार्थ–(अङ्ग!) हे विभो! **(अत्र)** यहाँ **(मे हृदि)** मेरे हृदय में **(त्वयि)** आपके **(सति)** रहने पर **(विरागता)** वीतरागता **(समुदिता)** प्रकट हुई है **(इतरा)** अन्य रागता **(गुणतां)** गौणपने को **(गता)** प्राप्त हो गई है **(चेत्)** यदि **(पयसि)** दूध में **(सुमणौ)** पद्मराग मणि विद्यमान रहे तो **(तत् पयः)** वह दुग्ध **(अरुणतां)** लालिमा को **(नियोगतः)** नियम से **(किमु न याति)** क्या प्राप्त नहीं होता? अवश्य होता है।

भावार्थ–मेरे इस हृदय में आपके विद्यमान रहते हुये विरागता-वीतरागता प्रकट रहती है इससे भिन्न सरागता-अप्रधानता को प्राप्त हो नष्ट हो जाती है। ठीक ही है, यदि दूध में पद्मरागमणि रहता है तो वह दूध क्या नियम से लालिमा को प्राप्त नहीं हो जाता ? अवश्य हो जाता है।

विगतरागतया स्वमहिंसया, शिवमितोऽसि जगन्नहि हिंसया।
उचितमेव सदोचितसाधनं, भुवि ददाति शुभं सहसा धनम् ॥२८॥

अन्वयार्थ– हे जिन! [त्वं] आप **(विगतरागतया)** रागरहित **(अहिंसया)** अहिंसा के द्वारा **(शिवं स्वं)** मोक्षरूपी धन को **(इतः असि)** प्राप्त हुए हो। **(हिंसया)** हिंसा के कारण **(हि)** ही **(जगत्)** यह संसारी प्राणी **(शिवं)** मोक्ष को **(नहि इतं)** नहीं प्राप्त हुआ है। **(उचितम् एव)** उचित ही है **(भुवि)** पृथ्वी पर **(सदा)** हमेशा ही **(उचितसाधनं)** उचित साधन ही **(शुभं धनं)** इष्टधन को **(सहसा)** शीघ्र ही **(ददाति)** देता है।

भावार्थ–हे भगवन्! आप वीतरागतारूप अहिंसा से शिव-मोक्ष अथवा सुख को प्राप्त हुए हैं इसके विपरीत सरागता रूप हिंसा से जगत् शिव-मोक्ष अथवा सुख को प्राप्त नहीं हो रहा है। यह उचित ही है कि पृथ्वी पर योग्य साधन ही सदा इष्ट धन को शीघ्र देता है, अयोग्य साधन नहीं। अर्थात् वीतरागता ही सुख का कारण है और सरागता दुख का कारण है।

स्वामी! निवास करते मुझमें सुजागा, आत्मानुराग फलतः पर राग भागा।
लो दूध में जब कि माणिक ही गिरेगा, क्या लाल लाल तब दूध नहीं बनेगा? ॥२७॥
वैराग्य से तुम सुखी भज के अहिंसा, होता दुखी जगत है कर राग हिंसा।
सत् साधना सहज साध्य सदा दिलाती, दुःसाधना दुखमयी विष ही पिलाती॥२८॥

अनुदिनं त्वयि यो रमतेऽञ्जसा, भवति ते स समः समतेजसा।
वपुरदोऽपि जडं परमं भवेन्, ननु तदा चिदियं न भवेद् भवे॥२९॥

अन्वयार्थ– हे भगवन्! **(यः)** जो जीव **(त्वयि)** आप में **(अनुदिनं रमते)** प्रतिदिन भक्ति रखता है **(सः)** वह **(अञ्जसा)** यथार्थ में **(समतेजसा)** सम–अनन्त चतुष्टय रूप लक्ष्मी सहित, तेजसा–प्रभावशाली ज्ञान के साथ **(ते समः भवति)** आपके समान हो जाता है। **(भवे)** संसार में **(अदः जडः)** यह अचेतन **(वपुः अपि)** शरीर भी **(परमं)** परमौदारिक **(भवेत्)** हो जाता है [तदा] तब फिर **(इयं चित्)** यह चेतना **(परमा न भवेत्)** उत्कृष्ट नहीं हो **(ननु)** यह कैसे हो सकता है?

भावार्थ–हे भगवन्! जो मनुष्य प्रतिदिन आप में रमण करता है–आपके ध्यान में लीन रहता है वह अनंतचतुष्टयरूप लक्ष्मी से युक्त तेज से आपके समान हो जाता है। उचित ही है, कि जब वह अचेतन शरीर भी आपके सम्पर्क से परम–श्रेष्ठ परमौदारिक बन जाता है तब यह ज्ञानदर्शन सम्पन्न जीव क्या आपके समान नहीं हो सकेगा? अवश्य हो सकेगा।

गुणगणैर्गुरुभिश्च समानतः, स्वचितये समगोऽसि समानतः।
स निजमात्र इवावनये नगः, कुसुमपत्रफलैश्च नयेऽनघः ॥३०॥

अन्वयार्थ– हे भगवन्! **(नये)** नीति पालन में **(अनघः)** निर्दोष **(सः नगः)** वह प्रसिद्ध वृक्ष **(इव)** जिस प्रकार **(अवनये)** पृथ्वी रूप निज माता के लिए **(कुसुमपत्रफलैः च)** पुष्प, पत्र और फलों से **(समानतः)** सम्यक् प्रकार से नत–नम्रीभूत होता है, उसी प्रकार **[हे देव!]** हे जिनदेव! आप भी **(स्वचितये)** अपनी चेतना के प्रति **(गुरुभिः)** महान् महान् **(गुणगणैः)** गुणसमूह के द्वारा **(समानतः)** हेतु की समानता से वृक्ष और आप **(समगः असि)** सदृशता को प्राप्त होते हैं।

भावार्थ–हे भगवन्! जिस प्रकार नीति का निर्दोष पालन करने वाला वृक्ष पुष्प, पत्र और फलों से विनत हो अपनी जननी तुल्य पृथिवी के लिए प्रणाम करता है। उसी प्रकार बहुत भारी गुणसमूह से संगत आप गुणसमूह को उत्पन्न करने वाली स्वकीय चेतना को प्रणाम करते से जान पड़ते हैं।

श्रद्धा समेत तुम में रममान होता, वो ओज तेज तुम सा स्वयमेव ढोता।
काया हि कंचन बने कि अचेतना हो, आश्चर्य क्या? द्युतिमयी यदि चेतना हो ॥२९॥
जैसा कि वृक्ष फल फूल लदा सुहाता, माथा, धरा जननि के पद में झुकाता।
ऐसे लगे कि गुण भार लिए हुए हो, चैतन्यरूप-जननी पद में झुके हो ॥३०॥

नहि रुचिस्तव तां प्रति काञ्चन-, प्रकृतभूतिमितोऽपि च काचन।
गणधरैः शमिनस्तव गीयते, न गरिमा ममका तनुगीर्यते ॥३१॥

अन्वयार्थ—आप **(काञ्चनप्रकृतभूतिम्)** स्वर्ण से रची गई छत्रादि विभूति को **(इतः अपि)** प्राप्त होकर भी **(तव)** आपकी **(तां प्रति)** उस विभूति के प्रति **(काचन रुचिः)** किञ्चित् भी प्रीति **(न हि)** नहीं है। **(शमिनः)** प्रशम गुणों से सहित **(तव)** आपके **(गरिमा)** गुणों की गरिमा/गंभीरता/अगाधता की महिमा **(गणधरैः अपि)** गणधर देवों के द्वारा भी **(न गीयते)** नहीं गायी जा सकती है। तब **(मम)** मेरी **(तनुगीः)** अल्पबुद्धि **(का)** क्या है ?

भावार्थ—हे मुनीन्द्र! स्वर्णनिर्मित छत्रत्रयादि वैभव को प्राप्त होने पर भी आपकी उस ओर रुचि-प्रीति नहीं है तथा अत्यन्त शान्त रहने वाले आपकी गरिमा-महिमा गणधरों द्वारा भी जब नहीं गायी जाती है तब मेरी अल्पवाणी क्या है? कुछ नहीं।

विशदविद्वनिता त्वयि तेऽज! सा, समनुभाति सदाव्ययतेजसा।
शशिनि शीतकरैर्निशि वामतः, शशिकलैवमलं व्ययवामतः ॥३२॥

अन्वयार्थ—(अज!) हे जन्मातीत जिन! **(ते)** आपकी **(सा)** वह विख्यात **(विशद-विद्वनिता)** निर्मल केवलज्ञानरूपी रमणी **(त्वयि)** आपमें **(सदा)** शाश्वत रूप से **(अव्ययतेजसा)** अविनश्वर प्रताप के साथ **(समनुभाति)** निरन्तर शोभा को प्राप्त होती है किन्तु **(शशिनि)** चन्द्रमा में **(शीतकरैः)** शीतल किरणों के साथ **(निशि)** रात्रि में **(वामतः)** मेघों से आच्छादित होने के कारण और **(व्ययवामतः)** विनाशशील और कुटिलरूप होने से **(शशिकला)** चन्द्रकला **(एवं अलं)** इस प्रकार होने से समर्थ क्या है?

भावार्थ—हे अज! जन्मातीत जिनेन्द्र! आपकी वह प्रसिद्ध केवल ज्ञानरूपी रमणी आप में अपने अविनाशी तेज से सदा सुशोभित रहती है। परन्तु रात्रि के समय शीत रश्मियों से उपलक्षित चन्द्रमा में चन्द्रकला ऐसी नहीं है, क्योंकि वह वाम-मेघ से आच्छादित हो जाती है और भंगुर-नश्वर होने से वाम-कुटिलरूप भी है।

छत्रादि स्वर्णमय वैभव पा लिए हो, स्वामी! न किन्तु उनसे चिपके हुए हो।
तेरी अपूर्व गरिमा गणनायकों से, जाती कही न फिर क्या? हम बालकों से ॥३१॥
विज्ञानरूप रमणी तुममें शिवाली, जैसी लसी अमित अव्यय कांतिवाली।
वैसी नहीं शशिकला शशि में निराली, अत्यन्त चूँकि कुटिला व्यय-शीलवाली॥३२॥

मुदमुपैमि मुनिर्मुनिभावतो, मुखमुदीक्ष्य विभो! सुविभावतः।
जलभृतं जलदं जलदाध्वनि, किल शिखीव गतं सुगुरुध्वनिम् ॥३३॥

अन्वयार्थ–(विभो!) हे गुरो! **(जलदाध्वनि)** मेघों के मार्ग स्वरूप आकाश में **(सुगुरुध्वनिं)** महान्–गंभीर गर्जना को **(गतं)** प्राप्त **(जलभृतं)** जल को धारण करने वाले **(जलदं)** मेघों को **(उदीक्ष्य)** ऊपर की तरफ मुख करके देखने वाले **(शिखी इव)** मयूर के समान मैं **(मुनिः)** स्तुतिकर्ता मुनि **(मुनिभावतः)** मुनिरूप भाव से **(सुविभावतः)** सु–शोभन, विभावतः–दीप्ति युक्त आपके **(मुखं)** मुख को **(उदीक्ष्य)** देखकर **(मुदं)** हर्ष भाव को **(किल)** अवश्य **(उपैमि)** प्राप्त होता हूँ।

भावार्थ–हे विभो! आकाश में गरजते जलभरे मेघ को देखकर जिस प्रकार मयूर प्रमोद को प्राप्त होता है, उसी प्रकार स्तुति करने वाला मैं मुनि पवित्रभाव से उत्तमदीप्ति से युक्त आपका मुख देखकर प्रमोद को प्राप्त हो रहा हूँ।

विभुरसीह सताम् जिनसंगतः, पृथगसीश सुखीति च संगतः।
ननु तथापि मुनिस्तव संगतः, सुखमहं स्मय एष हि संगतः ॥३४॥

अन्वयार्थ– (ईश!) हे स्वामिन्! **(जिन!)** हे जिनेन्द्र! **(इह)** इस जगत् में **(संगतः)** ज्ञान की अपेक्षा सर्व व्यापक होने से **[त्वं]** आप **(सतां)** सज्जन पुरुषों के **(विभुः असि)** स्वामी हो और **(संगतः)** परिग्रह से **(पृथक्)** पृथक् होकर भी **(इति)** इस तरह **(सुखी च असि)** सुखी हो। **(तथापि)** फिर भी **(एषः स्मयः)** यह आश्चर्य है कि **(अहं मुनिः)** मैं मुनि **(तव)** आपके **(संगतः)** संपर्क से **(ननु)** वास्तविक **(सुखं)** आत्मिक सुख को **(हि)** निश्चय **(संगतः)** सम्यक् रूप से प्राप्त हुआ हूँ।

भावार्थ–हे ईश! हे जिन! इस जगत् में ज्ञान की अपेक्षा लोकालोक में व्याप्त होने से आप सत्पुरुषों के स्वामी हैं। संगतः परिग्रह अथवा परजनसंपर्क से पृथक् हैं। अतः सुखी हैं। यद्यपि संग से पृथक् होने के कारण आप सुखी हैं, तथापि आपके संग से मैं मुनि आत्मसुख को प्राप्त हुआ हूँ। यह आश्चर्य है।

देखा विभामय विभो मुख आपका है, ऐसा मुझे सुख मिला नहिं नाप का है।
जैसा यहाँ गरजता लख मेघ को है, पाता मयूर सुख भूलत खेद को है ॥३३॥
सर्वज्ञ हो इसलिए विभु हो कहाते, निस्संग हो इसलिए सुख चैन पाते।
मैं सर्वसंग तजके तुम संग से हूँ, आश्चर्य आत्म सुख लीन अनंग से हूँ ॥३४॥

लसति भानुरयं जिनदास! खे, नयति तापमिदं च सदा सखे!
जितरविर्महसा सुखहेतुकम्, उरसि मेऽस्ति तथात्र न हे तुकम् ॥३५॥

अन्वयार्थ—(हे सखे!) हे मित्र! **(जिनदास!)** हे जिनसेवक! **(खे)** आकाश में **(अयं भानुः)** यह दिखाई देने वाला सूर्य **(लसति)** शोभायमान होता है तथा **(सदा)** प्रतिदिन **(इदं)** इस जगत् को **(तापं नयति)** संताप पहुँचाता है किन्तु आप **(अत्र)** यहाँ **(मे उरसि)** मेरे हृदय में निवास करने वाले **(महसा)** अपनी तेज कान्ति से **(जितरविः)** सूर्य को जीतने वाले जिनेन्द्र प्रभु **(सुखहेतुकं)** सुख के हेतु **(अस्ति)** हैं तथा **(तुकं)** मुझ बालक को सूर्य की तरह **(तापं न नयति)** संताप नहीं पहुँचाते हो।

भावार्थ—हे मित्र! हे जिनसेवक! आकाश में जो यह सूर्य सुशोभित हो रहा है वह इस जगत् को संताप प्राप्त कराता है। परन्तु तेज से सूर्य को जीतने वाले जिनेन्द्र, सुख के हेतु हो मेरे इस हृदय में विद्यमान हैं फिर भी सूर्यसदृश आप मुझ बालक को संताप नहीं पहुँचाते।

सुरनगः सुरगौः सुरवैभवं, सुरपुरे वितनोति च वै भवम्।
भवविमुक्तिसुखं फलमेव च, स्तवनतस्तव साध्विति मे वचः ॥३६॥

अन्वयार्थ—(सुरपुरे) स्वर्ग में **(सुरनगः)** जो कल्पवृक्ष **(सुरगौः)** कामधेनु **(च)** और **(सुरवैभवं)** देवों का ऐश्वर्य है वह **(वै)** निश्चय से **(भवं)** संसार को **(वितनोति)** विस्तृत करता है परन्तु **(तव)** आपके **(स्तवनतः)** स्तवन से **(भवविमुक्तिसुखं फलम् एव)** संसार से विपरीत मोक्षसुख रूप फल ही प्राप्त होता है **(इति)** इस प्रकार यह **(मे वचः)** मेरा कथन **(साधु)** ठीक है।

भावार्थ—हे भगवन्! स्वर्ग में जो कल्पवृक्ष, कामधेनु और देवों का ऐश्वर्य है, वह निश्चय से संसार को विस्तृत करता है। परन्तु आपके स्तवन से मुक्ति सुखरूपी फल ही प्राप्त होता है, ऐसा मेरा कहना है।

आकाश में उदित हो रवि विश्वतापी, संतप्त त्रस्त करता जग को प्रतापी।
पै आप कोटि रवि तेज स्वभाव पाये, बैठे मदीय उर में न मुझे जलाये ॥३५॥
वे कामधेनु सुरपादप स्वर्ग में ही, सीमा लिए दुख घुले सुख दें, विदेही!
पै आपका स्तवन शाश्वत मोक्ष-दाता, ऐसा वसन्ततिलका यह छन्द गाता ॥३६॥

सरसि ते स्तवने मम साधुता, शुचिमिता स्नपिता सहसा धुता।
भुवि विभो! यदिदं मम चेतनं, स्तवनभाग्धि सतां द्युतिकेतनम्॥ ३७॥

अन्वयार्थ— (विभो!) हे प्रभो! **(ते)** आपके **(स्तवने)** स्तवनरूपी **(सरसि)** सरोवर में **(मम)** मेरी **(साधुता)** साधुवृत्ति **(शुचिं)** शुचिता को **(इता)** प्राप्त हुई है **(स्नपिता)** नहलायी गयी है और **(सहसा)** सहज ही **(धुता)** प्रक्षालित हो गई है। **(भुवि)** पृथ्वी पर **(यत्)** जिस कारण से **(इदं मम चेतनं)** यह मेरा चेतनात्मा **(द्युतिकेतनं)** दिव्य केवलज्ञान ज्योति का स्थान हुआ है। **(हि)** निश्चय से यह चेतन **(सतां)** साधु जनों के **(स्तवनभाक्)** स्तुति करने का पात्र बन गया है।

भावार्थ—हे प्रभो! आपके स्तवनरूप सरोवर में मेरी श्रमणता-मेरी साधुवृत्ति पवित्रता को प्राप्त है, नहलायी गई है और शीघ्र ही धुल-चुकी है-उज्ज्वल हो चुकी है। यतश्च मेरा यह चैतन्यभाव केवलज्ञानरूप ज्योति का घर है, अतः निश्चय से सत्पुरुषों के स्तवन को प्राप्त हुआ है।

असि सदात्मनि वेति मुनीरतः, परमशीतलको हिमनीरतः।
अनलतो निजतां प्रविहाय तद् दहति नाज विधेर्विधिहा यतः॥३८॥

अन्वयार्थ— (अज!) हे जन्मातीत प्रभो! आप **(सदा)** सतत **(आत्मनि रतः असि)** आत्मा में लीन रहते हो **(वा)** अथवा **(हिमनीरतः)** हिमरूप जल से भी **(परमशीतलकः असि)** परम शीतल हो **(तत्)** वह नीर **(अनलतः)** अग्नि के संयोग से **(निजतां)** अपने शीतल स्वभाव को **(प्रविहाय)** छोड़कर **(दहति)** जलाता है किन्तु आप **(यतः)** जिस कारण से **(विधिहाः)** कर्मरूप विधि को जलाने वाले हो **[ततः]** उस कारण **(विधेः)** कर्म से **(न)** न जलते हो।

भावार्थ—हे अज! हे जन्मातीतजिनेन्द्र! आप सदा आत्मस्वरूप में लीन हो अथवा निश्चय से मुनि हो। बर्फ के पानी से अत्यधिक शीतल हो। वह पानी अग्नि से स्वरूप को-निजी शीतलता को छोड़कर जलाने लगता है, परन्तु आप विधिहा-कर्म को नष्ट करने वाले होने से कर्म से जलते-जलाते नहीं हो।

जो आपकी स्तुति सरोवर में घुली है, मेरी खरी श्रमणता शुचि हो धुली है।
तो साधु स्तुत्य मम क्यों न सुचेतना हो? औ शीघ्र क्यों न कल-केवल-केतना हो?॥३७॥
तल्लीन नित्य निज में तुम हो खुशी से, नीरादि से परम शीतल हो इसी से।
पा अग्नि योग जल है जलता जलाता, कर्माग्नि से तुम नहीं, यह साधु गाथा ॥३८॥

सुरमणी प्रथमा प्रगुणावलिः तव परा च शुचिः सुगुणावलिः।
विरमतीव रतिश्च सति त्वयि, त्रिभुवनप्रगताऽपि सती त्वयि! ॥३९॥

अन्वयार्थ—(अयि) देव! **(तव)** आपकी **(प्रगुणावलिः)** श्रेष्ठ गुणों की पंक्तिरूपा **(सुरमणी)** पहली उत्तम भार्या है **(च)** और **(परा)** द्वितीया–दूसरी **(शुचिः)** पवित्र–उज्ज्वल **(सुगुणावलिः)** उत्तम गुणों से युक्त कीर्तिस्वरूप द्वितीय भार्या है किन्तु पहली तो **(त्वयि)** आपमें ही **(रतिः च इव)** रति के समान **(विरमति)** विशेषरूप से रमण करती है **(तु)** परन्तु द्वितीय कीर्तिरूप भार्या **(सती अपि)** सती स्वरूपा होकर भी **(त्रिभुवनप्रगता)** तीन लोक में स्वच्छन्द विचरण कर रही है।

भावार्थ—अयि देव! उत्तमगुणावली आपकी प्रथम सुभार्या है और उज्ज्वलकीर्ति द्वितीय सुभार्या है। इनमें प्रथम सुभार्या तो रति की तरह एक आप में ही विशेषरूप से रमती है, परन्तु द्वितीय सुभार्या त्रिभुवन में जाकर भी सती है। यह कैसा विरोध है ?। यह विरोधाभास अलंकार है।

परिचयात् तव यत्त्वयि मे मनो, विशति शामितवामवमे! मनो!।
सुरनरैर्मुनिभिर्यशसामिते, नदपतौ नदवत् सहसाऽमिते ॥४०॥

अन्वयार्थ—(शामितवामवमे!) [शमित–बुझाया, वाम–काम, वमि–अग्नि] बुझाया है काम की अग्नि को जिन्होंने ऐसे हे भगवन्! **(मनो!)** केवलज्ञानिन्! **(तव परिचयात्)** आपका परिचय होने से **(सुरनरैः)** देव और मानवों के द्वारा **(मुनिभिः)** मुनियों के द्वारा **(यशसां)** कीर्ति समूह को **(इते त्वयि)** प्राप्त आपमें **(यत्)** जो **(मे मनः)** मेरा मन **(सहसा)** अनायास ही **(विशति)** प्रवेश करता है। **(अमिते)** अपार **(नदपतौ)** सागर में **(नदवत्)** नदी के समान आपके परिचय के कारण ही प्रवेश करता है।

भावार्थ—हे कामाग्नि को शान्त करने वाले भगवन्! देव, मनुष्य और मुनियों के द्वारा यश को प्राप्त आप में, असीम समुद्र में नदी के समान जो मेरा मन प्रविष्ट हो रहा है वह आपके परिचय–सतत् गुणचिंतन से हो रहा है।

लो आपकी रमणि एक गुणावली है, दूजी सती विशदकीर्तिमयी भली है!
पै एक तो रम रही नित आप में है, कैसा विरोध यह? एक दिगंत में है ॥३९॥
देवाधिदेव मुनिवन्द्य कुकाम वैरी, पाती प्रवेश तुम में मति हर्ष मेरी।
जैसी नदी अमित सागर में समाती, होती सुखी मिलन से दुख भूल जाती॥ ४०॥

विकचकंजजयक्षमनेत्रकं, करुणकेसरकं भुवनेऽत्र कम्।
मम सुदृक् सततं सहसेव ते, सरसिजं भ्रमरोऽप्यनुसेवते ॥४१॥

अन्वयार्थ–(अत्र भुवने) यहाँ लोक में **(ते)** आपके **(करुणकेसरकं)** करुण-वृक्ष की, केसरकं-केसर के समान **(विकचकंजजयक्षमनेत्रकं)** विकच-विकसित, कंज-कमल को, जय-जीतने के लिए, क्षम-समर्थ, नेत्रं-नेत्र को, कं-मुख को **(मम)** मेरा **(सुदृक्)** सम्यग्दर्शनरूपी नेत्र **(अपि)** भी **(सहसा)** उत्कण्ठित होकर **(सरसिजं)** कमल को **(भ्रमरः इव)** भौरें के समान **(अनुसेवते)** सेवन करता है।

भावार्थ–जिसके नेत्र प्रफुल्ल कमल को जीतने में समर्थ है तथा जिस पर वृक्ष की केसर के समान केशर सुशोभित है, ऐसे आपके मुख को इस जगत् में मेरी दृष्टि भी निरन्तर सहसा उस तरह सेवन करती है, जिस तरह भ्रमर कमल को सेवन करता है।

विषयसक्तखसामजकन्दरः, कुमदतापित विश्वककन्धरः।
विधिवनानलकोसि भयंकरो, भयवते जगते ह्यभयङ्करः ॥४२॥

अन्वयार्थ– हे भगवन्! **[त्वं]** आप **(भयवते)** भयभीत **(जगते)** प्राणियों के लिए **(अभयङ्करः)** अभय करने वाले **(असि)** हो, **(विषयसक्तखसामजकन्दरः)** विषय–पंचेन्द्रिय के विषयों में, सक्त–आसक्त, ख–इन्द्रिय रूपी, सामज–गजों को वश में करने के लिए, कन्दर–अंकुश के समान हो, **(कुमदतापितविश्वककन्धरः)** कुमद–अहंकार से, तापित–तपे हुए, विश्वक–जगत् के प्राणियों को शान्त करने के लिए, कन्धर–जलद–मेघों के समान हो, **(विधिवनानलकः)** कर्मरूपी वन को जलाने के लिए अग्नि के समान **(भयङ्करः)** भयंकर-भय उत्पादक हो।

भावार्थ–हे भगवन्! आप विषयों में आसक्त इन्द्रियरूपी हाथियों के लिए अंकुश है। खोटे मदों से संतापित जगत् के लिए मेघ हैं। कर्मरूप वन को भस्म करने के लिए प्रचण्ड दावानल हैं और भयभीत जगत् के लिए अभय प्रदान करने वाले हैं।

उत्फुल्ल नीरज खिले तुम नेत्र प्यारे, हैं शोभते करुण केशर पूर्ण धारें।
मेरा वहीं पर अतः मन स्थान पाता, जैसा सरोज पर जा अलि बैठ जाता ॥४१॥
हैं आप दीनजनरक्षक, साधु माने, दावा प्रचण्ड विधि कानन को जलाने।
पंचेंद्रि-मत्त-गज-अंकुश हैं सुहाते, हैं मेघ विश्वमदताप-तृषा बुझाते ॥४२॥

गतगतिः सगतिश्च सदागति, र्मम तपोऽनलदीप्तिसदागतिः।
भव भवोप्यभवो भवहानये, निजभवो गतमोहमहानये! ॥४३॥

अन्वयार्थ—(अये) हे भगवन्! **[त्वं]** आप **(गतगतिः)** संसार की चार गतियों से रहित हो, **(सगतिः)** ज्ञानस्वरूप हो, **(च)** और **(सदागतिः)** सदा ईश्वर स्वरूप हो, **[अतः]** इसलिए **(मम)** मुझ स्तुतिकर्त्ता की **(तपोऽनलदीप्तिसदागतिः)** तपरूपी अग्नि को उद्दीप्त करने के लिए, सदागति=वायु के समान **(भव)** होओ, **(गतमोहमहान्)** मोह से रहित महान् हो **(निजभवः)** स्वयं ही उत्पन्न होने से स्वयंभू हो, **(भवः)** कल्याण स्वरूप **(अपि)** भी हो, अतः हे भगवन्! आप **(मम)** मेरे **(भवहानये)** संसार के नाश के लिए **(अभवः)** हुए हो।

भावार्थ—अये भगवन्! आप नरकादि गतियों से रहित हो, ज्ञान से सहित हो, ईश्वर हो, मेरी तपरूपी अग्नि को प्रदीप्त करने के लिए वायु हो, कल्याणरूप होकर भी कल्याणरहित (पक्ष में संसार से रहित) हो। अतः आप मेरे संसार को नष्ट करने के लिए हो, मोह के नष्ट हो जाने से आप महान् तथा स्वयंभू हो।

अघततिः सघना प्रखरामिता, तव नुतेरितिमीश! तरामिता।
वियति पूर्णतया ह्यपि वा ततः, स लयमाशु घनोऽयति वाततः ॥४४॥

अन्वयार्थ—(ईश!) हे स्वामिन्! **(सघना)** सुदृढ़ **(प्रखरा)** तीक्ष्ण **(अमिता)** अपरिमित **(अघततिः)** पाप संतति **(तव)** आपकी **(नुतेः)** स्तुति करने से **(तरां)** अतिशय रूप से **(इतिं)** विनाश को **(इता)** प्राप्त हो गयी है **(वा)** जिस प्रकार **(वियति)** आकाश में **(पूर्णतया)** सब ओर से **(ततः)** विस्तृत-फैला हुआ **(स घनः)** वह प्रसिद्ध मेघ **(ह्यपि)** भी **(वाततः)** वायु से ताड़ित होकर **(आशु)** शीघ्र ही **(लयं)** नाश को **(अयति)** प्राप्त होता है।

भावार्थ—हे ईश! सघन, अतितीक्ष्ण तथा अपरिमित पापपंक्ति आपके स्तवन से नाश को प्राप्त हो गई है। जैसे कि आकाश में पूर्णरूप से विस्तृत मेघ भी वायु से शीघ्र ही विनाश को प्राप्त हो जाता है।

चारों गती मिट गयी तुम ईश! शम्भू, हो ज्ञान पूर निजगम्य अतः स्वयम्भू।
ध्यानाग्नि दीप्त मम हो तुम वात हो तो, संसार नष्ट मम हो तुम हाथ हो तो ॥४३॥
हो आपको नमन तो सघना अघाली, पाती विनाश पल में दुखशील वाली।
फैला पयोद दल हो नभ में भले ही, थोड़ा चले पवन तो बिखरे उड़े ही ॥४४॥

चरणयुग्ममिदं तव मानसः, सनखमौक्तिक एव विमानस!।
भृशमहं विचरामि हि हंसक!, यदिह तत्तटके मुनिहंसकः ॥४५॥

अन्वयार्थ– (विमानस!) हे भाव मन रहित जिनवर! **(हंसक!)** हे आत्मरूप हंस! **(तव)** आपका **(इदं)** यह **(चरणयुग्मं)** चरणयुगल **(एव)** ही **(सनखमौक्तिकः)** नखरूप मोतियों से सहित **(मानसः)** मानसरोवर **(अस्ति)** है **(यत्)** जिस कारण **(तत् तटके)** उसके तट पर **(इह)** यहाँ **(अहं मुनिः हंसकः)** मैं मुनिरूपी हंस **(हि)** निःसन्देह **(भृशं)** अत्यधिक रूप से **(विचरामि)** विहार करता हूँ।

भावार्थ–हे विमानस! हे आत्मरूपहंस! नखरूप मोतियों से सहित आपका यह चरण युगल ही मानसरोवर है। इसलिए तो उसके इस तट पर मैं मुनिरूपी हंस अत्यधिक विचरता हूँ।

मतिरिता भवतो मम सा दरं, पदयुगे शरणे तव सादरम्।
स्वपिति मातुरसौ सुखधातरि, शिशुरिहाङ्क इवाभयदातरि ॥४६॥

अन्वयार्थ– (इह) इस लोक में **(सुखधातरि)** सुख को करने वाले **(अभयदातरि)** अभय प्रदान करने वाले **(मातुः)** माता के **(अङ्के)** आँचल में **(असौ)** लोक प्रसिद्ध **(शिशुः इव)** शिशु के समान **(सा)** वह **(मम मतिः)** मेरी बुद्धि **(भवतः)** संसार से **(दरं)** भीति को **(इता)** प्राप्त हुई **(तव पदयुगे)** आपके चरणयुगल की **(शरणे)** शरण में **(सादरं)** आदर सहित **(स्वपिति)** शयन कर रही है–लीन हो रही है।

भावार्थ–हे शरण्य! सुखधारक एवं अभयदायक माता की गोद में शिशु के समान मेरी बुद्धि संसार से भयभीत हो शरणभूत आपके चरणयुगल में आदर के साथ शयन कर रही है–लीन हो रही है।

श्रीपाद मानस सरोवर आपका है, होते सुशोभित जहाँ नख मौक्तिका हैं।
स्वामी! तभी मनस हंस मदीय जाता, प्रायः वहीं विचरता चुग मोति खाता ॥४५॥
लो! आपके चरण में भवभीत मेरा, विश्रान्त है अभय पा मन है अकेला।
माँ का उदारतम अंक अवश्य होता, निःशंक हो शरण पा शिशु चूँकि सोता ॥४६॥

स्वकमयं ह्ययि नोऽलभमानतः, किमु सुखी विकलः किल मानतः।
उपगतोभयमेव च दुःखत, इह भवे सहितो भवदुःखतः ॥४७॥

अन्वयार्थ–जिनेन्द्र भगवान् के प्रसंग में **(अयि)** हे **(नः)** मेरे मनुज **(अयं जिनः)** यह जिनेन्द्र भगवान् **(किल)** निश्चय से **(मानतः)** अभिमान से **(विकलः)** रहित **(किमु)** क्या **(सुखी)** सुखी **[नो]** नहीं हैं? सुखी हैं **(दुःखतः)** दुःख से **(अभयम् एव)** अभय को ही **(उपगतः)** प्राप्त हैं **(इह भवे)** इस भव में **(भवदुःखतः)** भवदुःखों से **[असहितः]** रहित हैं। **(च)** और अपने प्रसंग में **(दुःखतः)** दुःख से **(भयम् एव)** भय को ही **(उपगतः)** प्राप्त है **(इह भवे)** इस भव में **(भवदुःखतः)** भवदुःखों से **(सहितः)** सहित है **(मानतः)** सम्यग्ज्ञान से **(विकलः)** रहित है **(स्वकं)** स्वयं को **(अलभमानतः)** नहीं प्राप्त करने के कारण **(अयं)** यह **(किमु)** क्या **(सुखी)** सुखी है? **[अपितु न]** अपितु नहीं है।

भावार्थ–(जिनदेव के प्रसंग में) हे मेरे मानव! यह जिनेन्द्रदेव मान-गर्व से रहित है, तो क्या सुखी नहीं है? दुःख से अभय को ही प्राप्त हुए के समान संसार में जन्म सम्बन्धी दुःख से क्या रहित नहीं है? (अपने प्रसंग में) दुःख से भय को प्राप्त हुआ नर इस भव में जन्म सम्बन्धी दुःख से सहित है, मान-विज्ञान से रहित है फलस्वरूप आत्मस्वरूप को प्राप्त नहीं होता हुआ क्या सुखी है अर्थात् नहीं है।

शिवपथे चरता व्रतसंगतः, प्रसमयोऽपि मया जिन! संगतः।
ननु कियत् सदनं प्रविराजते, प्रवद दूरमितोऽप्यजराज ते! ॥४८॥

अन्वयार्थ– (जिन!) हे अर्हन्! **(अजराज!)** हे जन्मातीत सिद्ध प्रभो! **(व्रतसंगतः)** महाव्रत प्राप्ति से लेकर **(मया)** मेरे द्वारा **(शिवपथे)** मोक्षमार्ग पर **(चरता)** चलते हुए–विहार करते हुए **(प्रसमयः)** दीर्घकाल **(अपि)** भी **(संगतः)** व्यतीत हो गया है **(इतः)** इस भव से **(ते सदनं)** तुम्हारा वह मुक्तिधाम **(ननु प्रवद)** कहो कि **(कियत्)** कितनी **(दूरं)** दूर **(प्रविराजते)** शोभित हो रहा है?

भावार्थ–हे जिन! हे अजराज! व्रतधारण कर मोक्षमार्ग में विचरते हुए मैंने अधिक समय व्यतीत किया है। अतः निश्चय से आप कहिये कि आपका वह सदन यहाँ से कितनी दूर सुशोभित हो रहा है?

हो वर्धमान गतमान प्रमाणधारी, क्यों ना सुखी तुम बनो जब निर्विकारी।
स्वात्मस्थ हो अभय हो मन अक्षजेता, हो दुःख से बहुत दूर निजात्मवेत्ता॥४७॥
सन्मार्ग पे विचरता मुनि हो अकेला, स्वामी! हुआ बहुत काल व्यतीत मेरा।
मेरे थके पग अभी कितना विहारा, बोलो कि दूर कितना तुम धाम प्यारा ॥४८॥

अमितभा सति भाति विभावतः, परमभानुरसीश! विभावतः।
वद कथं यदि नोऽप्यमलोद्भवेन्मम तपोमणितोऽप्यनलो भवे ॥४९॥

अन्वयार्थ—(ईश!) हे नाथ! **(अमल!)** हे कर्म मल से रहित विमल प्रभो! **(विभावतः)** कान्तिमान्-आपकी **(अमितभा)** अपरिमित कान्ति **(त्वयि सति)** आपमें विद्यमान रहने पर **(भाति)** शोभा पाती है **(भवे)** लोक में **(अतः)** इस कारण **(त्वं)** आप **(परमभानुः असि)** श्रेष्ठ सूर्य हो **(यदि नो)** यदि ऐसा नहीं है तो **(वद)** कहो कि **(मम)** मेरी **(तपोमणितः)** तपरूपी सूर्यकान्तमणि से **(अपि)** भी **(अनलः)** अग्नि **(कथं उद्भवेत्)** कैसे उत्पन्न होती है?

भावार्थ—हे ईश! हे अमल! विभासम्पन्न आपकी अपरिमित प्रभा आप विभु के रहते हुए ही सुशोभित होती है। अतः इस जगत् में आप उत्कृष्ट सूर्य हैं। यदि ऐसा नहीं है, तो मेरी तपरूपी सूर्यकान्तमणि से अग्नि क्यों प्रकट होती है।

कुरु कृपां करुणाकर! केवलं, क्षिप विदीश! विदं मयि के बलम्।
तनुचितोः प्रविधाय विभाजनं, निजमये यदरं सुखभाजनम्॥ ५०॥

अन्वयार्थ— (हे करुणाकर!) हे दयाकर! **(हे विदीश!)** हे ज्ञानेश! **[त्वं]** आप **(मयि)** मुझ पर **(केवलं)** मात्र **(कृपां कुरु)** कृपा करो **(मयि)** मुझमें **(विदं क्षिप)** ज्ञान डालो **(के)** आत्मा में **(बलं क्षिप)** बल डालो **(यत्)** जिस कारण से **(तनुचितोः)** देह और चेतना के बीच **(विभाजनं)** विभाजन-भेदविज्ञान **(प्रविधाय)** करके **(निजं)** आत्मा को **(सुखभाजनं)** सुख का पात्र **(अरं)** शीघ्र **(अये)** बना सकूँ।

भावार्थ—हे दयाकर! हे ज्ञानेश्वर! मुझ पर कृपा करो, मुझमें ज्ञान डालो और मेरी आत्मा में बल स्थापित करो। जिससे मैं शरीर और आत्मा का विभागकर सुख के पात्रस्वरूप निज आत्मा को शीघ्र प्राप्त हो जाऊँ।

स्वामी अपूर्व रवि हो द्युति धाम प्यारे, ये तेज हीन रवि सन्मुख हो तुम्हारे।
मानों नहीं स्वयम को रवि हे विरागी! क्यों अग्नि है मम तपो मणि में सुजागी? ॥४९॥
हे ईश धीश मुझमें बल बोधि डालो! कारुण्य धाम करुणा मुझमें दिखा लो।
देहात्म में बस विभाजन तो करूँगा, शीघ्रातिशीघ्र सुख भाजन तो बनूँगा ॥५०॥

समयशामितरागविभावसुरुपगतः स्वयमेव विभावसु।
मयि तथापि सरागतमालये, वससि देव कथं नियमालये ॥५१॥

अन्वयार्थ—(देव!) हे अरहंतदेव! **(त्वं)** आप **(समयशामितरागविभावसुः)** समय-शुद्धात्मानुभूति स्वरूप सम्यग्ज्ञान से, शामित-नष्ट कर दी है राग की, **(विभावसुः)** अग्नि ऐसे **(असि)** हो **(स्वयमेव)** स्वयं ही **(विभा-वसु)** बोधरूप धन को **(उपगतः)** प्राप्त हुए हो **(तथापि मयि)** तो भी मुझ **(सरागतमालये)** राग का है अन्धकार जिसमें ऐसे आलय-घर में, तथा **(नियमालये)** नियंत्रित गृह में **(कथं)** कैसे **(वससि)** रहते हो।

भावार्थ—हे देव! यद्यपि आप विज्ञान से रागरूपी अग्नि तथा निशा को नष्ट करने वाले हैं और आप स्वयं ही विभारूपी धन को प्राप्त हुए हैं, तथापि रागरूपी अंधकार के घर तथा नियमों के स्थानभूत मुझमें क्यों निवास कर रहे हैं। तात्पर्य यह है कि मैं सराग एवं अज्ञानी होता हुआ भी आपका ध्यान करता हूँ।

समयते निखिलं व्यवहारतः, स्वसमये नियतं भवहा! रतः।
सहजवृत्तिरियं हि सदा सतां, प्रवहतां जगतां न खदासताम् ॥५२॥

अन्वयार्थ— (भवहा!) हे संसार का परित्याग करने वाले भगवन्! **[भवान्]** आप **(नियतं)** निश्चय नय से **(स्वसमये)** निजात्मा में **(रतः)** लीन हैं और **(व्यवहारतः)** व्यवहारनय से **(निखिलं)** समस्त लोकालोक को **(समयते)** जानते हैं **(सतां)** साधुजनों की **(सहजवृत्तिः)** स्वाभाविक परिणति **(सदा)** सदा **(हि)** ही रहती है तथा **(खदासतां)** इन्द्रियों की अधीनता को **(प्रवहतां)** धारण करने वाले **(जगतां)** जगत् के प्राणियों के **(न)** वह सहज वृत्ति नहीं रहती है।

भावार्थ—हे भवहाः! संसार का परित्याग करने वाले जिनेन्द्र! निश्चयनय से आप स्वसमय-शुद्धात्मस्वरूप में लीन हैं-उसी को जानते हैं और व्यवहारनय से सबको जानते हैं क्योंकि यह स्वाभाविक परिणति साधुजनों की ही सदा रहती है, इंद्रियों की दासता को धारण करने वाले-असाधुजनों की नहीं रहती।

विज्ञान से शमित की रति की निशा है, पाया प्रकाश तुमने निज की दशा है।
तो भी निवास करते मुझमें विरागी! आलोक धाम तुम हो, तम मैं सरागी॥५१॥
शुद्धात्म में तुम सुनिश्चय से बसे हो, जो जानते जगत को व्यवहार से हो।
होती सदा सहजवृत्ति सुधी जनों की, इच्छामयी विकृतवृत्ति कुधी जनों की ॥५२॥

न हि जगज्जिन पश्यसि वस्तुतः, सततमात्मपदं तु भवस्तुतः।
त्वदुपयोगतले शुचिदर्शनेऽवतरतीव तदेव तु दर्शने ॥५३॥

अन्वयार्थ– (जिन!) हे जिनेन्द्र! आप **(भवस्तुतः)** संसार के भव्य जीवों से संस्तुत हैं **(वस्तुतः)** परमार्थ से आप **(सततं)** सदा **(आत्मपदं)** आत्मस्वरूप को **(पश्यसि)** देखते हो **(न हि जगत्)** जगत् को नहीं देखते **(तु)** किन्तु **(जगत् आत्मपदं न पश्यति)** यह सारा जगत् आत्मपद को नहीं देखता है अपितु **(शुचिदर्शने)** निर्मल दर्शन स्वरूप **(त्वदुपयोगतले)** आपके केवलज्ञान में **(दर्शने इव)** दर्पण के समान **(तदेव)** वही जगत् **(तु अवतरति)** प्रतिफलित होता है।

भावार्थ–हे जिन! संसार के भव्यजनों के द्वारा स्तुत आप यथार्थ से निरंतर आत्मपद-स्वरूप को देखते हैं-जानते हैं जगत् को नहीं। वही जगत् निर्मल दर्शन वाले आपके केवलज्ञान में दर्पण की तरह प्रतिफलित होता है।

समयसारत ईश! न सारतः, सविकलो विषयाज्जडसारतः।
जगति मक्षिकयैव सदादृतं, मलमलं भ्रमरेण सदादृत! ॥५४॥

अन्वयार्थ–(सदादृत!) हे सज्जन पुरुषों के द्वारा सम्मान को प्राप्त जिन! **(ईश)** हे नाथ! आप **(सारतः)** परमार्थ से **(समयसारतः)** समयसार स्वरूप शुद्धात्मानुभूति से **(सविकलः न)** रहित नहीं हो किन्तु **(जडसारतः)** जड़स्वरूप **(विषयात्)** पंचेन्द्रिय के विषयों से **(सविकलः असि)** रहित हो **(जगति)** संसार में **(मक्षिकया)** मक्खियों के द्वारा **(एव)** ही **(सदा)** नित्य **(मलम् आदृतं)** मल आदर पाता है **(भ्रमरेण)** भ्रमरों के द्वारा **(अलम्)** नहीं।

भावार्थ–हे सत्पुरुषों से सम्मानित! हे ईश! आप श्रेष्ठतम समयसार-शुद्धात्मस्वरूप से रहित नहीं हो-परिपूर्ण हो, किन्तु अचेतनों में प्रधानभूत पञ्चेन्द्रियों के विषयों से रहित हो। ठीक ही है, संसार में मल-विष्ठा मक्खी के द्वारा ही सदा आदृत होता है, भ्रमर के द्वारा नहीं।

संसार को निरखते न यथार्थ में हैं, लो आप केवल निजीय पदार्थ में हैं।
संसार ही झलकता दृग में तथा हैं, नाना पदार्थ दल दर्पण में यथा हैं ॥५३॥
स्वादी तुम्हीं समयसार स्वसम्पदा के, आदी कुधी सम नहीं जड़ सम्पदा के।
औचित्य है भ्रमर जीवन उच्च जीता, मक्खी समा मल न, पुष्प पराग पीता ॥५४॥

प्रवचनेऽचिति साऽ प्रतिमानता, ननु मतात्र सता शुचिमानता।
तव विदं हि हठाद्यदसंग! ताः, समयकाः स्वयमीश्वर! संगताः ॥५५॥

अन्वयार्थ– **(असंग!)** हे निर्ग्रन्थ! **(ईश्वर!)** हे नाथ! **(अत्र)** यहाँ **(तव)** आपके **(अचिति)** अचेतन रूप **(प्रवचने)** प्रवचन में **(ननु)** निश्चय से **(सा)** वह प्रसिद्ध **(अप्रतिमानता)** उपमातीत अनुपमता **(शुचिमानता)** निर्मलता-विशदता है **(सता)** वह साधुजनों के द्वारा **(मता)** स्वीकृत है **(यत्)** क्योंकि **(तव)** आपके **(विदं)** ज्ञान में **(हि)** वस्तुतः **(ताः)** वे सभी **(समयकाः)** पर्यायें **(हठात्)** अनायास **(स्वयं)** स्वतः अपने आप **(संगताः)** प्राप्त हुई हैं।

भावार्थ–हे निर्ग्रन्थ! हे नाथ! यहाँ आपकी अचेतन वाणी में निश्चय से जो प्रसिद्ध अनुपमता सत्पुरुषों ने स्वीकृत की है तथा निर्मलता को प्राप्त है, उसमें कारण यह है कि जगत् के समस्त पदार्थ आपके ज्ञान में हठपूर्वक स्वयं प्राप्त हुए हैं।

ननु दृगादिभिरात्मबलैः सुखं, करणजं ह्यपि तत्समलैः सुखम्।
जगति तन्तुभिरेव सुनिर्मितम्, पटमितीह जगाद मुनिर्मितम् ॥५६॥

अन्वयार्थ–हे लोकेश! **(ननु)** निश्चय से **(यत्सुखं)** जो सुख **(दृगादिभिः)** सम्यग्दर्शनादि स्वरूप **(आत्मबलैः)** आत्मबल के द्वारा उत्पन्न होता है वह आत्मिक सुख है और **(समलैः)** अतिचार सहित सम्यग्दर्शनादि के द्वारा **[यत्]** जो **(अपि)** भी **(सुखं)** सुख है **(तत् करणजं)** वह इन्द्रियों से उत्पन्न सुख है। उचित ही है कि **(इह जगति)** इस लोक में **(तन्तुभिः)** तंतुओं से **(एव)** ही **(पटं)** वस्त्र **(सुनिर्मितं)** निर्मित होता है **(इति)** ऐसा **(मुनिः)** जिनेन्द्रदेव आपने **(मितं)** परिमित-पदों से संक्षेप में-कारण के अनुसार कार्य होता है यह **(जगाद)** कहा था।

भावार्थ–हे लोकेश! निश्चय से जो आत्मोत्थ सुख है वह सम्यग्दर्शनादि आत्मशक्तियों से प्राप्त होता है और जो इन्द्रियजन्यसुख है वह भी सातिचार-अपूर्ण सम्यग्दर्शनादि आत्मशक्तियों से प्राप्त होता है। उचित ही है, इस जगत् में जो वस्त्र है वह तंतुओं से ही निर्मित होता है, ऐसा संक्षेप में आप (मुनि) ने कहा था।

है वस्तुतः जड़ अचेतन ही तुम्हारी, वाणी तथापि जग पूज्य प्रमाण प्यारी।
है एक हेतु इसमें तुमने निहारा, विज्ञान के बल अलोक त्रिलोक सारा ॥५५॥
सम्यक्त्व आदिक निजी बल मोक्षदाता, वे ही अपूर्ण जब लौं सुर सौख्यधाता।
औचित्य वस्त्र बनता निज तन्तुओं से, ऐसा कहा कि तुमने मित सत् पदों से॥५६॥

नयति विस्मरणं सुखयाचना,-मजनुतौ विरतो दयया च ना।
मणिमयं जलधाववगाहितः, किमिह याचत ए खनगाहित! ॥५७॥

अन्वयार्थ—(ए खनगाहित!) हे इन्द्रियसुख विमुख भगवन्! ख=इन्द्रिय विषय के प्रति न=नहीं है, गाहित=लीनता जिनको ऐसे भगवन् **(अजनुतौ)** अज=सिद्ध, नुतौ=भक्ति में **(विरतः)** विशेष रूप से रत-लीन **(च)** और **(अदयया विरतः)** अदया से रहित **(ना)** मनुष्य **(सुखयाचनां)** सुख की याचना को **(विस्मरणं)** भूल **(नयति)** जाता है। उचित ही है **(इह)** संसार में **(जलधौ)** समुद्र में **(अवगाहितः)** अवगाहन करने वाला **(अयं)** यह मनुष्य **(किं)** क्या **(मणिं)** मणि को **(याचते)** मांगता है? कदापि नहीं।

भावार्थ—हे इन्द्रियसुख से विमुख! भगवन्! भगवत्स्तुति और दया से सहित रहने वाला मनुष्य सुख याचना को भूल जाता है। ठीक ही है-समुद्र में गोता लगाने वाला यह मनुष्य संसार में क्या मणि की याचना करता है? अर्थात् नहीं करता।

स्ववपुषा प्रथमं पृथगम्बर,-मज समुज्झ्य चिता च दिगंबरः।
यवमलं न तृणं ननु पाचकः, कलयति प्रथमं स्वकपाश्च क! ॥५८॥

अन्वयार्थ—(स्वकपाः!) स्व=निज, क=आत्मा की, पा=रक्षा करने वाले, हे भगवन्! **(अज!)** अविनश्वर सिद्ध प्रभो! **(क)** हे आत्मन्-ब्रह्मन् आप! **(ननु)** निश्चित है कि **(प्रथमं)** पहले **(पृथक्)** पृथक्भूत **(अम्बरं)** वस्त्र को **(समुज्झ्य)** त्यागकर **(स्ववपुषा)** स्वदेह से **(दिगम्बरः जातः)** दिगम्बर हुए हो **(च)** पुनः **(चिता)** चेतना से रागद्वेष रहित होकर दिगम्बर हुए **(पाचकः)** रसोईया **(प्रथमं)** पहले **(तृणं)** तृणादिक बाहरी मल को **[पृथक्]** दूर **(कलयति)** करता है **(न च यवमलं)** न कि चावल की लालिमा को दूर करता है।

भावार्थ—हे आत्मरक्षक! हे जन्मरहित! हे ब्रह्मन्! आप पहले वस्त्र को छोड़कर स्वशरीर से दिगम्बर हुए थे। पश्चात् चेतना से दिगम्बर हुये थे। यह उचित ही है, क्योंकि रसोई बनाने वाला पहले तुषरूप तृण को बीनता है पश्चात् जौ के मल-ललाई आदि को ग्रहणकर दूर हटाता है। धान्य की लालिमा को तो बाद में मूसलादिक के द्वारा दूर हटाता है अर्थात् भव्य जीव पहले बाह्य परिग्रहों का त्याग करता है, फिर रागादि भावों को दूर करता है। त्याग का यही क्रम सही है।

होता विलीन भवदीय उपासना में, तो भूलता सहज ही सुख याचना मैं ।
जो डूबता जलधि में मणि ढूँढ़ लाने, क्या मांगता जलधि से मणि दे! सयाने ॥५७॥
औचित्य! है प्रथम अम्बर को हटाया, पश्चात् दिगम्बर विभो! मन को बनाया।
रे! धान का प्रथम तो छिलका उतारो, लाली उतार, फिर भात पका, उड़ालो ॥५८॥

य उपधि र्जगता समुपासितः, मृतिभयं न विनामृतपाः शित!
अभयताप्तय एव समुद्यतो,भवदुपासनया द्रुतमुद्यतः ॥५९॥

अन्वयार्थ– (अमृतपाः!) हे मोक्ष तत्त्व के रक्षक प्रभो! **(शित!)** हे शान्त! **(यः)** जो **(उपधिः)** परिग्रह **(जगता)** संसारी जीवों द्वारा **(समुपासितः)** सेवित-स्वीकृत है **[सः]** वह **(मृतिभयं विना न)** मृत्यु के भय बिना नहीं स्वीकार किया जाता है अतः **[एषः]** यह मुनि **(अभयता)** अभय दशा को **(आप्तये)** प्राप्त करने के लिए **(भवतः)** आपकी **(उपासनया)** आराधना करने की भावना के साथ **(एव)** ही **(समुद्यतः)** तैयार हुआ है **(यतः)** जिससे **(द्रुतं)** शीघ्र **[उत्स्यात्]** ऊपर उठ सके, मोक्ष प्राप्त कर सके।

भावार्थ—हे अमृतपाः! मोक्ष अथवा प्रियवस्तु के रक्षक! हे शांत! जो परिग्रह जगत् के द्वारा सेवित है, वह मृत्यु के भय के बिना नहीं अर्थात् मृत्यु से बचने के लिए ही जगत् परिग्रह को उपार्जित, संचित और सुरक्षित रखता है। इसीलिए यह मुनि अभयता-निर्भयता की प्राप्ति के लिए आपकी उपासना में समुद्यत है। इसी से वह शीघ्र ऊर्ध्वगामी-सिद्ध हो जाता है।

जडतनोर्मदरागनिराकृति-र्जगति शान्तिरिहास्ति निराकृतिः।
परिगमस्तव शान्त! सुमुद्रया, समनुजायत एव सुमुद्रया ॥६०॥

अन्वयार्थ—हे लोकोत्तर शान्ति सम्पन्न प्रभुवर! **(इह जगति)** इस संसार में जो **(निराकृतिः)** निराकार अभ्यन्तर **(शान्तिः)** शान्त परिणति है वह **(जडतनोः)** जड़ देह संबंधी **(मदरागनिराकृतिः)** मद-अहंकार, राग-ममकार परिणामों का निराकरण ही है ऐसा **(तव)** आपकी **(सुमुद्रया)** हर्षदायिनी **(सुमुद्रया)** शान्त मुद्रा के द्वारा **(एव)** नियम से **(परिगमः)** बोध **(समनुजायते)** उत्पन्न होता है।

भावार्थ—हे शान्त! हे लोकोत्तरशान्तिसम्पन्न! इस जगत् में जो अभ्यन्तर-अतीन्द्रिय शान्ति है वह जड़ शरीर संबंधी अहंकार-ममकार का निराकरण-परित्याग ही है, ऐसा सुबोध आपकी प्रमोददायिनी सुन्दर आकृति से होता है।

शंका न मृत्यु भय ने सबको हराया, संसार ने तब परिग्रह को सजाया।
हे सेव्य! हे अभय! सेवक मैं विरागी, मैं भी बनूँ अभय जो सब ग्रन्थत्यागी॥५९॥
जो देह नेह मद को तजना कहाता! स्वामी! अतीन्द्रिय वही सुख है सुहाता।
तेरे सुशान्त मुख को लख हो रहा है, ऐसा विबोध, मन का मल धो रहा है॥ ६०॥

न हि गभीर इहेन्दुनियोगतः, स जलधिस्स्खलितो निजयोगतः।
असि गभीरतमो निजधाम न, त्यजसि यत् सुखदं च मुधाऽमनः ॥६१॥

अन्वयार्थ—(अमनः!) हे मनोभाव रहित जिन! **(इह)** यहाँ **(सः)** वह प्रसिद्ध **(जलधिः)** समुद्र **(इन्दुनियोगतः)** पूर्ण चन्द्र के नियोग के कारण **(निजयोगतः)** अपनी गंभीर परिणति से **(स्खलितः)** च्युत होता है वह **(गभीरः)** गंभीर **(न हि)** नहीं है **(च)** किन्तु आप **(मुधा)** व्यर्थ में **(सुखदं)** सुखदायक **(निजधाम)** निजस्वरूप को **(न त्यजसि)** नहीं छोड़ते हो, **(यत्)** क्योंकि आप **(गभीरतमः असि)** समुद्र से भी अत्यधिक गंभीर हो।

भावार्थ—हे अमन! हे भावमन से रहित! इस जगत् में यह समुद्र चन्द्रमा के संयोग से स्वकीय गांभीर्य से विचलित हो जाता है अर्थात् चन्द्रमा के दर्शन से समुद्र उद्वेलित हो जाता है। अतः, वह गंभीर नहीं है किन्तु आप व्यर्थ ही अपने सुखदायकधाम–तेज अथवा स्थान का त्याग नहीं करते, अतः, गम्भीरतम हैं।

जिगमिषु र्निकटं तव ना विनाः, स नियमेन जडो ननु ना विना।
दृगिह बीजमजा अवनाविना, नहि सतां सुफलेऽमलिना विना॥ ६२॥

अन्वयार्थ—(अजाः!) जन्मातीत अनन्तानन्त सिद्धसमूह! **(इनाः!)** हे अनन्त अर्हन्त! **(विनाः!)** हे विशिष्ट परमपुरुष! **(नाः!)** हे पूज्यसमूह! **(तव)** तुम्हारे **(निकटं)** समीप **(नियमेन)** व्रत संयम के **(विना)** बिना **(जिगमिषुः)** जाने की इच्छा रखने वाला **(ना)** पुरुष **(ननु)** निश्चय से **(सः)** वह **(जडः)** अज्ञानी ही है। सत्य ही है कि **(इह अवनौ)** इस पृथ्वी पर **(बीजं विना)** बीज के बिना **(सतां)** सज्जनों की **(अमलिना)** निर्दोष **(दृक्)** दृष्टि **(सुफले)** समीचीन फल पर–फसल पर **(न हि)** नहीं होती है।

भावार्थ—हे जन्मातीत! हे नाथ! हे अतिशयपूज्य जिनदेव! जो पुरुष व्रतनियमादि के बिना आपके निकट जाना चाहता है, वह निश्चय से अज्ञानी है। उचित ही है–इस पृथ्वी में बीज के विना सज्जनों की निर्मलदृष्टि सुन्दरफल पर नहीं हो सकती।

गंभीर सागर नहीं शशि दर्श पाता, गांभीर्य त्याग तट बाहर भाग आता।
गंभीर आप रहते निज में इसी से, होते प्रभावित नहीं जग में किसी से॥ ६१॥
है चाहता अबुध ही तुम पास आना, धारे बिना नियम संयम शील बाना।
धीमान कौन वह है! श्रम देख रोये, चाहे यहाँ सुफल क्या बिन बीज बोये॥६२॥

त्वयि रुचिं च विना शिवराधनम्, भवतु केवलमात्मविराधनम्।
नगविदारणवत् शिरसा यते!, मतमिदं जगतां स्वरसाय ते॥६३॥

अन्वयार्थ– (यते!) हे मुने! **(त्वयि)** आपमें **(रुचिं विना)** श्रद्धा के बिना **(शिवराधनं)** मोक्ष की आराधना करना **(शिरसा)** सिर के द्वारा **(नगविदारणवत्)** पर्वत को भेदने के समान **(केवलं)** मात्र **(आत्मविराधनं)** आत्मा की विराधना **(भवतु)** होवे **[इति]** इस प्रकार **(ते)** आपका **(इदं मतं)** यह मत **(जगतां)** जगत् के प्राणियों के **(स्वरसाय)** निजसुख के लिए है।

भावार्थ–हे यतिराज! आप से प्रीति अथवा श्रद्धा के बिना मोक्ष की आराधना करना - तपश्चरणादि करना शिर से पहाड़ फोड़ने के समान मात्र आत्मविराधना–आत्मघात है। आपका यह मत जगत् के सुख के लिए है।

समुदयागत ईश! शुभे विधौ, न हि तथा किल शीतलतां विधौ।
अनुभवामि यथा तव सन्निधौ, ह्यतुलवैभवपूरितसन्निधौ॥६४॥

अन्वयार्थ– (ईश!) हे नाथ! **(शुभे विधौ)** पुण्य कर्म के **(समुदयागते)** उदय में आने पर तथा **(विधौ)** चन्द्रमा के उदित होने पर **(किल)** वास्तविक **(शीतलतां)** शीतलता को **(न हि)** नहीं प्राप्त करता हूँ **(यथा)** जिस प्रकार **(तव हि)** आपकी **(अतुलवैभवपूरितसन्निधौ)** अनुपम वैभव से परिपूर्ण समीचीन निधि स्वरूप **(सन्निधौ)** निकटता में **(अनुभवामि)** अनुभव करता हूँ।

भावार्थ–हे ईश! पुण्यकर्मोदय से प्राप्त शुभकार्य में और सम्यक् प्रकार से उदित चन्द्रमा में वैसी शीतलता का अनुभव नहीं करता हूँ जैसी कि अनुपम वैभव से परिपूर्ण समीचीन निधिस्वरूप आपकी सन्निधि–निकटता में करता हूँ।

शुद्धात्म में रुचि बिना शिवसाधना है, रे निर्विवाद यह आत्मविराधना है।
हो आत्मघात शिर से गिरि फोड़ने से, तेरा यही मत इसे सुख मानने से ॥६३॥
ना आत्म तृप्ति उदयागत पुण्य में है, वो शांति की लहर ना शशिबिम्ब में है।
जो आपके चरण का कर स्पर्श पाया, आनन्द ईदृश कहीं अब लौं न पाया॥६४॥

असि निजानुभवादिसमाधितः, स्खलितवान् भवतो द्रुतमाधितः।
सुधृतिमन्त इतीश! तदाप्तये, स्वनिरता मुनयोऽपि सदाप्त! ये ॥६५॥

अन्वयार्थ—(ईश!) हे नाथ! **(आप्त!)** हे सर्वज्ञ! आप **(निजानुभवादिसमाधितः)** निजानुभूति, शुद्धोपयोग, उपेक्षासंयम, निर्विकल्पसमाधि से **(आधितः)** मानसिक व्यथा स्वरूप **(भवतः)** संसार के परिभ्रमण से **(द्रुतं)** शीघ्र **(स्खलितवान् असि)** मुक्त हुए हो **(इति)** ऐसा मानकर **(तदाप्तये)** संसार से निवृत्ति के लिए **(सुधृतिमन्तः)** धैर्यसम्पन्न **(ये मुनयः अपि)** ये सभी मुनिराज भी **(सदा)** नित्य **(स्वनिरताः)** आत्मसाधना में संलग्न हुए हैं।

भावार्थ—हे ईश! हे आप्त! आप निजानुभवरूप समाधि-ध्यान से मानसिक व्यथारूप संसार से निवृत्त हुए हैं, ऐसा मानकर जो उत्तम धैर्य से युक्त मुनि हैं, वे भी सदा आत्मलीन रहते हैं।

विधिनगाशनिरीश! सुराजते, कुमतकक्षदवो मुनिराज! ते।
शशिशितं सुखदं शुचिशासनं, भवतु मे सततं सहसासनम्॥६६॥

अन्वयार्थ— (मुनिराज!) हे मुनिगणनायक! **(ईश!)** हे प्रभो! **(ते)** आपका **(शशिशितं)** चन्द्रमा के समान उज्ज्वल **(सुखदं)** स्वर्ग मोक्ष के सुख को देने वाला **(शुचिशासनं)**निर्दोष जिनशासन **(कुमतकक्षदवः)** मिथ्यात्व मतरूपी वन को जलाने के लिए दावानल के समान है और **(विधिनगाशनिः)** कर्मरूपी पर्वत को भेदने के लिए वज्र के समान **(सुराजते)** सुशोभित हो रहा है, वह जिनशासन **(मे)** मुझ स्तुति करने वाले का **(सततं)** सदा **(सहसा)** शीघ्र **(आसनं)** आश्रय **(भवतु)** होवे।

भावार्थ—हे ईश! हे मुनिराज! चंद्रमा के समान उज्ज्वल आपका सुखदायक निर्मलशासन कर्मरूप पर्वतों के लिए वज्र तथा मिथ्या मतरूपी वनों के लिए दावानल के समान सुशोभित है, अतः वह निरन्तर मेरा आसन-आधार रहे।

स्वामी! निजानुभवरूप समाधि द्वारा, पाया, मिटी-भव-भवाब्धि, भवाब्धि पारा।
ये धैर्य धार बुध साधु समाधि साधें, साधें अतः सहज को निज को अराधें॥६५॥
है वज्र, कर्म-धरणी-धर को गिराता, दावा बना कुमत कानन को जलाता।
ऐसा रहा सुखद शासन शुद्ध तेरा, पाथेय पंथ बन जाय सहाय मेरा॥६६॥

जननसागरशोषणभाकरः, तृषितजीवनदोऽसिशुभाकरः।
खझषजाल इतीह सुगीर्यतेः सुमुनिना ह्यमुनाप्यथ गीयते॥६७॥

अन्वयार्थ–हे भगवन्! **(इह)** इस पृथ्वी पर **[भवान्]** आप **(जननसागरशोषणभाकरः)** जनन–जन्मरूपी, सागर–समुद्र को, शोषण–सुखाने के लिए, भाकर–सूर्य के समान हैं **(शुभाकरः)** शुभभावों की खानि हैं **(तृषितजीवनदः)** तृषित प्राणियों को जीवन–जल देने वाले हैं अथवा तृष्णा से पीड़ित प्राणियों को त्यागरूप जीवन प्रदान करने वाले हैं **(खझषजालः असि)** ख–इन्द्रियरूपी, झष–मछली को वश में करने के लिए, जाल–बन्धन के समान हैं **(इति)** इस प्रकार **(यतेः सुगीः)** ऐसी यह यतियों की वाणी है। **(अथ हि)** निश्चय से **(अमुना सुमुनिना)** इस मुनि के द्वारा **(अपि)** भी **(गीयते)** गाया जाता है।

भावार्थ–हे भगवन्! इस जगत् में आप संसाररूपी समुद्र को सुखाने के लिए प्रचण्ड सूर्य हैं। तृष्णारूपी तृषा से पीड़ित मनुष्य को संतोषरूपी जल को देने वाले हैं। शुभाकर–पुण्य की खान हैं तथा इंद्रियरूपी मछलियों को वश करने के लिए जालस्वरूप हो। इस तरह आपके विषय में गणधरादि मुनियों की उत्तम वाणी है। अब मुझ मुनि के द्वारा भी यही कहा जाता है।

मम मतिस्स्तवनेऽत्र सरोवरे, किमु तदा विफलो न सरो वरे।
अमृतनीरनिधौ जिन! निष्क्रिय!, विषकणोऽस्तु तथापि स निष्क्रियः॥६८॥

अन्वयार्थ– **(जिनः)** हे जिन! **(हे निष्क्रिय!)** हे कृतकृत्य! आपके **(अत्र)** इस **(स्तवने)** स्तवनरूपी **(वरे)** श्रेष्ठ **(सरोवरे)** सरोवर में **[यदा]** जब **(मम मतिः)** मेरी मति रहती है **(तदा)** उस समय **(सरः)** कामभाव रूपी बाण **(किमु)** क्या **(विफलः)** विफल–व्यर्थ **(न)** नहीं होता? **(अमृतनीरनिधौ)** अमृत के समुद्र में **(सः)** वह प्रसिद्ध **(विषकणः)** विष का कण **(अस्तु)** हो **(तथापि)** तो भी **(निष्क्रियः एव)** वह विषकण प्रभावशून्य ही रहता है।

भावार्थ–हे जिन! हे कृतकृत्य! आपके स्तवनरूप उत्कृष्ट सरोवर में जब मेरी मति रह रही है तब काम क्या निष्फल न रहे? क्योंकि अमृत के सरोवर में विष का कण रहता भले ही हो पर वह निष्क्रिय–प्रभावशून्य ही रहता है।

हो तेज भानु भवसागर को सुखाने, गंगा तुम्हीं तृषित की कुतृषा बुझाने।
हो जाल इंद्रियमयी मछली मिटाने, मैं भी, तुम्हें सुबुध भी, इस भाँति मानें॥६७॥
मेरी मती स्तुति सरोवर में रहेगी, होगी मदाग्नि मुझमें, रह क्या करेगी।
पीयूष सिंधु भर में विषबिन्दु क्या है? अस्तित्व हो पर प्रभाव दबाव क्या है?॥६८॥

तव मते सति ते विफला मता, लयमयन्ति हठाद्विमला मताः।
लवणवद् अशने च सदाऽमिते, जिन! विदं सहजां सुखदामिते ॥६९॥

अन्वयार्थ—(जिनः) हे जिन! **(तव)** आपकी **(सहजां)** सहज **(सुखदां)** सुखद **(विदं)** प्रज्ञा को **(इते)** प्राप्त **(अमिते)** अपरिमित **(सति)** प्रशस्त **(मते)** मत में–धर्म में **(अशने)** भोजन में **(लवणवत्)** लवण के समान यदि **(च)** और **(सदा)** सदा **(ते)** वे **(विफलाः मताः)** अन्य मत **(लयं अयन्ति)** लीनता को प्राप्त हो जायें तो **(हटात्)** निश्चित ही **(विमलाः)** निर्मल शुद्ध निर्दोष **(मताः)** मत वाला हो जाऊँ।

भावार्थ—हे जिन! आपके सहज सुखदायक ज्ञान को प्राप्त अपरिमित प्रशस्त मत में यदि एकान्तवाद के कारण अकार्यकारी अन्य मत–धर्म लीनता को प्राप्त हो जावें तो विशाल भोजन में नमक की तरह वे भी हठात् निर्मल–निर्दोष होकर पूज्य हो जावें।

स्तुतिबलं ह्यवलम्ब्य मनोर्भवे, ह्यनुचरामि निजात्मनि नो भवे।
कदपथेऽत्र वयोऽपि सपक्षका इति, चरन्ति वदन्ति विपक्षकाः॥७०॥

अन्वयार्थ— हे जगद्वन्द्य! **(हि)** निश्चय से **(मनोः)** ज्ञानस्वरूप आपकी **(स्तुतिबलं)** स्तुति के बल का **(अवलम्ब्य)** आलम्बन लेकर मैं **(भवे)** कल्याणस्वरूप **(निजात्मनि)** निज आत्मा में **(अनुचरामि)** विचरण करता हूँ **(भवे)** संसार में **(नो)** नहीं। **(अत्र)** संसार में **(सपक्षकाः)** एकान्तवादी और **(वयः)** पक्षी **(अपि)** ही **(कदपथे)** क्रमशः कुमत में और आकाश में **(चरन्ति)** विचरण करते हैं **(इति)** इस प्रकार **(विपक्षकाः)** पक्षपात रहित अनेकान्तवादी ज्ञानी जन **(वदन्ति)** कहते हैं।

भावार्थ—हे जगद्वन्द्य! निश्चय से आपकी स्तुति के बल का अवलम्बन लेकर मैं कल्याणकारी निज आत्मा में विचरण करता हूँ संसार में नहीं। ठीक ही है पंखों से सहित पक्षी और एकान्तपक्ष से सहित दुराग्रही मानव भी कुमार्ग में विचरण करते हैं पक्षरहित मनुष्य और पंखरहित पक्षी कुमार्ग में (आकाश में) विचरण नहीं करते हैं, ऐसा ज्ञानी जन कहते हैं।

स्याद्वादरूप मत में, मत अन्य खारे, ज्यों ही मिले मधुर हो बन जाएं प्यारे।
मात्रानुसार यदि भोजन में मिलाओ, खारा भले लवण हो अति स्वाद पाओ॥६९॥
ले आपकी प्रथम मैं स्तुति का सहारा, पश्चात् नितांत निज में करता विहारा।
ज्यों बीच बीच निज पंख विहंग फैला, फैला विहार करता नभ में अकेला ॥७०॥

यदुदितं वचनं शुचि साधुना, वदति तत् न कुधीरिति साधु ना।
ज्वरमितः सुपयः किमु ना सितां, ह्यनुभवद् भुवि रोगविनाशिताम् ॥७१॥

अन्वयार्थ– हे साधो! [त्वया] **(साधुना)** आप साधु के द्वारा **(यत्)** जो **(शुचिवचनं)** पवित्र वचन **(उदितं)** कहा है **(तत्)** वह **(साधु)** सत्य **(न)** नहीं है **(इति कुधीः)** ऐसा अज्ञानी **(ना)** पुरुष **(वदति)** कहता है [उचितमेव] यह उचित ही है कि **(भुवि)** पृथ्वी पर **(रोगविनाशितां)** रोगविनाशक **(सितां)** मिश्रीयुक्त **(सुपयं)** दुग्ध का **(हि)** वास्तव **(अनुभवत्)** स्वाद लेता हुआ **(ज्वरमितः)** ज्वर को प्राप्त **(ना)** पुरुष **(किमु)** क्या वैसा नहीं कहता?

भावार्थ–हे साधो! आप साधु के द्वारा जो निर्दोष वचन कहा गया है, यह ठीक नहीं है, ऐसा अज्ञानी पुरुष कहता है। उचित ही है क्योंकि पृथ्वी पर रोग को नष्ट करने वाली मिश्री से युक्त उत्तम दूध को ज्वर सहित मनुष्य मीठा नहीं है, ऐसा क्या नहीं कहता? अर्थात् वह ज्वर रोगी मिश्री मिला दूध है ऐसा नहीं कहता [मिथ्यादृष्टि जीव भी वीतराग सर्वज्ञ के वचन को ठीक नहीं कहता।]

सुकवितां विरचय्य च केवलं, भवतु कोऽपि कविर्गत! केवलम्।
स्वकवितां तु ततोऽहमशेषता,मनुभवामि ममाऽस्तु विशेषता ॥७२॥

अन्वयार्थ– **(केवलंगत!)** हे केवलज्ञान को प्राप्त जिनवर! **(केवलं)** मात्र **(सुकवितां)** अच्छी कविता को **(विरचय्य च)** रचकर **(कः अपि)** कोई भी **(कविः भवतु)** कवि हो जाये **(अहं तु)** मैं तो **(ततः)** उस कविता से **(अशेषतां)** संपूर्ण **(स्वकवितां)** स्वकविता–स्वयं की आत्मा का **(अनुभवामि)** अनुभव करता हूँ अतः **(मम)** मेरी **(विशेषता)** विशेषता **(अस्तु)** है।

भावार्थ–हे केवलज्ञान से युक्त जिनेन्द्र! मात्र आपकी कविता रचकर कोई भी कवि हो सकता है। परंतु मैं संपूर्ण रूप से स्वकविता का अनुभव करता हूँ अतः यह मेरी विशेषता है।

मिथ्यात्व से भ्रमित चित्त सही नहीं है, तेरे उसे वचन ये रुचते नहीं हैं।
मिश्री मिला पय उसे रुचता कहाँ है? जो दीन पीड़ित दुखी ज्वर से अहा है॥ ७१॥
लालित्य पूर्ण कविता लिख के तुम्हारी, होते अनेक कवि हैं कवि नामधारी।
मैं भी सुकाव्य लिख के कवि तो हुआ हूँ, आश्चर्य तो यह निजानुभवी हुआ हूँ ॥७२॥

जिनवरं परिवेत्ति विनिश्चितं, स नितरां हि निजं च मुनिश्चितम्।
किमु न धूम्रविदत्र-सदागतेः, सहचरं सहजं च सदागते! ॥७३॥

अन्वयार्थ– (सदागते!) हे शाश्वत ज्ञान के धारक! **[यः]** जो **(जिनवरं)** जिनेन्द्र भगवान् को **(विनिश्चितं)** निःसंदेह **(परिवेत्ति)** जानता है **(स मुनिः)** वह मुनि **(हि)** ही **(नितरां)** अतिशय रूप से **(निजं चितं)** अपनी आत्मा को जानता है [उचितमेव] उचित ही है **(अत्र)** यहाँ पृथ्वी पर **(धूम्रवित्)** धूम्र का जानकार है **(सः)** वह व्यक्ति **(सदागतेः)** वायु की **(सहचरं च)** अग्नि को **(किमु)** क्या **(सहजं)** सहज ही **(न)** नहीं जानता है? अर्थात् जानता ही है।

भावार्थ–हे सदागते! हे शाश्वतिक खान के धारक! जो अरहन्तदेव को जानता है वह मुनि निश्चय से अच्छी तरह निज आत्मा को जानता है। ठीक ही है क्योंकि पृथ्वी पर जो धुँआ का जानकार है, वह क्या सहज ही अग्नि को नहीं जानता? अवश्य जानता है।

समवधूय विधिं किल शाश्वत, मिति पदं प्रगतं सहसा स्वतः।
शरणदं न विहाय ततोऽपरं-, विरिव नावमये ह्ययजितापरम् ॥७४॥

अन्वयार्थ– (अजित!) भोगाकांक्षा द्वारा अविजित प्रभो! **[भवान्]** आप **(विधिं)** कर्म को **(समवधूय)** सम्यक् प्रकार से नष्ट करके **(किल)** शुद्ध **(शाश्वतं)** शाश्वत **(परं)** श्रेष्ठ **(शरणदं)** शरण को देने वाले **(पदं)** अरिहंत पद को **(सहसा)** शीघ्र सहज **(स्वतः)** अपने से **(प्रगतं)** प्राप्त हुए हो, **(इति)** ऐसे **[त्वां]** आपको **(नावं)** नौका स्वरूप **(विहाय)** छोड़कर **(ततः)** आपसे **(अपरं)** भिन्न अन्य देव को **(विः इव)** पक्षी के समान **[अहं]** मैं **(नहि)** नहीं **(अये)** प्राप्त करता हूँ। इस संसार सागर में डूबे हुए मुझे आपको छोड़कर अन्य कोई शरण नहीं है।

भावार्थ–हे अजित! कर्मरूपी रज को अच्छी तरह उड़ाकर निश्चय से नित्य, श्रेष्ठ और शरणदायक इस आर्हन्त्यपद को स्वकीय पुरुषार्थ से शीघ्र प्राप्त करने वाले आपको छोड़कर, नाव को छोड़ पक्षी के समान मैं अन्य किसी को नहीं प्राप्त होता हूँ। ''मुक्त्वा भवन्तमिह कं शरणं व्रजानि''।

श्रद्धासमेत तुमको यदि जानता है, शुद्धात्म को वह अवश्य पिछानता है।
धूवाँ दिखा अनल का अनुमान होता, है तर्क शास्त्र पढ़ते दृढ़ बोध होता ॥७३॥
मोहादि कर्म मल को तुमने मिटाया, स्वामी स्वकीय पद शाश्वत सौख्य पाया।
लेता सहार मुनि हो अब मैं तुम्हारा, तोता जहाज तज कुत्र उड़े विचारा ॥७४॥

तव नुतेः सुखदश्च भृशं कर, उरसि मे विशतीह नु शंकर!।
दिनकरस्य शिवास्य विभावतः, सदनरंध्र इवाज! हि भावतः ॥७५॥

अन्वयार्थ— (अज!) हे जन्मातीत! **(शंकर!)** हे शान्ति विधायक! **(शिव!)** हे सुखस्वरूप! **(तव)** आपकी **(नुतेः)** स्तुति से **(सुखदः)** मोक्ष सुख देने वाला **(करः)** श्रद्धान **(भृशं)** अति गाढ़ रूप से **(मे)** मेरे **(इह)** इस **(उरसि)** हृदय में **(अस्य)** इस **(विभावतः)** प्रभायुक्त **(दिनकरस्य)** सूर्य की **(सदनरन्ध्रे)** घर के छिद्र में **(करः इव)** किरण के समान **(हि भावतः)** परमार्थ से **(नु)** वास्तव में **(विशति)** प्रवेश कर रहा है।

भावार्थ—हे अज! हे शांतिविधायक! हे सुखस्वरूप! आपकी स्तुति से आपका सुखप्रद श्रद्धान अथवा आपकी स्तुति की किरणावली मेरे इस हृदय में परमार्थ से उस तरह अत्यधिक प्रवेश कर रही है, जिस तरह कि प्रभापुंज सूर्य की किरण सच्छिद्र घर में प्रवेश करती है।

सति शिवे हि मनोऽपि नियोजयेत्, मनसिजं सहजं समयो जयेत्।
जगति कारण एव लयं गत, इह नु कार्यमिदं ह्यभयंगत! ॥७६॥

अन्वयार्थ— (अभयंगत!) हे अभय प्राप्त जिनवर! **[यः]** जो **(सति)** सत्यरूप **(शिवे)** शिवस्वरूप आपमें **(हि)** निश्चित रूप से **(मनः)** अपने मन को **(नियोजयेत्)** लगाता है वह **(समयः)** शुद्धात्मा **(इह जगति)** इस संसार में **(सहजं)** सहज उत्पन्न **(मनसिजं)** काम को **(सहजं)** सहज **(अपि)** ही **(जयेत्)** जीत लेता है। **(कारणे लयं गते)** कारण के विलीन होने पर **(एव)** ही **(इदं कार्यं नु)** कोई कार्य हो सकता है क्या ? कभी नहीं।

भावार्थ—हे अभय को प्राप्त जिनेन्द्र! निश्चय से जो मनुष्य आनन्दस्वरूप आप सज्जन में मन को लगाता है वह शुद्धात्मस्वरूपी मनुष्य साथ-साथ उत्पन्न होने वाले भी काम को जीत लेता है। उचित ही है, इस जगत् में कारण के नष्ट होने पर क्या कार्य होता है? अर्थात् नहीं होता। जब मन प्रभु भक्ति में लीन हो गया तब मन में उत्पन्न होने वाला काम कैसे उत्पन्न हो सकता है ? नहीं हो सकता।

त्यों आपके स्तवन की किरणावली है, पाती प्रवेश मुझमें सुखदा भली है।
ज्यों ज्योति पुंज रवि की प्रखरा प्रभाली, हो रंध्र में सदन के घुसती निराली॥७५॥
कामारिरूप तुम में मन को लगाता, है वस्तुतः मुनि मनोभव को मिटाता।
हो जाय नाश जब कारण का तथापि, क्या कार्य का जनम हो जग में कदापि ॥७६॥

त्वयि रुचे रहिताय न दर्शनं, तव हिताय वृथा तददर्शनम्।
खविकलाय करोतु न दर्पणं, समवलोकनशक्तिमुदर्पणम् ॥७७॥

अन्वयार्थ—हे जिन! **(त्वयि)** आपमें **(रुचे:)** श्रद्धा से **(रहिताय)** रहित मनुष्य के लिए **(तव)** आपका **(दर्शनं)** दर्शन अथवा जिनदर्शन **(हिताय)** हित के लिए **(न)** नहीं होता किन्तु **(तत्)** वह दर्शन **(वृथा)** व्यर्थ है **(अदर्शनं)** अदर्शन ही है। उचित ही है कि **(खविकलाय)** चक्षु से रहित मनुष्य के लिए **(दर्पणं)** दर्पण **(समवलोकनशक्तिमुदर्पणं)** सम्यक् अवलोकन-देखने वाले की शक्ति से उत्पन्न हर्ष को प्रदान कर सकता है? **(न करोतु)** नहीं कर सकता।

भावार्थ—हे जिन! जो आपमें प्रीति अथवा श्रद्धा से रहित है उसके लिए आपका दर्शन अथवा शासन हितकारी नहीं होता। उसका दर्शन व्यर्थ है अदर्शन के समान है। यह उचित ही है क्योंकि नेत्रेन्द्रिय से हीन मनुष्य के लिए क्या दर्पण देखने की शक्ति से उत्पन्न होने वाले हर्ष को प्रदान कर सकता है ? अर्थात् नहीं।

सुधियि वागमृतं कलुषायते, कुधियि वान्तविमोहविषाय ते।
सलिलदात् स्त्रवदम्बु नदेऽमृतं, विषधरे ह्यकदे विषकं मृतम् ॥७८॥

अन्वयार्थ—**(वान्त विमोह विष!)** वमन किया है मोहरूपी विष को जिसने ऐसे वीतराग प्रभो! **[हे अय!]** हे पूत-पवित्र! **(ते)** आपके **(वाक्)** वचन **(सुधियि)** सुबुद्धि जनों में **(अमृतं)** अमृत रूप होते हैं **(कुधियि)** कुबुद्धि जनों में **(कलुषायते)** कलुष रूपता को धारण करते हैं **[सत्यमेवैतत्]** यह सत्य ही है कि **(सलिलदात्)** मेघों से **(स्त्रवत्)** झरता-गिरता हुआ **(अम्बु)** जल **(नदे)** नदी में **(अमृतं)** अमृत होता है और **(अकदे)** दु:खद **(विषधरे)** सर्प में **(हि)** निश्चय से **(मृतं)** मृत्यु कारक **(विषकं)** विषरूप हो जाता है।

भावार्थ—हे वान्तमोहविष! हे मोहरूपी विष को उगल चुकने वाले जिनेन्द्र! आपका वचन सुधी जन में अमृत है तो कुधीजन में कलुषता उत्पन्न करता है। ठीक ही है क्योंकि मेघ से झरता-बरसता हुआ पानी नदी में अमृत-जलरूप रहता और दु:खदायक सर्प में मृत्यु करने वाला विष हो जाता है।

स्वामी तुम्हें न जिसने रुचि से निहारा, देता उसे न 'दृग' दर्शन है तुम्हारा।
जो अन्ध है, विमल दर्पण क्या करेगा, क्या नेत्र देकर कृतार्थ उसे करेगा?॥ ७७॥
वाणी सुधा सदृश सज्जन संगती से, तेरी, बने कलुष दुर्जन संगती से।
औचित्य मेघ जल है गिरता नदी में, तो स्वाद्य पेय बनता, विष हो अही में॥ ७८॥

ननु मुनेश्च यथा धृतवृत्ततः, स्त्रवति शान्तरसः प्रतिवृत्ततः।
अविरलं त्वदुपासकतोऽमनो, नहि तथा शशिनो मुखतो मनो!॥ ७९॥

अन्वयार्थ– **(अमनः!)** हे मनोरहित! **(हे मनो!)** हे मनुस्वरूप! **(ननु)** निश्चित रूप से **(धृतवृत्ततः)** अंगीकृत चारित्र से **(त्वत्)** आपके **(उपासकतः)** उपासकों से **(मुनेः च)** और मुझ स्तुति करने वाले मुनि से **(यथा)** जैसा **(प्रतिवृत्ततः)** प्रत्येक काव्य से **(अविरलं)** निरंतर **(शान्तरसः)** शान्तरस **(स्त्रवति)** झरता है **(तथा)** वैसा **(शशिनः)** चन्द्रमा के **(मुखतः)** बिम्ब से **(न हि)** नहीं झरता है।

भावार्थ–हे भावमन से रहित! जिनदेव! सम्यक्चारित्र को धारण करने वाले आपके उपासक मुझ मुनि से तथा इस काव्य के प्रत्येक छन्द से जैसा शान्त रस झर रहा है वैसा चन्द्रमा के बिम्ब से नहीं झरता।

त्वयि रतो हि शठो भववैभव-, समुपलब्धय ईश्वर वै भव।
कृषिमतः कुरुते विधिहाऽवनौ, सकनकेन हलेन स हा! वनौ ॥८०॥

अन्वयार्थ–[अवन!] हे रक्षक! **(विधिहा)** हे कर्म का नाश करने वाले भगवन्! **(भव!)** हे प्रशस्त! **(ईश्वर!)** हे नाथ! [इह] **(अवनौ)** यहाँ पृथ्वी पर जो **(भव-वैभवसमुपलब्धये)** संसार के वैभव प्राप्ति के लिए **(त्वयि)** आप जिनेन्द्र भगवान् में **(रतः)** लीन है **(सः)** वह मनुष्य **(वै)** निश्चय से **(हि)** ही **(शठः)** अज्ञानी है। **(अतः)** **(हा!)** खेद है कि **[सः]** वह मनुष्य **(सकनकेन)** स्वर्ण के **(हलेन)** हल द्वारा **(वनौ)** क्षेत्र-खेत में **(कृषिं)** कृषि को **(कुरुते)** करता है।

भावार्थ–ओ हे अवन! हे रक्षक! हे विधिहा! हे कर्मों को नष्ट करने वाले! हे भव ईश्वर! प्रशस्त भगवन्! इस पृथ्वी में जो सांसारिक वैभव प्राप्त करने के लिए आप में लीन है-आपकी भक्ति करता है निश्चय से वह शठ है-अज्ञानी है अतः खेद है कि वह स्वर्ण के हल से खेती करता है! लोह के बदले स्वर्ण की अनी (अग्रभाग) से युक्त हल के द्वारा खेत को जोतता है। जब जिनेन्द्र भक्ति स्वयं ही भक्त को संसार सुख प्रदान करती हुई मोक्षसुख को भी देने में समर्थ है तब उससे संसार सुख की कामना करना अज्ञानता ही है।

जैसा सुशान्त रस वो मम आत्म से है, धारा प्रवाह झरता इस काव्य से है।
वैसा कहाँ झर रहा शशि बिंब से है, पूजें तुम्हें तदपि दूर सुवृत्त से है ॥७९॥
संसार के विविध वैभव भोग पाने, पूजें तुम्हें बस कुधी जड़, ना सयाने।
ले स्वर्ण का हल, कृषि करता कराता, वो मूर्ख ही कृषक है जग में कहाता ॥८०॥

अलमजे यमतोऽनियमो हतः, सविकलोऽशनतोपि विमोहतः।
वसनतोपि जितेन्द्रियवामतः, परनतो विरतोऽपि भवामतः ॥८१॥

अन्वयार्थ– (ई अज!) हे जन्मातीत जिन! **(जितेन्द्रियवामतः)** जित-जीत लिया है इन्द्रिय और वाम-काम को जिन्होंने अर्थात् काम और इन्द्रियों को जीत लेने से आपको **(वसनतः)** वस्त्रों से **(अलं)** अर्थ नहीं है **(भवामतः)** भव-संसार, आम-रोग से, **(विरतः)** दूर हो गये हो तब **(परनतः अपि)** पर-दूसरे, पूजकों से भी (अलं) प्रयोजन नहीं है **(अनियमः)** असंयम **(हतः)** नष्ट हो गया तब **(यमतः)** संयम से **[अलं]** क्या? **(विमोहतः)** मोह से रहित होने से अथवा विशिष्ट मोह से **(सविकलः)** रहित हो तब **(अशनतः)** भोजन से **(अपि)** भी **[अलं]** प्रयोजन नहीं है।

भावार्थ—ई अज! हे जन्मातीत! यदि अनियम-स्वैराचार छूट गया है तो संयम से क्या ? यदि शरीर से मोह छूट गया है तो अशन से क्या? यदि कामेन्द्रिय को जीत लिया है तो वस्त्र से क्या? यदि संसाररूपी रोग से विरत हो गये हैं तो श्रेष्ठ जिनेन्द्र अथवा अन्य पूज्य से क्या ? अर्थात् सब अनावश्यक है।

खविषयं विरसं न हि मे मनो, विचरदिच्छति शैवगमे मनो!।
परिविहाय घृतं स सुधीः कदा, जगति तक्रमिदं समधीः कदाः॥८२॥

अन्वयार्थ– (कदाः!) हे क-सुख को, दाः-देने वाले प्रभो! **(मनो!)** ज्ञान संपन्न भगवन्! **(शैवगमे)** शिव-मोक्ष के, गम-मार्ग पर **(विचरत्)** विहार करते हुए **(मे मनः)** मेरा चित्त **(विरसं)** नीरस-रस रहित **(खविषयं)** इन्द्रिय विषयों को **(न हि इच्छति)** नहीं चाहता है। उचित ही है **(जगति)** जगत् में **(सः)** वह प्रसिद्ध **(सुधीः)** विद्वान् **(समधीः)** समान बुद्धि वाला **(कदा)** कब **(घृतं)** घृत को **(परिविहाय)** छोड़कर **(इदं तक्रं)** इस छाछ की **[इच्छति]** इच्छा करता है? नहीं करता।

भावार्थ—हे सुखदायक स्वामी! मोक्षमार्ग में विचरण करने वाला मेरा मन नीरस इन्द्रिय विषय की इच्छा नहीं करता। उचित ही है कि जगत् में वह कौन समबुद्धि विद्वान् हैं जो घृत को छोड़कर छांछ की इच्छा करता है?

है मोह नष्ट तुममें फिर अन्न से क्या? त्यागा असंयम, सुसंयम भार से क्या?
मारा कुमार तुमने फिर वस्त्र से क्या? हैं पूज्य ही बन गये, पर पूज्य से क्या?॥ ८१॥
मेरा जभी मन बना शिवपंथगामी, संसार भोग उसको रुचते न स्वामी।
धीमान कौन वह है घृत छोड़ देगा, क्या! मान के परम नीरस छाछ लेगा ॥८२॥

मम मतिः क्षणिका ह्यपि चिन्मयी, तदुदिता न चितो यदतन्मयी।
ननु न वीचिततिः सरसा विना, भवतु वा न सरश्च तया विनाः ॥८३॥

अन्वयार्थ—(विनाः!) हे विशिष्ट नेतः! **(मम)** मेरी **(क्षणिका)** क्षायोपशमिक ज्ञान वाली **(अपि)** भी **(मतिः)** बुद्धि **(चिन्मयी)** चैतन्यमयी है क्योंकि **(तदुदिता)** वह चेतना से उत्पन्न है परन्तु **[चेतः]** चेतना से **(न)** यदि नहीं उन्पन्न हुई तो **(अतन्मयी)** तन्मयी नहीं है। उदाहरण–**(ननु)** निश्चय से **(वीचिततिः)** तरंग समूह **(सरसा विना)** सरोवर के बिना **(न)** नहीं होता किन्तु **(सरः)** सरोवर **(तया विना)** लहरों के बिना **(न)** वा **(भवतु)** हो सकता है?

भावार्थ—हे विनाः! हे विशिष्ट नेता! मेरी क्षणिक बुद्धि भी–क्षायोपशमिक प्रतिभा भी चैतन्यमयी है, क्योंकि वह उसी चैतन्य से उत्पन्न हुई है परन्तु जो चैतन्य है वह क्षायोपशमिक बुद्धि रूप नहीं भी है। जैसे लहरों की संतति तालाब के बिना नहीं होती पर तालाब लहरों के बिना भी हो सकता है। तात्पर्य यह है कि क्षायोपशमिक बुद्धि तो चैतन्यमयी है परन्तु चैतन्य क्षायोपशमिक बुद्धि रूप होवे भी और नहीं भी होवे।

स्तवनतोऽस्तु मितं विधिबंधनं, बहु लयेदित तेऽत्र शिवं धनम्।
द्विगुणितं वसु सद्व्यवसायतः, किमपि नश्यति तत् सहसा यतः ॥८४॥

अन्वयार्थ—(शिवं धनं इत!) हे कल्याण धनप्राप्त! **(अत्र)** इस जगत् में **(ते)** आपके **(स्तवनतः)** स्तवन से **(मितं)** सीमित **(विधिबन्धनं)** कर्म बन्धन होता है, किन्तु कर्म की **(बहु लयेत्)** बहुत निर्जरा होती है। उदाहरण–**(सद्व्यवसायतः)** अच्छे व्यापार से **(वसु)** धन **(द्विगुणितं)** दुगुणा हो किन्तु **(तत्)** वह धन **(किमपि)** कुछ तो **(सहसा)** शीघ्र **(यतः)** जिस किसी कारण से **(नश्यति)** नष्ट होता है।

भावार्थ—हे कल्याणरूप धन को प्राप्त भगवन्! इस जगत् में यद्यपि आपके स्तवन से अल्प कर्मबन्ध होता है तथापि निर्जरा अधिक होती है जैसे कि अच्छे व्यवसाय से धन दूना होता है पर शीघ्र कुछ धन नष्ट भी होता है।

मेरी भली विकृति पै मति चेतना है, चैतन्य से उदित है जिन-देशना है।
कल्लोल के बिन सरोवर तो मिलेगा, कल्लोल वो बिन सरोवर क्या मिलेगा?॥८३॥
लो! आपके स्तवन से बहु निर्जरा हो, स्वामी! तथापि विधिबंधन भी जरा हो।
अच्छी दुकान चलती धन खूब देती, तो भी किराय कम से कम क्या न लेती?॥८४॥

सकलवस्तुगमा तव नासिका, परममानमयी भ्रमनाशिका।
भगवतात्र ततो हि समाहिता, दृगमलाप्यचला च समाहिता ॥८५॥

अन्वयार्थ—हे जिन! **(तव)** आपकी **(सकलवस्तुगमा)** सकल वस्तु को जानने वाली **(परममानमयी)** परम प्रमाण वाली **(भ्रमनाशिका)** भ्रम को नाश करने वाली **(नासिका)** नासा है **(ततः)** इसलिए **(अत्र)** इस नासा पर **(भगवता)** आपने **(अमला)** निर्मल **(अचला)** स्थिर **(समा)** मध्यस्थभाव सहित **(हिता च)** और हितरूप **(दृक्)** दृष्टि **(हि)** निश्चय से **(समाहिता)** स्थापित की है, लगायी है।

भावार्थ—हे भगवन्! यतश्च आपकी नासा समस्त पदार्थों को जानने वाली, अधिक परिमाण वाली और भ्रम का नाश करने वाली है। इसीलिए आपने निर्मल, निश्चल, माध्यस्थभाव से सहित तथा हितरूप अपनी दृष्टि इस नासा पर लगा रखी है।

असि गुरुः प्रगुणैश्च समानतः, परमराम इहारममाणतः।
अतिसुखी निजबोधपरागतः, सुपुरुषः प्रकृतावपरागतः॥८६॥

अन्वयार्थ— हे देव! आप **(प्रगुणैः समा)** प्र–प्रकृष्ट श्रेष्ठ गुणों से सहित होकर भी **(आनतः)** नम्र हैं, इसलिए **(गुरुः असि)** गुरु हो। अथवा **(प्रगुणैः)** श्रेष्ठ गुणों से व श्रेष्ठ गुणवानों के द्वारा **(समानतः)** सम्यक् प्रकार से नमस्कृत हैं अतः **(गुरुः असि)** महान् हो। **(इह)** निजात्मा में **(आरममाणतः)** आसमन्तात्–सब ओर से, रममाणतः–रममान होने के कारण **(परमरामः असि)** परम राम हो **(निजबोधपरागतः)** आत्मज्ञानरूपी मकरंद से **(अतिसुखी)** अतिशयरूप से सुखी हो। **(प्रकृतौ)** प्रकृति में **(अपरागतः)** राग रहित होने से **(सुपुरुषः)** श्रेष्ठ पुरुष हो अर्थात् सांख्य दर्शन के अनुसार मानी गयी प्रकृति में प्रीति नहीं होने के कारण आप श्रेष्ठ पुरुष हो।

भावार्थ—हे देव! आप श्रेष्ठ गुणों अथवा श्रेष्ठ गुणवानों से अच्छी तरह नमस्कृत हैं, अतः गुरु है। इस आत्मस्वभाव में सब ओर से रमण करते हैं अतः राम हैं। आत्मज्ञानरूपी पराग से अत्यन्त सुखी हैं और प्रकृति में राग रहित होने से उत्तम पुरुष हैं।

वो आपकी सकल वस्तुप्रकाशिनी है, नासा प्रमाणमय, विभ्रम-नाशिनी है।
नासाग्र पे इसलिए तुम साम्यदृष्टि, आसीन है सतत शाश्वत शान्ति सृष्टि ॥८५॥
हैं आप नम्र गुरु चूँकि भरे गुणों से, हैं पूज्य राम निज में रमते युगों से।
पी, पी, पराग निजबोधन की सुखी हैं, नीराग हैं, पुरुष हैं, प्रकृतीं तजीं हैं ॥८६॥

परमवीरक आत्मजयीह त, इति शिवो हृदि लोकजयी हतः।
अणुरसीति ममोरसि तानितः, समयकान् स्वविदा भवतानितः॥८७॥

अन्वयार्थ—हे वीर! **(इह)** जगत् में आप **(आत्मजयी)** आत्मा पर विजय करने वाले होने से **(परमवीरकः)** परमवीर हो **(ते)** आपके **(हृदि)** हृदय में **(लोकजयी)** तीन लोक के संसारी जीवों पर प्रभाव डालने के कारण 'काम' लोकजयी कहलाया, वह भी आपने **(हतः)** नष्ट किया है **(इति)** इस कारण आप **(शिवः)** शंकर हो **(मम)** मेरे **(उरसि)** हृदय में **(असि)** हो **(इति)** इस कारण **(अणुः)** अणुरूप हो। **(तान्)** उन सभी **(समयकान्)** पदार्थों-पर्यायों को **(स्वविदा)** अपने ज्ञान से **(इतः)** जाना है **(इति)** इस तरह **(भवतानितः)** भव-संसार में, तानिता-विस्तृत हो-विश्वव्यापी हो।

भावार्थ—हे वीर ! आप आत्मजयी हैं अतः परमवीर हैं। आपके हृदय में लोकविजयी काम नष्ट हुआ अतः आप शिव शंकर अथवा कल्याणरूप हैं, आप मेरे हृदय में आसीन हैं, अतः अणुरूप हैं और अपने ज्ञान से समस्त पदार्थों को प्राप्त हैं अतः विश्वव्यापी हैं।

न हि सुखे किल दुःखसमागमे, त्वयि मनो रमते मतमागमे।
निशि वरं शशिनो मुखवृत्तकं, भुवि चकोरवये ऽस्त्वित वृत्तकम् ॥८८॥

अन्वयार्थ— **(वृत्तकं इत!)** हे चारित्रप्राप्त! **(किल)** वास्तव में **(सुखे न हि)** सुख प्राप्ति में नहीं **(दुःखसमागमे)** दुःख के आने पर **(त्वयि)** आपमें **(मनो रमते)** मन रमता है **(इति)** ऐसा **(आगमे मतं)** शास्त्रों में माना है। **(भुवि)** पृथ्वी पर **(चकोरवये)** चकोर पक्षी के लिए **(शशिनः)** चन्द्रमा का **(मुखवृत्तकं)** मुखमंडल **(निशि)** रात्रि में ही **(वरं)** श्रेष्ठ लगता **(अस्तु)** हो।

भावार्थ—हे वृत्तकमित! हे चारित्र को प्राप्त भगवन् ! सुख के समय नहीं किन्तु दुःख का समागम होने पर आप में मेरा मन रमता है, ऐसा शास्त्र में माना गया है। यह उचित ही है क्योंकि चकोर पक्षी के लिए चन्द्रमा का मण्डल रात में ही अच्छा लगता है, रुचता है, दिन में नहीं।

हो धीर वीर तुम चूँकि निजात्म जेता, मारा कुमार तुमने शिव साधु नेता।
सर्वज्ञ हो इसलिए तुम सर्वव्यापी, बैठे मदीय मन में अणु हो तथापि॥८७॥
साता नहीं उदय में जब हो असाता, मैं आपके भजन में बस डूब जाता।
है चन्द्र को निरखता सघनी निशा में, जैसा चकोर रुचि से न कभी दिवा में॥८८॥

अभयदानविधावसि सद्विधि, र्जगति दर्शितसत्पथसद्विधिः।
भगवता विजितः स्वबलैर्विधि, रिति भवन्तमये मम वै विधिः॥८९॥

अन्वयार्थ—(जगति) लोक में **(दर्शितसत्पथसद्विधिः)** दर्शित-दिखलायी है, सत्पथ-सन्मार्ग की, सद्विधि-सम्यक् विधि जिसने ऐसे **(अभयदानविधौ)** अभयदान की उत्तम विधि के विधान में आप **(सद्विधिः असि)** सद्विधि हो। **(भगवता)** आप भगवान ने **(स्वबलैः)** आत्मबल के द्वारा **(विधिः)** कर्म को **(विजितः)** जीता है **(इति)** इस कारण मैं **(भवन्तं)** आपको **(अये)** प्राप्त करता हूँ **(इति)** यही **(मम)** मुझ स्तुति करने वाले की **(वै)** निश्चय से **(विधिः)** विधि है।

भावार्थ—हे भगवन्! जगत् में आपने सन्मार्ग का समीचीन उपाय दिखाया है, अतः आप अभयदान के करने में उत्तम विधि से युक्त हैं-अतिशय निपुण हैं। आपने स्वकीय आत्मबलों से कर्मकलाप को जीता है इसलिए मैं आपकी शरण में आया हूँ, यही मेरी निश्चय से विधि है।

तव ललाटतले ललिते ह्यये!, स्थितकचावलिमित्थमहं ह्यये।
सरसि चोल्लसिते कमलेऽमले, सविनयं स्थितिरिष्ट सतामलेः॥९०॥

अन्वयार्थ— (अये सताम् इष्ट!) हे साधुजनों को प्रिय! **(तव)** आपके **(ललिते)** सुन्दर **(ललाटतले)** ललाट तल पर **(स्थितकचावलिं)** स्थित केश समूह को **(अमले)** स्वच्छ **(सरसि च)** सरोवर में **(उल्लसिते)** प्रफुल्ल **(कमले)** सरोज पर **(सविनयं)** विनय सहित **(हि)** निश्चय से **(अलेः)** भ्रमरों की **(स्थितिः)** स्थिति है **(इत्थं)** ऐसा **(अहं)** मैं **(हि अये)** निश्चित जानता हूँ।

भावार्थ—हे साधुजन प्रिय! आपके सुन्दर ललाटतल पर स्थित केशावली, स्वच्छ तालाब में प्रफुल्ल कमल पर सविनय स्थित भ्रमरावलि है, ऐसा समझता हूँ।

धाता तुम्हीं अभय दे जग को जिलाते, नेता तुम्हीं सहज सत्पथ भी दिखाते।
मृत्युंजयी बन गये भगवान् कहाते, सौभाग्य है, कि मम मन्दिर में सुहाते॥८९॥
ऐसी मुझे दिख रही तुम भाल पे है, जो बाल की लटकती लट गाल पे है।
तालाब में कमल पे अलि भा रहा हो, संगीत ही गुनगुना कर गा रहा हो॥९०॥

शिरसि भाति तथा ह्यमले तरां, कचततिः कुटिला धवलेतरा।
मलयचन्दनशाखिनि विश्रुते, विषधराश्च यथा जिन! विश्रुते ॥९१॥

अन्वयार्थ–(विश्रुते!) हे विशिष्ट श्रुते!, वि–विशिष्ट, श्रुति–आगमज्ञान है जिनके ऐसे **(जिनः)** हे भगवन्! **(तव)** आपके **(अमले)** स्वच्छ **(शिरसि)** सिर पर **(धवलेतरा)** श्वेत से भिन्न कृष्णवर्णी श्यामल **(कु टिला)** घुँघराली **(कचततिः)** केशों की पंक्ति **(तरां)** अतिशय रूप से **(तथा)** उस प्रकार **(भाति)** सुशोभित होती है **(यथा च)** जिस प्रकार **(विश्रुते)** प्रसिद्ध **(मलयचन्दनशाखिनि)** मलयाचल के चंदनतरु की शाखाओं पर **(विषधराः)** सर्प शोभित होते हैं।

भावार्थ–हे विश्रुते! विशिष्ट श्रुति के धारक! आपके निर्मल शिर पर कालेकाले घुँघराले बाल उस प्रकार अत्यन्त सुशोभित हो रहे हैं, जिस प्रकार कि मलयचन्दन के वृक्ष पर काले–काले सर्प सुशोभित होते हैं।

ननु नरेशसुखं सुरसम्पदं, ह्यभिलषामि न भुव्यपि सत्पदम्।
जडतनोर्वहनं द्रुतमेत्विति, मज मतिः खरवत् किल मे त्विति ॥९२॥

अन्वयार्थ– (अज!) हे जन्मातीत जिनवर! **(ननु)** निश्चय से मैं **(नरेशसुखं)** चक्रवर्तियों के सुख को **(सुरसम्पदं)** देवेन्द्रों के ऐश्वर्य को और **(भुवि)** पृथ्वी पर **(अपि)** भी **(सत्पदं)** चक्रवर्ती बलदेव आदि के श्रेष्ठ पद को **(न हि अभिलषामि)** नहीं चाहता हूँ किन्तु **(खरवत्)** गर्दभ–गधा के समान **(जडतनोः)** जड़ शरीर का **(वहनं)** ढोना **(द्रुतं)** शीघ्र **(इतिं)** समाप्ति को **(एतु)** प्राप्त हो **(किल इति तु)** निश्चय से यही तो **(मे मतिः)** मेरी भावना है।

भावार्थ–हे अज! मैं राजसुख, देवविभूति और पृथ्वी पर समीचीन पद नहीं चाहता हूँ किन्तु गर्दभ के समान जड़ शरीर का ढोना शीघ्र ही समाप्ति को प्राप्त हो, यही मेरी चाह है।

काले घने कुटिल चिक्कण केश प्यारे, ऐसे मुझे दिख रहे शिर के तुम्हारे।
जैसे कहीं मलयचन्दन वृक्ष से ही, हो कृष्ण नाग लिपटे अयि दिव्य देही!॥९१॥
चाहूँ न राज सुख मैं सुरसम्पदा भी, चाहूँ न मान यश देह नहीं कदापि।
हे ईश गर्दभ समा तन भार ढोना, कैसे मिटे, कब मिटे, मुझको कहो ना !॥९२॥

तव लवाश्च तरन्ति सुभावि मे, परममानमदोऽत्र विभाविमे।
भगवतोस्त्यियति यद् ह्यमितं श्रुतं, सह दृशा मुनिना पठितं श्रुतम् ॥९३॥

अन्वयार्थ–हे भगवन्! **(अदः)** वह प्रसिद्ध **(सुभावि)** भविष्य का **(अति)** उत्कृष्ट **(परममानं)** केवलज्ञान है किन्तु आज **(अत्र)** इस **(मे)** मेरे **(विभौ)** उत्कृष्ट ज्ञान में **(तव)** आपकी **(इमे)** ये सभी **(लवाः)** पर्यायें **(तरन्ति)** तैर रहीं हैं, प्रतिफलित हो रहीं हैं। **[इति]** ऐसा **(भगवतः)** भगवान् आपका **(अमितं)** अपार **(श्रुतं)** श्रुतज्ञान **(अस्ति)** है **(यत्)** जो **(मुनिना)** मुझ मुनि के द्वारा **(दृशा सह)** सम्यग्दर्शन के साथ **(हि)** यथार्थ में **(पठितं)** पढ़ा गया और **(श्रुतं)** सुना गया है।

भावार्थ–हे भगवन्! यह भावी उत्कृष्ट ज्ञान है और इस व्यापक ज्ञान में आपकी ये समस्त दशाएँ तैर रही हैं-प्रतिबिम्बित हो रही हैं, ऐसा भगवान् आपका अपरिमित श्रुत है जो मुझ मुनि ने श्रद्धा के साथ निश्चय से पढ़ा है और सुना है।

मयि रतोऽहमतो भवतो रुचि, गतबलस्तु विधिर्भवतोऽरुचिः।
विषधरो विषदन्तविहीनकः, सहचरोऽपि भवन् किमु हीन क ॥९४॥

अन्वयार्थ– (इन!) हे नाथ! **(क!)** हे परमात्मन्! **(भवतः)** आपकी **(रुचि)** श्रद्धा में अथवा केवलज्ञान स्वरूप ज्योति में **(अहं)** मैं **(रतः)** लीन हूँ **(अतः तु)** इसलिए तो **(भवतः)** संसार से **(अरुचिः)** अप्रीति-भीति **(मयि)** मेरी आत्मा में है तब **(गतबलः)** बलहीन **(विधिः)** कर्म **(विषदन्तविहीनकः)** विष सम्बन्धी दांत से रहित **(विषधरः)** सर्प के समान **(सहचरः)** सहगामी **(भवन्)** रहे **(अपि)** भी तो **(हि)** निश्चय से **(किमु)** क्या करेगा? कुछ भी नहीं।

भावार्थ–हे स्वामिन्! हे ब्रह्मन्! आपकी रुचि-श्रद्धा या ज्योति में मैं रत हूँ-लीन हूँ, अतः संसार से अरुचि मुझमें हो। सम्प्रति क्षीणशक्ति वाले कर्म मुझमें हैं तो रहें, उनसे हानि नहीं। जैसे विषदन्त से रहित सर्प साथ में रहे तो क्या करेगा।

मेरी सुसुप्त उस केवल की दशा में, ये आपकी सहज तैर रहीं दशायें।
यों आपका कह रहा श्रुत सत्य प्यारा, मैंने उसे सुन गुना रुचि संग धारा॥९३॥
संसार से विरत हूँ तुम ज्योति में हूँ, निस्तेज कर्म मुझमें जब होश में हूँ।
बैठा रहे निकट नाग कराल काला, टूटा हुआ, कि जिसका विषदन्त भाला॥९४॥

किल विदा कमयन्ति विरागिणस्तदितरद् कुविदा भुवि रागिणः।
शुचिमिते जिन ते भव सन्मते!, समुदितं विशदं त्विति सन्मते ॥९५॥

अन्वयार्थ–(सन्मते!) हे महावीर! अथवा सद्बुद्धि शोभित सर्वज्ञ! **(भव जिन!)** हे कल्याण स्वरूप जिन! **(भुवि)** इस वसुधा पर **(विरागिण:)** राग रहित वीतरागी मनुष्य **(किल विदा)** वास्तव में आत्मज्ञान से **(कं)** सुख को **(अयन्ति)** प्राप्त करते हैं तथा **(रागिण:)** रागीजन **(तु)** तो **(कुविदा)** मिथ्याज्ञान से **(तत् इतरत्)** सुख से भिन्न दु:ख को प्राप्त करते हैं **(इति)** इस प्रकार **(ते)** आपके **(शुचिं)** शुचिता को **(इते)** प्राप्त **(सन्मते)** समीचीन मत में **(विशदं)** स्पष्ट रूप से **(समुदितं)** कहा है।

भावार्थ–हे सद्बुद्धि से विशोभित! हे प्रशस्तजिन! पृथ्वी पर विरागी मनुष्य सम्यग्ज्ञान से सुख को प्राप्त होते हैं और रागी मनुष्य कुज्ञान से दु:ख को प्राप्त होते हैं। इस तरह शुचिता को प्राप्त करके समीचीन मत में स्पष्ट रूप से कहा गया है।

मम सुवित् तनुरद्य मिताञ्जसा, तव नुतेर्लघुना ह्यमिताज सा।
इति समुद्गम एव भृशं गमे, सरिदिवात्र सरित्पतिसंगमे ॥९६॥

अन्वयार्थ– (अज!) हे जन्मातीत जिन! **(अत्र)** जगत् में-संसार में **(समुद्गमे)** उत्पत्ति के समय में **(एव)** ही **(सरित्)** नदी **(तनु:)** अल्प होती है किन्तु **(गमे)** मार्ग में **(भृशं)** अत्यधिक बड़ी हो जाती है तथा **(सरित्पतिसंगमे)** नदीपति–सागर में मिलने पर **(अमिता स्यात्)** विशाल हो जाती है ऐसे ही **(सरित् इव)** नदी के समान **(मम)** मेरी **(सुवित्)** बुद्धि **(अद्य एव)** आज ही **(मिता)** सीमित और **(तनु:)** अल्प है किन्तु **(तव)** आपकी **(नुते:)** स्तुति से **(लघुना)** अल्प समय में ही **(अञ्जसा)** यथार्थ में **(सा)** वही अल्प बुद्धि **(हि)** नि:सन्देह **(अमिता स्यात्)** विशाल हो जायेगी।

भावार्थ–हे अज! यद्यपि आज मेरा सम्यग्ज्ञान वास्तव में अल्प और सीमित है तथापि आपके स्तवन से वह शीघ्र ही निश्चयत: अपरिमित हो सकता है। जैसे कि नदी उद्गम स्थान में ही पतली होती है। परन्तु मार्ग में और समुद्र का समागम होने के समय अत्यन्त अपरिमित–सुविस्तृत हो जाती है।

विज्ञान से अति सुखी बुध वीतरागी, अज्ञान से नित दुखी मद-मत्त, रागी।
ऐसा सदा कह रहा मत आपका है, धर्मात्म का सहचरी, रिपु पाप का है ॥९५॥
हो आज सीमित भले मम ज्ञान धारा, होगी असीम तुम आश्रय पा अपारा।
प्रारम्भ में सरित हो पतली भले ही, पै अन्त में अमित सागर में ढले ही ॥९६॥

विरत ईश! भवामि न हंसतः, पदयुगादिह तावदहं सतः।
विदमला मम नृत्यति सम्मुखं, सदय! यावदिता विहसन्मुखम्॥ ९७॥

अन्वयार्थ– (सदय!) हे सकृप! **(ईश!)** हे स्वामिन्! **(इह)** इस जगत् में मैं **(हंसतः)** हंस सदृश विवेकमय **(सतः)** आप साधु के **(पदयुगात्)** चरणयुगल से **(तावत्)** तब तक **(विरतः)** विरक्त **(न भवामि)** नहीं होता हूँ **(यावत्)** जब तक **(मम)** मेरे **(सम्मुखं)** सामने **(विहसन्मुखं)** प्रसन्न मुख को **(इता)** प्राप्त हुई **(अमला)** विमल **(विद्)** ज्ञानमयी चेतना **(नृत्यति)** नृत्य करती है।

भावार्थ–हे सदय! ईश! हे दयालो भगवन्! इस जगत् में मैं आपके विवेकरूप श्रेष्ठ चरण युगल से तब तक विरत-पराङ्गमुख नहीं होता हूँ जब तक मेरे सन्मुख प्रसन्नवदना निर्मलचेतना नृत्य करती है।

स्तवनतो रसना च शिरोनतेः, पथि पदौ गमनाच्च गुरो न! ते।
इति समीक्षणतो नयने न! मे, ह्यवयवा विमलाः सुमुने नमे! ॥९८॥

अन्वयार्थ– (सुमुने!) हे शोभन यते! **(न न!)** हे पूज्य जिनेन्द्र! **(नमे!)** हे नमि तीर्थंकर! **(ते)** आपके **(स्तवनतः)** स्तवन करने से **(मे)** मेरी **(रसना)** जिह्वा, **(पथि)** मार्ग में **(गमनात्)** गमन करने से **(मे पदौ)** दोनों चरण, **(तेः)** नमन करने से **(शिरः)** मस्तक, **(समीक्षणतः)** दर्शन करने से-देखने से **(मे नयने)** मेरे दोनों नयन, **(इति)** इस तरह मेरे सभी **(अवयवाः)** अंग **(हि)** ही वास्तव में **(विमलाः)** विमल, सफल, निर्मल, उज्ज्वल हुए हैं।

भावार्थ–हे सुमुने! हे पूज्य जिनराज! हे पूज्य गुरुदेव! हे नमिनाथ भगवन् ! आपके स्तवन से जिह्वा, नमस्कार से मस्तक, मार्ग में गमन करने से पैर और दर्शन से दोनों नेत्र, इस प्रकार मेरे सभी अंग निश्चय से निर्मल हो गये।

लो आपके सुखमयी पदपंकजों में, श्रद्धासमेत नत हूँ तब लौं विभो मैं।
विज्ञानरूप रमणी मम सामने आ, ना नाच गान करती जब लौं न नेहा॥९७॥
स्वामी तुम्हें निरख सादर नेत्र दोनों, आरूढ़ मोक्षपथ हों मम पैर दोनों।
ले ईश नाम रसना, शिर तो नती से, यों अंग अंग हरषे तुम संगती से॥९८॥

गुणवतामिति चासि मतोऽक्षरः, किल तथापि न चित्तवतोऽक्षरः।
न हि जिनाप्यसि तेन विना सितः, स्तुतिरियं च कृतात्र विनाशितः ॥९९॥

अन्वयार्थ– (जिन!) हे जिनः! आप **(गुणवतां)** गुणवानों के लिए **(अक्षरः)** अविनाशी **(मतोऽसि)** माने गये हो **(तथापि)** फिर भी **(किल)** वास्तव में **(चित्तवतः)** चित्तवान् के लिए **(अक्षरः)** शब्द रहित हो **(इति)** इस प्रकार किन्तु **(तेन विना)** उस शब्द अक्षर के बिना **(सितः अपि न असि)** ज्ञात भी नहीं हो। **(विनाशितः)** और नाश को प्राप्त हो **(अत्र)** यहाँ **(इयं च)** यह **[ते]** आपकी **(स्तुतिः)** स्तुति **(मया)** मेरे द्वारा **(कृता)** रची गयी है।

भावार्थ–हे जिन! यद्यपि आप अक्षर–अविनाशी हो, ऐसा गुणवानों का मत है, तब चित्तवान्–आत्मा के अक्षररूपता कैसे हो सकती है ? क्योंकि आप सचेतन हैं और अक्षर पौद्‌गलिक होने से जड़ रूप हैं। आप अक्षररूप नहीं हैं, यह ठीक है फिर भी अक्षर के बिना आप ज्ञात नहीं हैं। अर्थात् अक्षरों से ही आपका ज्ञान होता है। अतः इस जगत् में आपकी यह स्तुति मैंने शब्दों से की है।

वै विषमयीमविद्यां, विहाय ज्ञानसागरजां विद्याम्।
सुधामेम्यात्मविद्यां, नेच्छामि सुकृतजां भुवि द्याम् ॥१००॥

अन्वयार्थ– (अत्र) इस **(भुवि)** वसुन्धरा पर **(अहं)** मैं **(आत्मवित्)** आत्मज्ञानी **(सुकृतजां)** पुण्य रूप सत्कर्मों से उत्पन्न **(यां)** इस **(द्यां)** स्वर्ग को **(न इच्छामि)** नहीं चाहता **(वै)** निश्चय से **(विषमयीं)** विषमयी **(अविद्यां)** अज्ञान को **(विहाय)** त्यागकर **(ज्ञानसागरजां)** गुरु ज्ञानसागर से उत्पन्न **(सुधां)** अमृतरूप **(विद्यां)** विद्या को **(एमि)** प्राप्त करता हूँ। यहाँ श्लेषालंकार द्वारा ज्ञानसागर शब्द से–१. ज्ञान का सागर, २. दीक्षागुरु आचार्य ज्ञानसागरजी का उल्लेख किया है। तथा विद्या शब्द से स्तुति कर्त्ता आचार्य विद्यासागरजी का नाम ध्वनित होता है।

भावार्थ–हे भगवन्! इस पृथ्वी पर मैं निश्चय से पुण्योदय से प्राप्त होने वाले स्वर्ग को नहीं चाहता हूँ किन्तु विषरूप अविद्या को छोड़कर ज्ञानरूप सागर (पक्ष में ज्ञानसागर गुरु) में उत्पन्न आत्मविद्यारूपी सुधा को प्राप्त होता हूँ।

हो मृत्यु से रहित अक्षर हो कहाते, हो शुद्ध जीव जड़ अक्षर हो न तातैं।
तो भी तुम्हें न बिन अक्षर जान पाया, स्वामी अतः स्तवन अक्षर से रचाया॥९९॥
चाहूँ कभी न दिवि को अयि वीर स्वामी, पीऊँ सुधारस स्वकीय बनूँ न कामी।
पा ज्ञानसागर सुमंथन से सुविद्या, विद्यादिसागर बनूँ तज दूँ अविद्या॥१००॥

मंगलकामना

विभावतः सुदूराणां, सन्ततिर्जयतात् सताम्।
द्यामेत्य पुनरागत्य, स्वानुभूतेः शिवं व्रजेत् ॥१॥

अन्वयार्थ–(विभावतः) विभाव से **(सुदूराणां)** दूर रहने वाले **(सतां)** आचार्यों की **(संततिः)** परम्परा **(जयतात्)** जयवंत रहे। जो **(द्यां)** स्वर्ग को **(एत्य)** जाकर **(पुनः)** पश्चात् **(आगत्य)** आकर **(स्वानुभूतेः)** निजानुभूति से **(शिवं)** मोक्ष को **(व्रजेत्)** प्राप्त करेगी।

भावार्थ–विकारभाव से अत्यन्त दूर रहने वाले साधुओं की परम्परा अत्यधिक जयवंत रहे। वह स्वर्ग जाकर पश्चात् वहाँ से आकर स्वानुभूति से मोक्ष को प्राप्त करे।

साधुता सा पदं ह्येतु, भूपतौ च जने-जने।
गवि सर्वत्र शान्तिः स्यात्, मदीया भावना सदा ॥२॥

अन्वयार्थ– (सा) वह **(साधुता)** सज्जनता **(भूपतौ)** राजाओं में **(च)** और **(जने जने)** जन जन में **(पदं)** स्थान को **(एति)** प्राप्त करे तथा **(एवं हि)** इसी प्रकार **(गवि)** पृथ्वी पर **(सर्वत्र)** सब जगह **(सदा)** नित्य **(शान्तिः स्यात्)** शान्ति हो ऐसी **(मदीया)** मेरी **(भावना)** भावना है।

भावार्थ–वह प्रसिद्ध साधुता–सज्जनता राजा और प्रत्येक मनुष्य में स्थान को प्राप्त हो तथा पृथ्वी में सर्वत्र शान्ति रहे, सदा ऐसी भावना रहती है।

रेपवृत्तिं परित्यज्य, ना नवनीत मार्दवम्।
णलाभायं भजेद् भव्यो, भक्त्या साकं भृशं सदा ॥३॥

अन्वयार्थ– (भव्यः) भव्य **(ना)** पुरुष **(णलाभाय)** ण–ज्ञान, लाभाय–प्राप्ति के लिए **(रेपवृत्तिं)** हिंसादि पाप प्रवृत्ति को **(परित्यज्य)** छोड़कर **(भृशं)** अत्यधिक **(भक्त्या साकं)** भक्ति के साथ **(सदा)** हमेशा **(नवनीतमार्दवं)** नवनीत के समान मृदुता को **(भजेत्)** प्राप्त करे।

भावार्थ–भव्य मनुष्य, ज्ञानलाभ के लिए भक्ति के साथ सदा क्रूर व्यवहार को छोड़कर मक्खन के समान कोमलता को प्राप्त करे।

विद्याब्धिना सुशिष्येण, ज्ञानोदधेरलङ्कृतम्।
रसेनाध्यात्मपूर्णेन, शतकं शिवदं शुभम् ॥४॥

अन्वयार्थ– (ज्ञानोदधेः) आचार्य ज्ञानसागर के **(सुशिष्येण)** सुशिष्य **(विद्याब्धिना)** विद्यासागर मुनि द्वारा **(अध्यात्मपूर्णेन)** अध्यात्म से परिपूर्ण **(रसेन)** शान्तरस के द्वारा **(शुभं)** शुभ **(शिवदं)** कल्याणस्वरूप मोक्ष को देने वाली **(शतकं)** सौ पद्यों वाली निरंजन शतक की **(अलंकृतं)** रचना की गयी है।

भावार्थ–ज्ञानसागर गुरु के सुशिष्य विद्यासागर ने अध्यात्मपूर्ण रस से अलंकृत शुभ तथा

कल्याणप्रद शतक की रचना की है।

चित्ताकर्षि तथापि ज्ञैः, पठनीयं विशोध्य तैः।
तं मन्ये पण्डितं योऽत्र, गुणान्वेषी भवेद् भवे ॥५॥

अन्वयार्थ—यद्यपि यह शतक **(चित्ताकर्षि)** चित्त को आकर्षित करने वाली है **(तथापि)** फिर भी **(तैः)** उन **(ज्ञैः)** ज्ञानीजनों के द्वारा **(विशोध्य)** शोधन करके **(पठनीयं)** पढ़ने योग्य है (मैं **(तं)** उसे **(पण्डितं)** पंडित **(मन्ये)** मानता हूँ **(यः)** जो **(अत्र)** यहाँ **(भवे)** जगत् में **(गुणान्वेषी)** गुणों का अन्वेषण करने वाला **(भवेत्)** हो।

भावार्थ—यद्यपि यह शतक चित्तार्षक है तथापि विज्ञपाठकों द्वारा शुद्ध कर पढ़ने के योग्य है। इस संसार में मैं पण्डित उसे मानता हूँ जो गुणों का अन्वेषण करने वाला हो।

रचना काल एवं स्थान परिचय

श्रीधरकेण चान्तेन केवलिना शुचिं गते।
सिद्धक्षेत्रे सुरम्येऽत्र विख्याते कुण्डले गिरौ॥१॥
गुप्ति-ख-गति-संगेऽदो वीरे संवत्सरे शुभे।
श्रुतस्य पञ्चमीमीत्वेतीतामिति मितिं गतम्॥२॥

१ गुप्ति=३, ख=आकाश=०, गति-पंचम/सिद्धगति=५, संग=आभ्यन्तर एवं बाह्य परिग्रह=२, यानि ३०५२, अंकानां वामतो गतिः के अनुसार वीर निर्वाण संवत् २५०३ (विक्रम संवत् २०३२, शक संवत् १८६७) की ज्येष्ठ शुक्ल पंचमी (श्रुतपंचमी) तिथि सोमवार २३ मई, १९७७ ई० को दिगम्बर जैनाचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज के द्वारा श्री दिगम्बर जैन सिद्धक्षेत्र कुण्डलगिरि (कुण्डलपुर) दमोह (म० प्र०) में यह निरंजन शतक (संस्कृत) की रचना पूर्ण हुई।

❑ ❑ ❑

परीषहजयशतकम्

रचयिता

आचार्य विद्यासागर महाराज

परीषहजयशतकम्

संत शिरोमणि आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज कृत परीषहजय-शतकम् भी अध्यात्मपरक है तथा द्रुतविलम्बित छन्द में ९८ वृत्त, १ अनुष्टुप् में तथा १ आर्या छन्द में बद्ध १०० पद्य प्रमाण है। अन्त में मंगलकामना है जिसमें सात श्लोक हैं। कवि ने मंगलकामना के साथ १ श्लोक में क्षमायाचना तथा २ श्लोकों में ग्रन्थ समाप्ति के स्थान एवं समय का उल्लेख किया।

इस ग्रन्थ में साधुओं के जीवन में रत्नत्रय की आराधना में बाधक बाईस परीषहों, उनके विजय-साधनों एवं तज्जन्य आत्मिक उपलब्धियों का संक्षिप्त निरूपण है। परीषह से तात्पर्य है कि 'परि' उपसर्ग पूर्वक 'सह' धातु के योग से परिषह शब्द बना है। जिन्हें मनसा-वाचा-कर्मणा पूर्णरूप से सहा जाए, वे परीषह कहलाते हैं। आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र में लिखा है कि संवर के मार्ग से च्युत न होने के लिए कर्म-निर्जरा के निमित्त परीषहों को सहना चाहिए।

यह परीषहजय शतकम् भव्यजनों से सुसेवित, हरिण नदी के तट पर स्थित एवं संसार-सागर का तट दिखाने वाले श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र कुण्डलगिरि-कोनीजी, जबलपुर (म० प्र०) में वीर निर्वाण संवत् २५०८, (याम=प्रहर=८, व्योम=आकाश=०, अघ=पाप=५, गंध=२; 'अंकानां वामतो गतिः' के अनुसार वीर निर्वाण संवत् २५०८) विक्रम संवत् २०३८, मंगलवार, ९ मार्च, १९८२ ईस्वी की फाल्गुन पूर्णिमा को इसके पद्यानुवाद के साथ पूर्ण हुआ।

परीषहजय-शतकम्

शिवसुखं प्रमुखं सुसमागमः, स्मृतिरियं तव चास्तु समागमः।
कुमतये कुदृशा तु समागमः स्वपरतेरुपयातु स मा गमः ॥१॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! **(प्रमुखं)** श्रेष्ठ **(शिवसुखं)** मोक्षसुख **(सुसमागमः)** गुणीजनों की संगति **(तव)** आपका **(इयं स्मृतिः)** यह ध्यान, **(च)** और **(समागमः)** समीचीन आगम का ज्ञान **(अस्तु)** हो-इनकी सदा प्राप्ति हो। **(तु)** किन्तु **(कुमतये)** कुबुद्धि का हेतु **(कुदृशा)** मिथ्यादृष्टि के साथ **(समागमः)** समागम और **(स्वपरतेः)** [सु+अपरतिः=स्वपरतिः–सु–तीव्र, अपरतिः–राग रहित–द्वेष, तस्य स्वपरतेः–तीव्र द्वेष का **(सः)** वह प्रसिद्ध **(गमः)** मार्ग **(मा उपयातु)** न प्राप्त हो।

भावार्थ—हे भगवन्! श्रेष्ठ मोक्षसुख, सत्समागम, आपका ध्यान और समीचीन शास्त्र प्राप्त हों किन्तु कुबुद्धि के लिए मिथ्यादृष्टि के साथ समागम और तीव्र विद्वेष का प्रसिद्ध मार्ग प्राप्त न हो।

वियति को वियतिर्वियुतोऽयतः, गतियतिं ह्यगतो यतितोयतः।
शकलतो विकलं कलशंकरं, किल यजे सकलं ह्यनिशं करम् ॥२॥

अन्वयार्थ—जो **(वियति)** आकाश में **(कः)** सूर्य के समान प्रयत्नशील हैं **(वियतिः)** वि–विशिष्टरूप से यतिपति हैं **(अयतः हि)** कर्म के उदय से **(वियुतः)** रहित हैं **(गतियतिं)** जिनका गति–ज्ञान, यति–विराम को, **(अगतः)** प्राप्त नहीं हैं **(यतितोयतः)** यति–विषय निवृत्तिरूपी, तोयतः–जल से सहित हैं **(शकलतः)** खण्डज्ञान से **(विकलं)** रहित हैं **(सकलं)** वह सकल **(करं)** क–सुख को, रं–देते हैं ऐसे सुखदायक **(कलशंकरं)** क–सुख को, ल–लाने वाले सुखद, शं–सुख को कर–करने वाले ऐसे शान्तिकर जिनेन्द्र को **(हि)** ही **(अनिशं)** नित्य **(किल)** वास्तव में **(यजे)** पूजता हूँ।

भावार्थ—जो आकाश में सूर्य के समान गतिशील हैं, यतियों में श्रेष्ठ–यतिनायक हैं, जो कर्मोदय से रहित हैं अथवा शुभावह विधि से वियुत–विशेषरूप से सहित हैं, ज्ञान की विश्रान्ति से रहित हैं अर्थात् अनन्तज्ञान से संपन्न हैं, इन्द्रिय दमनरूप जल से सहित हैं और अखण्ड–समस्त विश्व को जानने वाले हैं उन परमौदारिक शरीर से सहित, कर–सुखदायक, शान्तिविधायक जिनेन्द्र की मैं पूजा करता हूँ।

हे जिनवर! तव चरण समागम, सुर-सुख शिव-सुख शान्त रहा,
तव गुणगण का सतत स्मरण ही, परमागम निर्भ्रान्त रहा।
विषय-रसिक हैं, कुधी रहे हैं, अनुपम-अधिगम नहीं मिले,
विरहित रति से रहूँ इसी से, बोध-कला उर सही खिले॥१॥
नभ में रवि-सम यतनशील हैं, यति-नायक सुखकारक हैं,
ज्ञान-भाव से भरित-झील हैं, श्रुतिकारक-दुखहारक हैं।
सकल विश्व को सकल ज्ञान से, जान रहे शिवशंकर हैं,
गति-मति-रति से रहित रहे हैं, हम सब उनके किंकर हैं॥२॥

शुचिचिते श्रमणोऽत्र समानतः, सुखशुभाशुभ-दुःख-समानतः।
सयमसंयमभावविभावतः, श्रयमयेऽन्वितिरस्तु विभावतः ॥३॥

अन्वयार्थ–(अत्र) जगत् में **(श्रमणः)** साधु **(शुचिचिते)** शुद्ध चैतन्यस्वभाव के लिए **(समानतः)** सम्–सम्यक् आ–मन, वचन, काय से नत–विनम्र हैं अर्थात् शुद्ध चेतना की प्राप्ति के लिए तत्पर हैं **(सुखशुभाशुभदुःखसमानतः)** सुख–दुख में, शुभ–अशुभ में सम–समताभाव से, आनतः–पूर्ण समर्पित हैं। **(सयमसंयमभावविभावतः)** यमरूप महाव्रत से सहित, संयमभाव–प्राणी, इन्द्रिय संयमभाव के विभावतः–प्रभाव से **(श्रयमये)** आश्रय देने वाले **(विभौ)** विभु–भगवान् में **(मे) (अतः)** अतः मेरी **(अन्वितिः)** अनुगति, श्रद्धा, भक्ति **(अस्तु)** हो।

भावार्थ–इस जगत् में साधु निर्मल चैतन्यस्वभाव के लिए नम्रीभूत है अर्थात् उसके लिए निरन्तर उद्यमशील है। सुख, दुःख, शुभ और अशुभ अवस्था में समानता से सहित है, अतः जीवनपर्यन्त के लिए धारण किए हुए संयमभाव के प्रभाव से आश्रय देने वाले उन विभु में मेरी अनुगति–भक्ति हो।

समवलम्ब्य सतीं शुचिशारदां, विषयमार्दववल्लितुषारदाम्।
यदिति पारिषहं शतकं वदे, बुधमुदेऽघभिदे शितसंविदे ॥४॥

अन्वयार्थ–(विषयमार्दववल्लितुषारदां) पंचेन्द्रिय के विषयरूप, मार्दव–मृदु, वल्ली–लताओं को, तुषारदां–हिम देने वाली, तुषार से जलाने वाली **(सतीं)** श्रेष्ठ **(शुचिशारदां)** शुचि=पवित्र, शारदा–जिनभारती का, **(समवलम्ब्य)** सम्यक् आश्रय लेकर **(इति)** कही जा रही **(यत् पारिषहं शतकं)** जो परीषहजय संबंधी शतक वह **(बुधमुदे)** विद्वज्जनों के हर्ष के लिए **(अघभिदे)** पाप के विनाश के लिए **(शितसंविदे)** और शित–उज्ज्वल संविदे–ज्ञान की प्राप्ति के लिए **(वदे)** कहता हूँ।

भावार्थ–विषयरूपी कोमल लताओं को तुषार देने वाली प्रशस्त जिनवाणी का आश्रय ले, मैं जिस परीषहशतक को कर रहा हूँ, वह विज्ञजनों के हर्ष के लिए, पापों के विनाश के लिए और उज्ज्वल ज्ञान के लिए होवे।

दुख में, सुख में तथा अशुभ-शुभ में नियमित रखते समता,
शुचितम चेतन को नमते हैं श्रमण, श्रमणता से ममता।
यम-संयम-दम-शम भावों का लेता सविनय शरण अतः,
विभाव-भावों दुर्भावों का क्षरण शीघ्र हो, मरण स्वतः॥३॥
मृदुल विषयमय लता जलाती शीतलतम हिमपात वही,
शान्त शारदा, शरण उसी की ले जीता दिन-रात सही।
'शतक परीषह-जय' कहता बस मुनिजन, बुधजन मन हरसे,
मूल सहित सब अघ संघर से ज्ञान-मेघ फिर झट बरसे॥४॥

समुदितेऽसति वै सति मे विधौ, क्षुदनुभूतिरियं प्रथमे विधौ।
विधिफलं ह्युदितं समयेऽयति, समतया सह यत् सहते यतिः॥५॥

अन्वयार्थ— **(वै)** निश्चय से **(मे)** मुझ यति के **(असति)** अशुभ **(विधौ)** कर्म के **(समुदिते सति)** उदय होने पर **(प्रथमे विधौ)** प्रथम भूमिका में **(इयं)** यह **(क्षुदनुभूतिः)** क्षुधावेदना होती है **(यतिः)** मुनि **(यत्)** जो कर्म **(समतया)** समता के **(सह)** साथ **(सहते)** सहन करते हैं तो **(हि उदितं)** वह उदयागत ही **(विधिफलं)** कर्मफल **(समये)** समय पर **(अयति)** झर जाता है, नष्ट हो जाता है।

भावार्थ—मेरे अशुभकर्म का उदय रहते हुए प्रारम्भिक भूमिका में यह क्षुधा की अनुभूति हो रही है, उदयागत कर्म का फल समय आने पर चला जाता है—नष्ट हो जाता है ऐसा विचार कर साधु समताभाव से क्षुधापरिषह को सहन करते हैं।

भवतु सा तु सतां वरभूतये, सुगतये विधिसंवरभूतये।
कुगतये कुधियां किल कारणं, विषयतोऽसुखि चैतदकारणम्॥६॥

अन्वयार्थ— **(सा)** वह प्रसिद्ध क्षुधा परीषहजय **(सतां)** साधुओं को **(वरभूतये)** उत्कृष्ट विभूति युक्त **(सुगतये)** देवादि श्रेष्ठ गति के लिए कारण होती है **(विधिसंवरभूतये)** कर्मास्त्रव के निरोधरूप संवर की विभूति के लिए **(भवतु)** होती है **(तु)** किन्तु **(कुधियां)** अज्ञानी जनों को वह क्षुधा वेदना **(कुगतये)** नरकादि दुर्गति के लिए **(कारणं)** कारण होती है। **(किल)** निश्चित ही **(च)** और **(एतत्)** यह जगत् **(विषयतः)** विषयों से **(अकारणं)** बिना कारण ही **(असुखि)** दुखी हो रहा है।

भावार्थ—वह क्षुधापरीषह साधुओं को उत्कृष्ट संपत्ति के लिए, देवादिगति की प्राप्ति के लिए तथा कर्मों के संवररूप विभूति के लिए होता है परन्तु अज्ञानीजनों को दुर्गति के लिए होता है। यह जगत् विषयों से अकारण ही दुःखी हो रहा है।

उदय असाता का जब होता, उलटी दिखती सुखदा है,
प्रथम भूमिका में ही होती, क्षुधावेदना दुखदा है।
समरस-रसिया ऋषि समता से, सब सहता, निज-ज्ञाता है,
सब का सब यह विधि फल तो है 'समयसार' सुन! गाता है॥५॥
क्षुधा-परीषह सुधीजनों को देता सद्गति-सम्पद है,
और मिटाता नियमरूप से दुस्सह विधिफल आपद है।
कुधीजनों को किन्तु पटकता कुगतिकुण्ड में कष्ट रहा,
विषय-रसिक हो दुखी जगत है सुखी जगत कह स्पष्ट रहा॥६॥

कनकतां दृशदोऽनलयोगतः, शुचिमिता अनया मुनयो गतः।
अभिनुता जितचित्तभुवा क्षुधा, शिवपथीत्युदिता निजवाक्षु धा॥७॥

अन्वयार्थ—जिस प्रकार **(अनलयोगतः)** अग्नि के संपर्क से **(दृशदः)** स्वर्ण पाषाण **(कनकतां)** स्वर्णपने को **(गतः)** प्राप्त होता है **[तथा]** उसी प्रकार **(अनया)** क्षुधा परीषहजय से **(मुनयः)** मुनिजन **(शुचिं)** निर्मलता को **(इताः)** प्राप्त हुए हैं **(शिवपथि)** मोक्षमार्ग में **(क्षुधा)** वह क्षुधा परीषह जय **(जितचित्तभुवा)** काम को जीतने वाले मुनियों के द्वारा **(अभिनुता)** संस्तुत है, पूजित है। **(इति)** इस प्रकार **(धा)** जिनेन्द्रदेव ने **(निजवाक्षु)** अपनी वाणी में **(उदिता)** कही है।

भावार्थ—जिस प्रकार अग्नि के संयोग से स्वर्णपाषाण स्वर्णता को प्राप्त होते हैं उसी प्रकार इस क्षुधापरीषह के योग से मुनि शुचिता–निर्मलता को प्राप्त हुए हैं। कामविजेता मुनियों ने मोक्षमार्ग में इस क्षुधापरीषह की संस्तुति की है, ऐसा ब्रह्मा–जिनेन्द्रदेव ने अपनी वाणी में कहा है।

ननु कृतानशनेन तु साधुना, ह्यसमयेऽप्यशनं न हि साधु ना।
स्वसमये वचसा शुचि साधुना, निगदितं शृणु तन्मनसाऽधुना॥८॥

अन्वयार्थ— (ननु) निश्चय से **(कृतानशनेन)** अनशन करने वाले **(साधुना)** साधु के द्वारा **(असमये)** अकाल में **(साधु)** निर्दोष **(अशनं तु अपि)** आहार भी **(ना हि न हि)** नहीं–नहीं ग्रहण किया जाता है। ऐसा **(शुचिसाधुना)** वीतराग सर्वज्ञ ने **(स्वसमये)** स्वकीय आगम में **(वचसा)** वाणी से **(निगदितं)** कहा है **(तत्)** उसको **(अधुना)** अब **(मनसा)** मन को एकाग्र कर **(शृणु)** सुनो।

भावार्थ—निश्चय से उपवास करने वाले साधु को असमय में–चर्या के प्रतिकूल समय में निरवद्य भी आहार नहीं लेना चाहिए, ऐसा वीतराग साधु–जिनेन्द्रदेव ने अपने आगम में वचन द्वारा कहा है। उसे तुम इस समय मन लगाकर सुनो।

कनक, कनकपाषाण नियम से, अनल योग से जिस विध है,
क्षुधा-परीषह सहते बनते, शुचितम मुनिजन उस विध है।
क्षुधा विजय सो काम विजेता मुनियों से भी वन्दित है,
शिव-पथ पर पाथेय रहा है जिन-मत से अभिनन्दित है ॥७॥
आगम के अनुकूल किया यदि, किसी साधु ने अनशन है,
असमय में फिर अशन त्याज्य है, अशन-कथा तक अशरण है।
वीतराग सर्वज्ञदेव ने, आगम में यों कथन किया,
श्रवण किया कर सदा उसी का, मनन किया कर, मथन जिया॥८॥

अनघतां लघुनैति सुसंगतां, सुभगतां भगतां गतसंगताम्।
जितपरीषहकः सह को विदा, विदुरिहाप्यघकासह! कोविदाः॥९॥

अन्वयार्थ– (अघकासह!) अघ–पाप ही अघक है इसको, असह–सहन नहीं करने वाले हे मुनिराज! **(जितपरीषहकः)** परीषहों को जीतने वाला **(कः)** आत्मा **(लघुना)** शीघ्र **(अनघतां)** पाप रहित अवस्था को **(सुसङ्गतां)** सुसंगति को **(सुभगतां)** सौभाग्यशालिता को **(भगतां)** ऐश्वर्य सम्पन्नता को **(गतसङ्गतां)** परिग्रह रहित निर्ग्रन्थता को **(विदा सह)** ज्ञान के साथ **(एति)** प्राप्त करता है **(इति)** ऐसा **(इह)** इस लोक में **(कोविदाः)** विद्वज्जन **(अपि)** भी **(विदुः)** कहते हैं, जानते हैं।

भावार्थ–हे पाप को न सहन करने वाले मुनिराज! परीषहों को जीतने वाला जीव, इसी लोक में शीघ्र ही निष्पापता, सत्संगति, सौभाग्यशालिता, ऐश्वर्यसंपन्नता और निर्ग्रन्थता को, सम्यग्ज्ञान को प्राप्त होता है, ऐसा विद्वान् जानते हैं, कहते हैं।

निजतनोर्ममतां वमता मता, मतिमता समता नमता मता।
विमलबोधसुधां पिबताञ्जसा, व्यथति तं न तृषा सुगताज! सा॥१०॥

अन्वयार्थ– (सुगताज!) अज–ब्रह्मस्वरूप आत्मा को, सुगत–जानने वाले हे आत्मज्ञ! जो **(निजतनोः)** निजशरीर की **(ममतां)** ममता को **(वमता)** वमन करने वाले **(मतिमता)** मतिज्ञानी मुनियों के द्वारा **(मता)** स्वीकृत है और **(समता)** साम्यभाव को **(नमता)** नमस्कार करने वाले तथा **(विमलबोधसुधां)** निजामृत का **(पिबता)** पान करने वाले मुनियों के द्वारा जो **(मता)** अंगीकृत है ऐसी **(सा तृषा)** वह तृषा **(अञ्जसा)** स्पष्ट है कि **(तं)** उन निजतन की ममता से विरक्त, समता को धारण करने में अनुरक्त और निजामृतपान करने में आसक्त मुनियों को **(न व्यथति)** पीड़ित नहीं करती है।

भावार्थ–हे आत्मज्ञ! शरीर की ममता को छोड़ने वाले, भेदविज्ञान से सहित, समता के प्रति नम्रीभूत और यथार्थरूप से निर्मलज्ञानामृत का पान करने वाले मुनि ने जिसे स्वीकृत किया है वह तृषा तथोक्त कार्य करने वाले मुनि को पीड़ित नहीं करती।

स्वर्णिम, सुरभित, सुभग, सौम्यतन, सुर-पुर में वर सुरसुख है,
उन्हें शीघ्र से मिलता शुचितम, शाश्वत, भास्वत-शिवसुख है।
वीतराग-विज्ञान सहित जो, क्षुधा-परीषह सहते हैं,
दूर पाप से हुए आप हैं, बुधजन जग को कहते हैं ॥९॥
पाप-ताप का कारण तन की, ममता का बस वमन किया,
शमी-दमी, मतिमान मुनी ने, समता के प्रति नमन किया।
विमल बोधमय, सुधा चाव से, तथा निरन्तर पीता है,
उसे तृषा फिर नहीं सताती, सुखमय जीवन जीता है ॥१०॥

शमवतोऽत्र यतेर्भवतो यतः, सभयतां गुणिनश्च सतो यतः।
लसति मा पुरतो मुदिता सती, तदसहेति तृषा कुपिताऽसती॥११॥

अन्वयार्थ—(अत्र) जगत् में **(यतः)** जिसकारण से **(शमवतः)** प्रशमगुण युक्त **(भवतः)** संसार से **(सभयतां)** भीरुता को **(यतः)** प्राप्त **(च)** और **(गुणिनः)** गुणों से युक्त **(सतः)** श्रेष्ठ **(यतेः)** श्रमण के **(पुरतः)** सामने **(मा)** मुक्ति लक्ष्मी **(मुदिता)** हर्षित होती हुई **(सती)** साध्वी की तरह **(लसति)** शोभित होती है। उस कारण से **(तद् असहा)** उस मोक्ष लक्ष्मी को असहा-सहन नहीं करने वाली **(तृषा)** प्यास **(कुपिता)** क्रुद्ध हुई **(इति)** इस हेतु से **(असती)** असती की तरह अभाव को प्राप्त हो गई।

भावार्थ—यतश्च इस जगत् में प्रशमगुण से सहित, संसार से भयभीत एवं अनेक गुणों से युक्त मुनि के आगे मुक्तिलक्ष्मी प्रसन्न होती हुई विलसती है। अतः उसे सहन न करने वाली तृषारूपी स्त्री कुपित होकर मुनि के पास नहीं रहती। ईर्ष्यावश मुनि के पास नहीं आती।

न हि करोति तृषा किल कोपिनः, शुचिमुनीनितरो भुवि कोऽपि न।
विचलितो न गजो गजभावतः, श्वगणकेन सहापि विभावतः॥१२॥

अन्वयार्थ— (भुवि) पृथ्वी पर **(तृषा)** प्यास **(शुचिमुनीन्)** निर्दोषचर्या से युक्त यतियों को **(कोपिनः)** क्रोधित **(न हि)** नहीं **(करोति)** करती है और **(इतरः कः अपि)** अन्य कोई भी मनुष्य आदि **(किल)** निस्संदेह उन मुनियों को क्रोधित **(न)** नहीं कर सकता। जैसे **(गजः)** हाथी **(श्वगणकेन)** श्वान समूह के **(सहाऽपि)** साथ भी **(विभावतः)** क्रोधादि विकारी परिणाम के कारण होने पर भी **(गजभावतः)** गज स्वभाव से **(विचलितः न)** विचलित नहीं होता।

भावार्थ—पृथ्वी पर निर्दोषचर्या करने वाले मुनियों को पिपासा तथा अन्य कोई भी पदार्थ कुपित नहीं करता। जैसे हाथी कुक्कुरसमूह के द्वारा तंग किए जाने पर भी क्रोधवश अपने गजस्वभाव-गम्भीर भाव से विचलित नहीं होता। उसी प्रकार श्रमण गण असाता के उदय से होने वाली तृषा से विचलित नहीं होते अपितु साम्यभाव से उस पर विजय प्राप्त करते हैं।

कषाय रिपु का शमन किया है, सने स्व-रस में गुणी बने,
नम्र नीत, भवभीत रीत हो अघ से, तप के धनी बने।
मुक्ति-रमा आ जिनके सम्मुख, नाच नाचती मुदित हुई,
मनो इसी से तृषा जल रही, ईर्ष्या करती कुपित हुई॥११॥
निरालम्ब हो, स्वावलम्ब हो, जीवन जीते मुनिवर हैं,
कभी तृषा या अन्य किसी वश, कुपित बनें ना, मतिवर हैं।
श्वान भौंकते सौ-सौ मिलकर, पीछे-पीछे चलते हैं,
विचलित कब हो गजदल आगे ललित चाल से चलते हैं॥१२॥

शमनिधौ निजचिद्विमलक्षितेर्व्यय-भव-ध्रुव-लक्षण-लक्षिते।
यदि यमी तृषितः सहसा गरेऽवतरतीव शशी किल सागरे ॥१३॥

अन्वयार्थ—(यदि) यदि **(यमी)** संयमी साधु **(गरे)** गले में—कण्ठ में **(तृषितः)** तृषायुक्त हो **[तर्हि]** तो वह **(सहसा)** झट से **(सागरे शशी इव)** समुद्र में चन्द्रमा के समान **(व्ययभवध्रुवलक्षण-लक्षिते)** व्यय-उत्पाद-ध्रौव्य लक्षण से युक्त **(निजचिद्विमलक्षितेः)** स्वकीय चेतना की निर्मलभूमि के अन्दर विद्यमान **(शमनिधौ)** प्रशमरस के सागर में **(अवतरति)** उतरता है, अवगाहन करता है/निजस्वरूप का ध्यान करता है। किल शब्द वाक्यालंकार में है।

भावार्थ—यदि कदाचित् मुनि कण्ठ में तृषा से युक्त होता है अर्थात् प्यास से उसका गला सूखता है तो वह अपने चैतन्यरूप निर्मल वसुधा के भीतर विद्यमान एवं व्यय, उत्पाद और ध्रौव्य लक्षण से सहित प्रशम रस के भण्डार में उस प्रकार शीघ्र अवगाहन करता है जिस प्रकार कि चन्द्रमा समुद्र में। क्षुधा-तृषा रहित होना ही मेरी आत्मा का स्वभाव है, ऐसा चिन्तन करता हुआ श्रमण तृषा परीषह को सरलता से सहन करता है।

व्यथितनारकिणोऽपि पिपासवः, कलितकण्ठगतापकृपासवः।
इति विचार्य मुनिस्तदपेक्षया, मयि विपन्नयुतोऽयमुपेक्षया॥१४॥

अन्वयार्थ—(कलितकण्ठगतापकृपासवः) कण्ठगत—निकलने के उन्मुख, अपकृत—दया रहित, असवः—प्राणों से, कलित—युक्त अर्थात् जिनके निर्दय प्राण कण्ठगत हो रहे हैं ऐसे **(पिपासवः)** प्यास से व्याकुल **(व्यथितनारकिणः अपि)** नारकी भी तो व्यथित हैं, दुखी हैं **(तद् अपेक्षया)** उन नारकियों की अपेक्षा से **(मयि)** मुझमें **(विपत्)** प्यास का कष्ट ही **(न)** नहीं है। **(इति)** ऐसा **(विचार्य)** विचार करके **(अयं मुनिः)** यह श्रमण **(उपेक्षया)** तृषा की उपेक्षा से **(युतः)** युक्त होता है।

भावार्थ—जिनके निर्दय प्राण कण्ठगत हो रहे हैं ऐसे प्यास से युक्त पीड़ित नारकी भी तो हैं, उनकी अपेक्षा मेरी विपत्ति कोई विपत्ति नहीं है, ऐसा विचार कर मुनि प्यास के प्रति उपेक्षा से सहित है अर्थात् प्यास दूर करने का कोई प्रयत्न नहीं करते।

व्यय-उद्भव-ध्रुव-लक्षण से जो, परिलक्षित है खरा रहा,
चिन्मय गुण से रचा गया है, सम-रस से है भरा रहा।
मनो कभी मुनि तृषित हुआ हो, निज में तब अवगाहित हो,
जैसा सागर में शशि होता, निश्चित सुख से भावित हो॥१३॥
रव-रव नरकों में वे नारक, तृषित हुए हैं, व्यथित हुए,
सदय हृदय नहिं अदय बने हैं, प्राण कण्ठगत मथित हुए।
उस जीवन से निज जीवन की, तुलना कर मुनि कहते हैं,
वहाँ सिन्धु-सम दुःख रहा तो, यहाँ बिन्दु हम सहते हैं॥१४॥

चलतु शीततमोऽपि सदागति-रमृतभावमुपैतु सदागतिः।
जगति कम्पवती रसदा गतिः, स्खलति नो वृषतोऽपि सदागतिः॥१५॥

अन्वयार्थ—(शीततमः) अत्यन्त शीतल **(सदागतिः चलतु)** वायु चलती हो **(सदागतिः अपि)** अग्नि भी जहाँ **(अमृतभावं)** जलरूप शीतल **(उपैतु)** हो जावे **(जगति)** लोक में **(कम्पवती)** कंपन करने वाली **(रसदा)** रस–शरीर को, दा–विदारण करने वाली, **(गतिः)** दशा हो गयी हो तब भी **(सदागतिः)** मुनिराज **(वृषतः अपि)** धर्म से भी **(नो स्खलति)** स्खलित–विचलित नही होते हैं।

भावार्थ—अत्यन्त शीत वायु चले, अग्नि अमृतभाव को प्राप्त हो और जगत् में जीवों की दशा कम्पन से युक्त तथा शरीर को विदीर्ण करने वाली भले ही हो तो भी मुनि धर्म से विचलित नहीं होते हैं।

तरुणतोऽरुणतः किरणावली, प्रशमिता सविता सगुणाऽवली।
गुरुनिशा लघुतां दिवसं गतं, मुनिरितः स्ववशं ननु संगतम्॥१६॥

अन्वयार्थ— (तरुणतः) मध्याह्न संबंधी तरुण **(अरुणतः)** सूर्य से निःसरित **(किरणावली)** रश्मि संतति **(प्रशमिता)** शीतल हो गई **(सविता)** सूर्य भी **(सगुणावली)** प्रताप गुण समूह सहित शीतल हो गया **(गुरुनिशा)** रात्रि दीर्घ हो गयीं **(दिवसं)** दिन भी **(लघुतां गतं)** लघुता को प्राप्त हो गये, छोटे हो गये अर्थात् शीत के समय प्रभाकर की प्रचण्ड किरणें भी मन्द हो गयीं, सूर्य भी अपने प्रताप के साथ शान्त हो गया, रात्रि बड़ी और दिन छोटे हो गये तो भी **(मुनिः)** साधु **(ननु)** निश्चय से **(स्ववशं)** स्वाधीनता की **(सङ्गतं)** संगति को **(इतः)** प्राप्त हुए हैं।

भावार्थ—शीत की अधिकता के कारण ही मानों मध्याह्न के सूर्य की किरणावली शान्त हो गई। स्वकीय गुणावली से सहित सूर्य शान्त हो गया, रात बड़ी और दिन छोटा हो गया, तो भी मुनि निश्चय से स्वाधीन संगति को ही प्राप्त रहे अर्थात् शीत निवारक पर पदार्थों के अधीन नहीं हुए।

शीत-शील का अविरल-अविकल, बहता जब है अनिल महा,
ऐसा अनुभव जन-जन करते, अमृत मूल्य का अनल रहा।
पग से शिर तक कपड़ा पहना, कप-कप कपता जगत रहा,
किन्तु दिगम्बर मुनिपद से नहिं, विचलित हो मुनि-जगत रहा॥१५॥
तरुण-अरुण की किरणावलि भी, मन्द पड़ी कुछ जान नहीं,
शिशिर वात से ठिठुर शिथिल हो, भानु उगा पर, भान नहीं।
तभी निशा वह बड़ी हुई है, लघुतम दिन भी बना तभी,
पर! परवश मुनि नहीं हुआ है, सो मम उर में ठना अभी॥१६॥

विमलचेतसि पूज्ययतेः सति, महसि सत्तपसि ज्वलिते सति।
किमु तदा हि बहिर्हिमपाततः, सुखितजीवनमस्य मपाः ततः॥१७॥

अन्वयार्थ– **(पूज्ययतेः)** वन्दनीय श्रमण के **(सति)** समीचीन **(विमलचेतसि)** निर्मल चित्त में **(सत्तपसि)** समीचीन तपरूपी **(महसि)** तेज के **(ज्वलिते सति)** प्रदीप्त हो जाने पर **(हि)** निश्चय से **(तदा)** उस समय **(बहिर्हिमपाततः)** बाह्य शरीर के ऊपर हिमपात–बर्फ के गिर जाने से भी **(किमु)** क्या चिन्ता है? **(अस्य)** सत्तप के तेज से दीप्त साधु का **(सुखितजीवनं)** सुखी जीवन होता है। **(ततः)** उस कारण से हे मुने! तू **(मपाः)** म–आत्मा की, पा–रक्षा करने वाला हो।

भावार्थ–पूज्य मुनिराज के प्रशस्त निर्मल चित्त में जब समाचीन तपरूपी तेज देदीप्यमान हो रहा है तब बाह्य में बर्फ के पड़ने से उसे क्या चिन्ता है? इसका जीवन तो उस समय भी सुखी रहता है इस कारण हे साधो! तुम ब्रह्मरूप आत्मा के रक्षक होओ।

नभसि कृष्णतमा अभयानकाः, सतडितः सजलाश्च भयानकाः।
अशनिपाततयाप्यचलाश्चलाः, स्थिरमटेच्च मुनिर्ह्यचला चलाः॥१८॥

अन्वयार्थ– **(नभसि)** गगन में **(कृष्णतमाः)** अतिश्यामल–काले–काले **(सतडितः)** विद्युत् सहित **(सजलाः च)** जल सहित **(भयानकाः)** भीतिप्रद **(अभयानकाः)** स्वयं भय रहित गरजते हुए मेघ छा जायें **(अशनिपाततया अपि)** वज्रपात से **(अचलाः)** पर्वत भी **(चलाः)** चलायमान हो जायें **(अचला च)** पृथ्वी भी **(चला)** अस्थिर हो जाये–काँप जाये तथापि **(हि)** निश्चय से **(मुनिः)** यतिराज **(स्थिरं)** शीत परीषह से विचलित न होकर स्थिरता को **(अटेत्)** प्राप्त करते हैं।

भावार्थ–आकाश में कौंदती हुई बिजली से सहित जलयुक्त, भयोत्पादक, काले–काले गर्जते हुए मेघ भले ही छाये रहें, वज्रपात से पर्वत भी चंचल हो उठे और अचला–पृथ्वी भी चलायमान हो जावे–काँप उठे तो भी हे अभय! मुनि को स्थिर ही पाते हैं। तथोक्त उपसर्गों के कारण मुनि कभी भी विचलित नहीं होते।

यम-दम-शम-सम से मुनि का मन, अचल हुआ है विमल रहा,
महातेज हो धधक रहा है, जिसमें तप का अनल महा।
बाधा क्या फिर बाह्य गात पे, होता हो हिमपात भले,
जीवन जिनका सुखित हुआ हम, उन पद में प्रणिपात करें॥१७॥
भय लगता है नभ में काले, जल वाले घन डोल रहे,
बीच-बीच में बिजली तड़की, घुमड़-घुमड़ कर बोल रहे।
वज्रपात से चूर हो रहे अचल, अचल भी चलित हुए,
फिर भी निश्चल मुनि रहते हैं, शिव मिलता, सुख फलित हुए॥१८॥

तपनता तपनस्य निदाघिका, व्रतवते स्ववते न निदाघिका।
समुचितं सवितुः प्रकराः कराः, सलिलजाय सदा प्रखराः कराः॥१९॥

अन्वयार्थ– (तपनस्य) सूर्य की **(निदाघिका)** ग्रीष्मकालीन **(तपनता)** उष्णता **(स्ववते)** आत्म विजयी के लिए और **(व्रतवते)** व्रतवान् मुनि के लिए **(निदाघिका)** दुःखदायिनी **(न)** नहीं होती है **([इति] समुचितं)** यह उचित ही है कि **(सवितुः)** सूर्य की **(प्रकराः)** सहस्र समूह में **(कराः)** किरणें **(प्रखराः)** तीक्ष्ण होकर भी **(सलिलजाय)** सलिल–नीर से, ज–उत्पन्न कमलों के लिए **(सदा)** निरंतर **(कराः)** क–सुख, र–देने वालीं–सुखदायक होती हैं।

भावार्थ–सूर्य की ग्रीष्मकालीन तपनता आत्मविजयी मुनि के लिए दुःखप्रद नहीं होती यह उचित ही है क्योंकि सूर्य की अत्यन्त तीक्ष्ण किरणें कमल के लिए सदा सुखदायक होती हैं।

सरसि जन्तुसभा न कतापतः, सरसिजं तु कुतोऽम्बु वितापतः।
इयति घर्मणि शान्तिसुधारक-स्तदवरोधनभावविदारकः॥२०॥

अन्वयार्थ–(कतापतः) क–सूर्य के, तापतः–संताप से **(सरसि)** सरोवर में **(जन्तुसभा)** मीनादिक जलचर जीवों की समिति **(न)** नहीं रहती **(वितापतः)** विशिष्ट ताप के कारण **(अम्बु)** जल **(कुतः)** कहाँ? अर्थात् जब जल सूख गया तब **(सरसिजं)** कमल **(तु)** तो **(कुतः)** कहाँ रहेंगे ? अर्थात् जल के अभाव में कमल भी सूख जाते हैं **(इयति)** इतनी **(घर्मिणि)** गर्मी में **(शान्तिसुधारकः)** शान्ति के धारक–शान्ति सुधारस का पान करने वाले मुनि **(तदवरोधनभावविदारकः)** उस ताप का निरोध करने वाले भाव के विदारक–नाशक होते हैं अर्थात् उष्ण परीषहजन्य बाधा को दूर करने का भाव नहीं करते।

भावार्थ–सूर्य के संताप से सरोवर में जलचरों का समूह नहीं रहा। ताप की अधिकता से जल सूख गया फिर कमल कैसे रह सकता है? ऐसी गर्मी में शान्ति के धारक मुनि, उस गर्मी के रोकने वाले भाव को भी दूर करते हैं अर्थात् गर्मी को दूर करने का भाव भी नहीं करते हैं।

चण्ड रहा मार्तण्ड ग्रीष्म में, विषयी-जन को दुखद रहा,
आत्मजयी ऋषिवशीजनों को, दुखद नहीं, शिव सुखद रहा।
प्रखर, प्रखरतर किरण प्रभाकर, की रुचिकर ना कण-कण को,
कोमल-कोमल कमलदलों को खुला खिलाती क्षण-क्षण को॥१९॥
सरिता, सरवर सारे सूखे, सूरज शासन सक्त रहा,
सरसिज, जलचर कहाँ रहे फिर?, जीवन साधन लुप्त रहा।
इतनी गरमी घनी पड़ी पर, करते मुनि प्रतिकार नहीं,
शान्ति सुधा का पान करें नित, तन के प्रति ममकार नहीं॥२०॥

त्रिपथगाम्बु सुचन्दनवासितं, शशिकलां सुमणिं ह्यथवा सितम्।
प्रकलयन्ति न घर्मसुशान्तये, भुवि मता मुनयो जिनशान्त! ये॥२१॥

अन्वयार्थ– (जिनशान्त!) हे शान्तिनाथ! **(भुवि)** वसुन्धरा पर **(ये हि मुनयः)** ये ही निर्ग्रन्थ लक्षण वाले श्रमण **(मताः)** माने गये हैं **[ते]** वे **(घर्मसुशान्तये)** उष्ण परीषहजन्य बाधाओं की शान्ति–निराकरण करने के लिए **(सुचन्दनवासितं)** चन्दन की सुगन्धि को **(त्रिपथगाम्बु)** गंगा के जल को **(शशिकलां)** चन्द्रकला–चाँदनी को **(अथवा)** और **(सितं)** श्वेत **(सुमणिं)** चन्द्रकान्तमणि को **(न प्रकलयन्ति)** नहीं सेवते–इनका सेवन नहीं करते हैं।

भावार्थ–हे शान्तिजिनेन्द्र! पृथ्वी पर जो निर्ग्रन्थ मुनि माने गये हैं वे गर्मी की बाधा शान्त करने के लिए न चन्दन सुवासित गंगाजल की, न चन्द्रकला की और न शुक्ल चन्द्रकान्तमणि की इच्छा करते हैं–न इनका सेवन करते हैं अर्थात् उष्ण परीषह को निराकृत करने के लिए लौकिक उपचारों की इच्छा नहीं करते हैं।

पतितपत्रकपादपराजितं, प्रतिवनं रविपादपराजितम्।
मुनिमनो नु ततोऽस्त्वपराजितं, नमति चैष तकं स्वपराजितम्॥२२॥

अन्वयार्थ–जब **(प्रतिवनं)** प्रत्येक वन **(पतितपत्रकपादपराजितं)** पत्रक–पत्र समूह से, पतित–रहित, पादप–वृक्षों से, राजित–शोभित **(अस्तु)** हो अर्थात् वन पत्र रहित वृक्षों से युक्त हो और **(रविपादपराजितं च)** रवि–सूर्य की, पाद–किरणों से, पराजित–पराभूत हो तब **(मुनिमनः)** श्रमणों का मन **(नु)** तो **(ततः)** उस उष्ण परीषह से **(अपराजितम्)** पराजित नहीं होता है **(एषः)** यह स्तुतिकर्त्ता जो **(स्वपराजितं)** स्व–आत्मा की, प–रक्षा करने वाले गुणों से, राजित–शोभित हैं **(तकं)** उन मुनियों को **(नमति)** नमस्कार करता है।

भावार्थ–जब प्रत्येक वन पत्ररहित वृक्षों से युक्त तथा सूर्य की किरणों से पराभूत होता है तब मुनि का मन उससे अपराजित रहता है। उस शुष्क वन से भयभीत नहीं होता, किन्तु आत्मरक्षक गुणों से सुशोभित रहता है। उन मुनि को यह स्तोता नमन करता है।

सुरमा, काजल, गंगा का जल, मलयाचल का चन्दन है,
शरद चन्द्र की शीतल किरणें मणि माला, मनरंजन है।
मन में लाते तक ना इनको, शान्त बनाने तन-मन को,
मुनि कहलाते पूज्य हमारे जिनवर कहते भविजन को ॥२१॥
महाप्रतापी, भू-नभ तापी, अभिशापी रवि बना रहा,
वन हारे, तरु सारे, खारे पत्र फूल के बिना अहा!
किन्तु पराजित नहीं मुनीश्वर, जित-इन्द्रिय हो राजित हैं,
हृदय-कमल पर उन्हें बिठाऊँ, त्रिभुवन से आराधित हैं ॥२२॥

परिषहं कलयन् सह भावतः, स हतदेहरुचिर्निजभावतः।
परमतत्त्वविदा कलितो यतिः, जयतु मे तु मनः फलतोऽयति॥२३॥

अन्वयार्थ—(निजभावतः) निजस्वभाव में रहने के कारण **(हतदेहरुचिः)** जिनकी देह के प्रति रुचि–प्रीति हत–नष्ट हो गयी है **(भावतः सह)** अभिप्राय के साथ–मनोयोगपूर्वक **(परिषहं)** उष्ण परीषह को **(कलयन्)** सहन करते हैं **(परमतत्त्वविदा)** जो श्रेष्ठ तत्त्वज्ञान से **(कलितः)** युक्त हैं **(सः)** वे **(यतिः)** मुनिराज **(जयतु)** जयवन्त रहें। **(फलतः)** फलस्वरूप ऐसे वे निर्ग्रन्थ श्रमण **(मे तु मनः)** मेरे मन को **(अयति)** प्राप्त हो रहे हैं अर्थात् मैं उन मुनियों का निरन्तर ध्यान करता हूँ।

भावार्थ—आत्मस्वभाव में विद्यमान होने से जिनकी शरीर सम्बन्धी प्रीति नष्ट हो चुकी है, जो समीचीन अभिप्राय–ख्यातिलाभादि की भावना से रहित मन से परीषह को सहन कर रहे हैं तथा उत्कृष्ट तत्त्वज्ञान से सहित हैं वे मुनि जयवंत हों। इसके फलस्वरूप वे मुनि मेरे मन को प्राप्त हो रहे हैं अर्थात् मैं उनका निरन्तर ध्यान करता हूँ।

विषधरैर्विषमैर्विषयातिगः, परिवृतो व्रतवानदयातिगः।
नहि ततोऽस्य तु किंचन मानसं, कलुषितं कलि तच्छुचिमानसम्॥२४॥

अन्वयार्थ—(विषयातिगः) पंचेन्द्रियों के विषयों से, अति–अतिदूर, गः–जाने वाला–इन्द्रियविजयी **(अदयातिगः)** अदय परिणामों से रहित–जीवदया सहित **(व्रतवान्)** महाव्रतों से युक्त मुनि यद्यपि **(विषमैः)** भयंकर **(विषधरैः)** सर्पों से **(परिवृतः)** परिवेष्टित है **(तु)** किन्तु **(अस्य)** इस व्रतवान् मुनि का **(तत्)** वह **(शुचिमानसं)** पवित्र चित्तरूपी **(मानसं)** मानसरोवर **(ततः)** विषम परिस्थितियों में **(किल)** निःसंदेह **(किञ्चन)** किञ्चित् भी **(कलुषितं)** मलिन **(न हि)** नहीं होता है।

भावार्थ—पञ्चेन्द्रियों के विषयों से रहित दयालु–मुनि, यद्यपि भयंकर सर्पों से वेष्टित रहते हैं तथापि इनका पवित्र मनरूपी मानसरोवर उनसे कुछ भी कलुषित नहीं होता।

तन से, मन से और वचन से, उष्ण परीषह सहते हैं,
निरीह तन से हो निज ध्याते, बहाव में ना बहते हैं।
परम तत्त्व का बोध नियम से, पाते यति जयशील रहे,
उनकी यशगाथा गाने में, निशिदिन यह मन लीन रहे ॥२३॥
विषयों को तो त्याग-पत्र दे, व्रतधर शिवपथगामी हैं,
मत्कुण मच्छर काट रहे अहि, दया-धर्म के स्वामी हैं।
कभी किसी प्रतिकूल दशा में, मुनि-मानस नहिं कलुषित हो,
शुचितम मानस सरवर-सा है, सदा निराकुल विलसित हो ॥२४॥

असुमतः प्रति यो गतवैरतः, शुभदयागुणके सति वै रतः।
व्यथति नो मनसा वचसाङ्गतः, सदसि पूज्यपदं विदुषां गतः॥२५॥

अन्वयार्थ– (यः) जो मुनि **(असुमतः प्रति)** प्राणियों के प्रति **(गतवैरतः)** वैर रहित होने से **(सति)** प्रशस्त **(शुभदयागुणके)** शुभ श्रेष्ठ दयामय गुणों में **(वै)** निश्चय से **(रतः)** लीन होता हुआ **(मनसा)** मन से **(वचसा)** वचन से **(अङ्गतः)** शरीर से–तीनों योगों से **(नो व्यथति)** दुःखी नहीं होता है अर्थात् व्यथा–दुःख का अनुभव नहीं करता वह **(विदुषां)** विद्वानों की **(सदसि)** सभा में **(पूज्यपदं)** आदरणीय स्थान को **(गतः)** प्राप्त करने वाला होता है।

भावार्थ–जो मुनि प्राणियों के प्रति वैर रहित होने से निश्चयतः श्रेष्ठ दयागुण में लीन रहते हुए मन, वचन, काय से दुःखी नहीं होते, वे विद्वानों की सभा में पूज्य स्थान को प्राप्त होते हैं।

रुधिरकं तु पिबन्ति पिबन्तु ते, स्तुतिसुधां सुखिनोऽज पिबन्तु ते।
मम न हानिरिहास्ति हि वस्तुतः, इति तनोः पृथगस्मि भवस्तुत!॥२६॥

अन्वयार्थ– (भवस्तुत!) त्रिलोकसंस्तुत! **(अज!)** हे पुरुदेव! **(यदि)** यदि **(ते)** वे प्रसिद्ध मत्कुण मशक आदि **(रुधिरकं)** किञ्चित् रक्त **(पिबन्ति)** पीते हैं **(तु)** तो **(पिबन्तु)** पीने दो **[यदि ते]** यदि वे **(सुखिनः)** सुखी मनुष्य **(स्तुतिसुधां)** स्तुति सुधा को **(पिबन्तु)** पीते हैं तो पीने दो। **(इह)** इस विषय में **(मम)** मेरी **(हानिः)** हानि **(हि)** ही **(न अस्ति)** नहीं है **(इति)** इस प्रकार मैं मुनि **(वस्तुतः)** वास्तव में **(तनोः)** शरीर से **(पृथक्)** भिन्न **(अस्मि)** हूँ। मुनि ऐसा विचार करते हैं।

भावार्थ–हे भवस्तुत! अज! हे समस्त संसार के द्वारा स्तुत ब्रह्मन्! यदि वे खटमल तथा मच्छर आदि कुछ रुधिर पीते हैं तो पियें और वे सुखीजन यदि स्तुतिरूपी अमृत पीते हैं तो पियें, इस विषय में परमार्थ से मेरी हानि नहीं है, क्योंकि मैं शरीर से पृथक् हूँ।

चराचरों से मैत्री रखते, कभी किसी से वैर नहीं,
निलय दया के बने हुए हैं, नियमित चलते स्वैर नहीं।
तन से, मन से और वचन से, करें किसी को व्यथित नहीं,
सुबुध जनों से पूजित होते, मान-गान से सहित सही॥२५॥
मत्कुण आदिक रुधिर पी रहे, पी लेने दो, जीने दो,
तव शुभ स्तुत की सुधा चाव से, मुझे पेट भर पीने दो।
तीन लोक के पूज्य पितामह!, इससे मुझको व्यथा नहीं,
यथार्थ चेतन पदार्थ मैं हूँ, तन से 'पर' मम कथा यही॥२६॥

मशकदंशकमत्कुणकादयः, प्रविकलाः क्षुधिता अनकादय!।
स्वकममी प्रभजन्तु नु कं कदा, त्विति सतामनुचिंतनकं कदाः॥२७॥

अन्वयार्थ—(अनकादय!) अक–दुःख व पाप तथा, अदया से अ–रहित हे जिन! **(मशक-दंशकमत्कुणकादयः)** डाँस, मच्छर, मत्कुण–खटमलादिक **(क्षुधिताः)** क्षुधा युक्त–भूखे **(प्रविकलाः)** प्र–प्रकर्षरूप से, विकल–विह्वल **(कदाः)** सुख को देने वाले **(अमी)** ये जीव **(स्वकं)** स्व–स्वकीय, **(कं)** सुख को अर्थात् क्षुधा निवृत्ति जन्य सुख को **(कदा)** कब **(प्रभजन्तु)** प्राप्त करेंगे **(इति तु सतां)** ऐसा साधुओं का **(अनुचिन्तनकं)** अनुचिन्तन है, **(नु)** तर्क है–विचार है।

भावार्थ—हे अनकादय! हे पाप और अदया से रहित जिनदेव! जो डांश, मच्छर तथा खटमल आदि जीव क्षुधा से युक्त हो अत्यन्त विकल दुखी हो रहे हैं ये अपने सुख को कब प्राप्त हों, साधुओं का ऐसा चिन्तन कब हो।

स्वपददं च पदं हि दिगम्बरं, निरुपयोग्यघदं तु धिगम्बरम्।
इति विचार्य विमुञ्चितपाटकाः, शिवपथेऽत्र जयन्तु नपाटकाः॥२८॥

अन्वयार्थ— (दिगम्बरं पदं)दिशायें ही हैं अम्बर–वस्त्र जिसके ऐसा दिगम्बर पद ही **(हि)** निश्चय से **(स्वपददं)**आत्मा के पद को प्रदान करने वाला है **(च)** और **(निरुपयोगि)** अनुपयोगी **(अघदं)** पाप को देने वाले **(अम्बरं)** वस्त्र को **(तु)** तो **(धिक्)** धिक्कार है **(इति विचार्य)** ऐसा विचार कर **(विमुञ्चितपाटकाः)** वस्त्रत्यागी **(नपाटकाः)** दिगम्बर सन्त **(अत्र)** यहाँ **(शिवपथे)** मोक्षमार्ग में **(जयन्तु)** जयशील रहें।

भावार्थ—निश्चय से दिगम्बर पद ही आत्मपद–मोक्ष को देने वाला है। किन्तु अनुपयोगी तथा पाप को देने वाले वस्त्र को धिक्कार हो। ऐसे विचार कर जिन्होंने वस्त्र का परित्याग किया है ऐसे दिगम्बर साधु मोक्षमार्ग में जयवन्त रहें।

दंश मसक ये कीट पतंगे, पल भर भी तो सुखित नहीं,
पाप पाक से पतित पले हैं, क्षुधा तृषा से दुखित यहीं।
कब तो इनका भाग्य खुले, कब निशा टले, कब उषा मिले,
सन्त सदा यों चिंतन करते, दिशा मिले, निज दशा मिले ॥२७॥
निरा, निरापद, निजपद दाता, यही दिगम्बर पद साता,
पाप-प्रदाता आपद-धाता, शेष सभी पद गुरु गाता।
हुए दिगम्बर अम्बर तजकर, यही सोच कर मुनिवर हैं,
शिवपथ पर अविरल चलते हैं, हे जिनवर! तव अनुचर हैं ॥२८॥

कृतकृपा निजके च्युतवासना, हततृपास्तु विसर्जितवासनाः।
समुपयान्तु शिवं ह्यभवं तु ते, धृतपटा मुनयो न भवन्तु ते॥२९॥

अन्वयार्थ–जिन्होंने **(निजके)** आत्मा पर **(कृतकृपाः)** कृपा की है कि मेरी आत्मा विषयासक्त मलिन नहीं हो ऐसा विचार कर **(च्युतवासनाः)** कुसंस्कार छोड़ दिये हैं **(हततृपाः)** लज्जा का नाश किया है **(विसर्जितवासनाः)** विसर्जित कर दिये हैं वासना के वस्त्र सारे ऐसे **(ते)** वे **(मुनयः)** मुनिजन **(हि)** ही **(अभवं)** संसार रहित **(शिवं)** मोक्ष को **(समुपयान्तु)** प्राप्त करें। **(तु)** किन्तु [जिन्होंने] **(धृतपटाः)** वस्त्र धारण किए हैं **(ते)** वे **(मुनयः)** मुनि ही **(न भवन्तु)** नहीं हो सकते हैं।

भावार्थ–जो निज आत्मा पर दयालु हैं अर्थात् उसे विषय प्रपञ्च से दूर रखते हैं, जिन्होंने विषयों की वासना–संस्कार छोड़ दिए हैं, जो लज्जा से रहित हैं तथा वस्त्र समूह से रहित हैं, वे निश्चय से मोक्ष को तथा जन्माभाव को प्राप्त हों। इनके विपरीत जो वस्त्रधारक हैं, वे परमार्थ से मुनि नहीं हैं और मुक्ति एवं जन्माभाव को प्राप्त करने के योग्य नहीं हैं।

जगदिदं द्विविधं खलु चेतनं, यदितरं स्वयमेव विचेतनम्।
विविधवस्तुनिकायनिकेतनं, शृणु निरावरणं हि निकेतनम्॥३०॥

अन्वयार्थ–(खलु) निश्चय से **(इदं जगत्)** यह लोक **(द्विविधं)** चेतन, अचेतन के भेद से दो प्रकार का है **(यत् चेतनं)** जो चेतन द्रव्य है **(तत् स्वयं एव)** वह स्वयं ही चेतनरूप है तथा **(इतरं विचेतनं)** जो अन्य अचेतन द्रव्य है **(विविधवस्तु-निकायनिकेतनं)** विविधवस्तु निकाय–समूहों का, निकेतन–स्थान है **(निकेतनं)** नि–नियत, केतन–लक्षण है जिसका ऐसा यह जगत् **(हि)** निश्चय से **(निरावरणं)** आवरण से रहित है। इस रहस्य को हे भव्य! तुम **(शृणु)** सुनो।

भावार्थ–यह जगत् चेतन–अचेतन के भेद से दो प्रकार का है। उनमें जो चेतन अथवा अचेतन है, वह स्वयं तथाभूत है। अर्थात् चेतन अचेतन रूप और अचेतन चेतन रूप नहीं हो सकता। सब अपने–अपने नियत लक्षणों से युक्त हैं। समस्त वस्तु समूह के घर स्वरूप यह जगत् निरावरण है–पर के आवरण से रहित है अतः मुनि को भी निरावरण रहना प्रकृति सिद्ध है। हे भव्य! इस रहस्य को तू सुन, समझ तथा अंगीकृत कर।

अपने ऊपर पूर्ण दया कर, विषय-वासना त्याग दिया,
नग्न परीषह सहते तजकर वस्त्र, निजी में राग किया।
अनुपम, अव्यय वैभव पाते, लौट नहीं भव में आते,
वस्त्र, वासना जो ना तजते, भ्रमते भव-भव में तातैं ॥२९॥
यहाँ अचेतन पुद्गल आदिक, निज-निज गुण के केतन हैं,
आदि मध्य औ अन्त रहित हैं, ज्ञान-निलय हैं, चेतन हैं।
यथार्थ में तो पदार्थ-दल से, भरा जगत् यह शाश्वत है,
निरावरण है, निरा दिगम्बर, स्वयं आप 'बस' भास्वत हैं ॥३०॥

अत इतो न घृणां कुरुते मनो, भुवि मुदार्षिरिदं ह्ययते मनो!।
कुलहितं तनुजं जननीहते, भवति शोकवती गुणिनी हते ॥३१॥

अन्वयार्थ– (मनो!) हे मनु ज्ञानस्वरूप भगवन्! **(अतः)** इसलिए **(इतः)** नाग्न्यरूप के प्रति मुनि का **(मनः)** चित्त **(घृणां)** ग्लानि को **(न कुरुते)** नहीं करता है **(भुवि)** भूतल पर **(ऋषिः)** ऋषिराज **(इदं)** इस नग्नत्व को **(हि)** निश्चय से **(मुदा)** हर्षपूर्वक **(अयते)** स्वीकार करते हैं। जैसे **(गुणिनी)** गुणवती **(जननी)** माता **(कुलहितं)** वंश का कल्याण करने वाले **(तनुजं)** पुत्र की **(ईहते)** इच्छा करती है, किन्तु **(हते)** मरण होने पर **(शोकवती)** शोकयुक्त **(भवति)** होती है।

भावार्थ–हे मनो! इसलिए मुनि का मन इस नाग्न्यव्रत की ओर घृणा नहीं करता है। पृथ्वी पर मुनि इसे हर्ष से प्राप्त होते हैं, जिस प्रकार गुणवती माता कुल का हित करने वाले पुत्र की इच्छा करती है, उसका लालन-पालन करती है और उसके नष्ट हो जाने पर शोकयुक्त होती है। इसी प्रकार मुनि नाग्न्यव्रत की इच्छा करते हैं–उसका निर्दोष पालन करते हैं और उसमें बाधा आने पर दुखी होते हैं।

करणमोदपदार्थरसं प्रति, विरतिभावयुतो भुवि सम्प्रति।
सुविजितोऽरतिनाम परीषहः, करुणयाह कवाक् तु करी सह ॥३२॥

अन्वयार्थ–(सम्प्रति) निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुद्रा के अवसर पर **(भुवि)** पृथ्वी पर **[यः मुनिः]** जो मुनि **(करणमोदपदार्थरसं प्रति)** करण–इन्द्रियों को, मोद–हर्षित करने वाले पदार्थों के रस–स्वाद के प्रति **(विरतिभावयुतः)** विरक्तिभाव से सहित हैं उन मुनियों के द्वारा **(अरतिनामपरीषहः)** अरति नाम का परीषह **(सुविजितः)** अच्छी तरह से जीता गया है **(तु)** तो ऐसी **(करी)** कर्तव्य में तत्पर करने वाली **(कवाक्)** जिनेन्द्रदेव की वाणी **(करुणया सह)** करुणा के साथ **(आह)** कहती है।

भावार्थ–पृथ्वी पर निर्ग्रन्थमुद्रा के समय जो मुनि, इन्द्रियों को हर्षित करने वाले पदार्थों के रस के प्रति विरक्तिभाव से सहित होता है अर्थात् अनुकूल रस वाले पदार्थों के स्वाद में अनुरक्त नहीं होता है उसके द्वारा अरतिनाम का परीषह सुख से जीता जाता है, ऐसा कर्तव्य का निर्देश करने वाली जिनवाणी दयापूर्वक कहती है।

बिना घृणा के नग्नरूप धन, मुनिवर प्रमुदित रहते हैं,
भवदुखहारक, शिवसुखकारक, दुस्सह परिषह सहते हैं।
लालन-पालन, लाड़-प्यार से, सुत का करती ज्यों जननी,
कुलदीपक यदि बुझता है तो, रुदन मचाती है गुणिनी ॥३१॥
इन्द्रिय जिनसे चंचल होती, उन विषयों से विरत हुए,
इन्द्रियविजयी, विजितमना हैं, निशिदिन निज में निरत हुए
अविरति रति से मौन हुए हैं, अरति परीषह जीत रहें,
जिनवर वाणी करुणा कर-कर, कहती यों भवभीत रहें ॥३२॥

विकृतरूपशवादिकदर्शनात्, पितृवने च गजाहित-गर्जनात्।
अरतिभावमुपैति न कंचन, समितभावरतोऽञ्चतु कं च न!॥३३॥

अन्वयार्थ– (न!) हे जिन! 'न' शब्द पूज्य और जिन के अर्थ में है **(पितृवने)** श्मशान में **(विकृतरूपशवादिकदर्शनात्)** सड़े गले मृतक आदिक के देखने से और **(गजाहितगर्जनात् च)** हाथी के द्वारा किए गये भयंकर शब्दों से **[यः]** जो मुनि **(कञ्चन)** कुछ भी **(अरतिभावं)** अप्रीति भाव को **(न उपैति)** प्राप्त नहीं होता है **(समितभावरतः)** समताभाव में लीन होता है **[सः]** वह मुनि **(कं च)** सुख को **(अञ्चतु)** प्राप्त होता है।

भावार्थ–हे जिन! जो मुनि श्मशान में विकृतरूप–सड़े-गले मृतक शरीर के देखने और हाथियों की अहितकारी–भयावह गर्जना से कुछ भी अप्रीति भाव को प्राप्त नहीं होता, साम्यभाव में लीन रहने वाला वह मुनि सुख को प्राप्त हो।

विरमति श्रुततो ह्यघकारतः, वचसि ते रमते त्वविकारतः।
स्मृतिपथं नयतीति न भोगकान्, विगतभावितकांश्च विभोऽघकान्॥३४॥

अन्वयार्थ– (विभो!) हे प्रभो! **(हि)** निश्चय से जो साधु **(अघकारतः)** पाप को उत्पन्न करने वाले **(श्रुततः)** शास्त्रों से **(विरमति)** विरत–दूर रहता है **(तु)** किन्तु **(अविकारतः)** विकारभाव से रहित होकर **(ते)** आपके **(वचसि)** प्रवचनों में **(रमते)** रमण करता है **(इति च)** इस हेतु से वह मुनि **(अघकान्)** पापकारक **(विगतभावितकान्)** अतीत–अनागत **(भोगकान्)** पञ्चेन्द्रिय के भोगों–विषयों को **(स्मृतिपथं)** स्मरण मार्ग में **(न नयति)** नहीं लाता है।

भावार्थ–हे विभो! जो मुनि पापकारक शास्त्र से विरत रहता है तथा विकार रहित आपके वचन में-सुशास्त्र में रमण करता है वह पापकारक अतीत-अनागत भोगों का स्मरण नहीं करता। अर्थात् कुशास्त्रों से विरत सुशास्त्रों में रत साधु भूत भविष्यत् सम्बन्धी भोगों की आकांक्षा नहीं करता, वर्तमान में तो भोगों से विरक्त है ही।

सड़ा-गला शव मरा पड़ा जो, बिना गड़ा, अधगड़ा जला,
भीड़ चील की चीर-चीरकर, जिसे खा रही हिला-हिला।
दृश्य भयावह लखते-सुनते, गजारिगर्जन मरघट में,
किन्तु ग्लानि-भय कभी न करते, रहते मुनिवर निज घट में॥३३॥
विषय-वासना जिनसे बढ़ती, उन शास्त्रों से दूर रहें,
विराग बढ़ता जिनसे उनको, पढ़ें साम्य से पूर रहें।
विगत काल के भुक्त भोग को, कभी न मन में लाते हैं,
प्राप्तकाल सब सुधी बिताते, निजी रमन में तातैं हैं॥३४॥

सुविधिना यदनेन विलीयते, मनसिजा विकृतिः किल लीयते।
बलवती शुचिदृक् प्रविजायते, ध्रुवमतो लघुमायमजायते॥३५॥

अन्वयार्थ–(यत्) जिस कारण से **(अनेन)** इस मुनि के द्वारा **(सुविधिना)** सम्यक् विधिपूर्वक स्वस्वरूप में **(विलीयते)** लीन हुआ जाता है **(तत्)** उस कारण से **(मनसिजा)** मन से उत्पन्न **(विकृतिः)** कामविकार **(किल)** निश्चय से **(लीयते)** नष्ट हो जाता है **(बलवती)** सुदृढ़ **(शुचिदृक्)** सम्यग्दर्शन **(प्रविजायते)** नियम रूप से उत्पन्न होता है। **(अतः)** इस कारण से **(यमजा)** चारित्र से उत्पन्न **(मा)** लक्ष्मी–मोक्षलक्ष्मी **(ध्रुवं)** निस्संदेह **(लघु)** क्षिप्र–शीघ्र **(अयते)** प्राप्त की जाती है।

भावार्थ–जिस कारण मुनि विधिपूर्वक आत्मस्वरूप में लीन होता है, मानसिक विकृति को नष्ट करता है और उसके सुदृढ़ निर्मल सम्यग्दर्शन होता है, अतः उसे संयम से उत्पन्न होने वाली मोक्षलक्ष्मी शीघ्र ही नियम से प्राप्त होती है।

मदनमार्दवमानसहारिणी, लसितलोलकलोचनहारिणी।
मुदितमञ्जुमतङ्गविहारिणी, यदि दृशे किमु सा स्वविहारिणी॥३६॥

अन्वयार्थ–(मदनमार्दवमानसहारिणी) कामदेव के कोमल मन को हरने वाली **(लसितलोलक-लोचनहारिणी)** सुन्दर चंचल नयनों को हरने वाली **(मुदितमञ्जुमतङ्गविहारिणी)** प्रसन्न मनोहर हाथी के समान चाल वाली स्त्री **(यदि)** यदि **(दृशे)** दृष्टि का विषय बनती है तो निर्ग्रन्थ मुनि मन में विचार करते हैं कि **(किमु)** क्या **(सा)** वह **(स्वविहारिणी)** स्व–आत्मा में रमण करने वाली है? अपितु **[न]** नहीं।

भावार्थ–कामदेव के कोमल चित्त को हरने वाली सुन्दर एवं चञ्चल नेत्रों से मनोहर और प्रसन्न मनोहर हाथी के समान चालवाली स्त्री यदि दृष्टि के लिए प्राप्त होती है अर्थात् देखने में आती है तो निर्ग्रन्थ साधु विचार करता है क्या वह स्त्री स्वविहारिणी है? अपने आप में रमण करने वाली है? अर्थात् नहीं।

आगम के अनुकूल साधु हो, अरति परीषह सहते हैं,
कलुषित मन की भाव-प्रणाली, मिटती गुरुवर कहते हैं।
प्रतिफल मिलता दृढ़तम, शुचितम, दिव्यदृष्टि झट खुलती है,
नियमरूप से शिवसुख मिलता, ज्योत्स्ना जगमग जलती है॥३५॥
विशाल विस्फारित मंजुलतम, चंचल लोचन वाली हो,
कामदेव के मार्दव मानस, को भी लोभन वाली हो।
मुख पर ले मुस्कान मन्दतम, गजसम गमनाशीला हो,
उस प्रमदा के वश मुनि ना हो, अद्भुत चिन्मय लीला हो॥३६॥

सततमुक्तचरा मदमोहिता, यदिति या प्रमदाप्तयमोदिता।
यदि वने विजने स्मितभाषया, वदति चास्तु यतिर्न विभाषया॥३७॥

अन्वयार्थ—(यत्) जिस कारण से **(या)** जो स्त्री **(सततमुक्तचरा)** निरन्तर स्वच्छन्द विचरण करने वाली **(मदमोहिता)** काम मद से मोहित है **(इति)** इसी हेतु से **(प्रमदा)** प्रमाद से युक्त प्रमदा **(आप्तयमोदिता)** जिनेन्द्र भगवान् के संयम में कही है। **[सा]** वह स्त्री **(यदि)** यदि **(विजने)** एकान्त **(वने)** वन में **(स्मितभाषया)** मन्द हास्ययुक्त वाणी से **(वदति)** कुछ बोलती है तो **(यतिः)** श्रमण **(विभाषया)** निर्ग्रन्थपद के विरुद्ध भाषा से युक्त **(न च अस्तु)** नहीं होते हैं अर्थात् बोलते नहीं हैं।

भावार्थ—यतश्च जो स्त्री निरन्तर स्वच्छन्द घूमती है और मद से मोहित होती है उसे जिनेन्द्र के संयम में प्रमदा कहा गया है। ऐसी स्त्री मुस्काती हुई निर्जन वन में सराग वाणी से यदि कुछ कहती है तो साधु अपने पद से विरुद्ध भाषा से युक्त न हो अर्थात् उससे बात न करे।

विमलरोचनभासुररोचना विलसितोत्पलभासुररोचना।
जनयितुं विकृतिं न हि सा क्षमा, ह्यविचलात्र यतौ सरसा क्षमा॥३८॥

अन्वयार्थ— (विलसितोत्पलभासुररोचना) शोभित नीलकमल के समान नयनों वाली **(विमलरोचन-भासुररोचना)** निर्मल, लाल कमल के समान कान्ति जिसकी ऐसी देवों की देवी के समान भी **(सा)** वह स्त्री **(अत्र यतौ)** इस मुनि में **(विकृतिं)** विकारभाव को **(जनयितुं)** उत्पन्न करने के लिए **(क्षमा)** समर्थ **(न हि)** नहीं है। जिस प्रकार **(क्षमा)** भूमि **(सरसा)** कासार-सरोवर में **(अविचल हि)** चलायमान ही नहीं होती, स्थिर होती है, उसी प्रकार मुनिरूप भूमि भी स्त्रियों के हाव-भाव विलासों से चलायमान नहीं होती, अविचलित ही रहती है।

भावार्थ—सुशोभित नीलकमल के समान सुन्दर नेत्रों वाली एवं निर्मल लालकमल के समान कान्ति से युक्त देवांगना भी निर्ग्रन्थ साधु को विकार उत्पन्न करने में समर्थ नहीं है, क्योंकि पृथ्वी, सरोवर से अविचल ही रहती है।

सदा मुक्त-उन्मुक्त विचरती, मत्त स्वैरिणी मोहित है,
तभी कहाती प्रमदा जग में, बुधजन से अनुमोदित है।
वन में, उपवन में, कानन में, स्मित वदना कुछ बोल रही,
निर्विकार यति बने रहे वे, उनकी दृग अनमोल रही ॥३७॥
लाल कमल की आभा-सी तन वाली हैं सुर वनिताएँ,
नील कमल-सम विलसित जिनके, लोचन हैं सुख-सुविधाएँ।
किन्तु स्वल्प भी विषय-वासना, जगा न सकती मुनि मन में,
सुखदा, समता, सती, छबीली, क्योंकि निवसती है उनमें ॥३८॥

श्रमणतां श्रयता श्रमणेन या, त्वरमिता रमिता भुवनेऽनया।
किमु विहाय सुधीरविनश्वरां, त्विह समामभिवाञ्छति नश्वराम्॥३९॥

अन्वयार्थ–(श्रमणतां) साधुता को **(श्रयता)** धारण करने वाले **(श्रमणेन)** श्रमण के द्वारा **(या)** जो **[समता]** समता परिणति **(तु)** तो **(अरं)** शीघ्र **(इता)** प्राप्त की जाती है **(भुवने)** लोक में **(अनया)** समता के साथ **(रमिता)** रमण करने वाले **(सुधीः)** विज्ञ पुरुष–मुनिराज **(अविनश्वरां)** शाश्वत समता को–आत्मा की स्वाभाविक परिणति को **(विहाय)** छोड़कर **(इह)** जगत् में **(तु)** तो **(नश्वरां)** विनाशशील **(समां)** शोभा से युक्त स्त्री को **(किमु)** क्या **(अभिवाञ्छति)** चाहता है? अर्थात् नहीं।

भावार्थ–साधुता को धारण करने वाले साधु के द्वारा जो समता शीघ्र प्राप्त की गई इसके साथ रमण करने वाला ज्ञानी पुरुष इस अविनाशिनी समता को छोड़ क्या विनाशिनी सुन्दर स्त्री की इच्छा करता है? अर्थात् नहीं।

कठिनसाध्यतपोगुणवृद्धये, मतिमलाहतये गुणवृद्ध! ये।
पदविहारिण आगमनेत्रका, धृतदया विमदा भुवनेऽत्र काः ॥४०॥

अन्वयार्थ–(गुणवृद्ध!) गुणों में वृद्धि को प्राप्त हे गुणवृद्ध! **(अत्र भुवने)** इस लोक में **(ये)** जो **(आगमनेत्रकाः)** आगमरूपी नेत्रों से युक्त हैं **(धृतदयाः)** दया सम्पन्न हैं और **(विमदाः)** मदों से रहित **(काः)** भव्य आत्माएँ **(ते)** वे **(कठिनसाध्यतपोगुणवृद्धये)** कठिनता से साधे जाने वाले तपो गुणों के वृद्धि के लिए तथा **(मतिमलाहतये)** बुद्धिगत दोषों को पूर्ण तरह से नष्ट करने के लिए **(पदविहारिणः)** पद विहार–पैदल ही विहार करते हैं।

भावार्थ–हे गुणवृद्ध! इस जगत् में जो आगमरूप नेत्र से युक्त, दयालु और मद से रहित आत्माएँ–साधु हैं वे कठिन साध्य तपरूप गुणों की वृद्धि के लिए एवं बुद्धि सम्बन्धी मल–दोषों को नष्ट करने के लिए पैदल ही विहार करते हैं।

शीलवती है, रूपवती है, दुर्लभतम है वरण किया,
समता रमणी से निशिदिन जो, श्रमण बना है रमण किया।
फिर किस विध वह नश्वर को जो भवदा दुखदा वनिता है,
कभी भूलकर क्या चाहेगा? पूछ रही यह कविता है ॥३९॥
कठिन कार्य है खरतर तपना, करने उन्नत तपगुण को,
पूर्ण मिटाने भव के कारण, चंचल मन के अवगुण को।
दया वधू को मात्र साथ ले, वाहन बिन मुनि पथ चलते,
आगम को ही आँख बनायें, निर्मद जिनके विधि हिलते ॥४०॥

अथ निवारितकापदरक्षकाः, श्रममितास्तु निजापदरक्षकाः।
अकुशलाध्वचलत् पदलोहिताः, किमु तदा सुधियोऽन्तरलोहिताः॥४१॥

अन्वयार्थ—(अथ तु) तथा **(निवारितकापदरक्षकाः)** पादत्राण छोड़ दिये हैं **(श्रमं)** जो चर्याजन्य खेद को **(इताः)** प्राप्त हैं **(निजापदरक्षकाः)** जो कंट आदि की विपत्तियों का निवारण नहीं करते। **(अकुशलाध्वचलत्पद-लोहिताः)** अकुशल–कंटकादि से व्याप्त अध्व–मार्ग पर चलने से जिनके पद–चरण, लोहित–लहु लुहान हो गये हैं ऐसे **(सुधियः)** विवेकी श्रमण **(किमु)** क्या **(तदा)** उस समय **(अन्तरलोहिताः)** अन्तरहृदय में क्रोधित होते हैं? अर्थात् नहीं होते।

भावार्थ—जिन्होंने सब प्रकार के पादत्राण–जूता–चप्पल आदि छोड़ दिये हैं, जो पैदल चलने से खेद को प्राप्त हैं, आपत्ति से अपनी रक्षा–बचाव नहीं करते हैं तथा कण्टकादि से व्याप्त मार्ग में चलने वाले पैरों से लहूलुहान हो रहे हैं, ऐसे विवेकी मुनिराज क्या उस समय अपने अन्तःकरण में क्रोधित होते हैं? अर्थात् नहीं।

कमलकोमलकौ ह्यमलौ कलौ, ह्यभवतां सुपदौ सबलौ कलौ।
इति विचार्य तनौ भव मा रतः, स्मर कथां सुपदां सुकुमारतः॥४२॥

अन्वयार्थ—सुकुमालस्वामी के **(कमलकोमलकौ)** कमल के समान कोमल **(अमलौ)** निर्दोष **(कलौ)** मनोहर **(सुपदौ)** सुन्दर चरण **(कलौ)** कलिकाल में **(हि)** निश्चय से **(सबलौ)** बल सम्पन्न **(हि अभवतां)** हुए थे **(इति)** ऐसा **(विचार्य)** विचार करके हे मुने! **(तनौ)** शरीर में **(रतः)** लीन **(मा)** मत **(भव)** हो, किन्तु **(सुकुमारतः)** सुकुमालस्वामी की **(सुपदां)** सुन्दर पदावली सहित **(कथां)** कथा को **(स्मर)** याद कर चर्या परीषह **[सहस्व]** सहन कर।

भावार्थ—सुकुमाल स्वामी के कमल के समान कोमल, निर्मल और मनोहर सुन्दरचरण कलिकाल में शक्तिसम्पन्न हुए थे, ऐसा विचार कर हे साधो! शरीर में लीन न होओ, उनकी उत्तमपद–प्रदायिनी अथवा सुन्दरपदावलि से युक्त कथा का स्मरण करके चर्या परीषह को समता से सहन करो।

सभी तरह के पाद त्राण तज, नग्न पाद से ही चलते,
चलते-चलते थक जाते पर, निज पद में तत्पर रहते।
कंकर, कंटक चुभते-चुभते, लहुलुहान पद लोहित हो,
किन्तु यही आश्चर्य रहा है, मुनि का मन ना लोहित हो ॥४१॥
कोमल-कोमल लाल-लालतर, युगल पादतल कमल बने,
अविरल, अविकल चलते-चलते, सने रुधिर में तरल बने।
मन में ला सुकुमार कथा को, अशुचि काय में मत रचना,
मार मार कर महा बनो तुम, यह कहती रसमय रचना ॥४२॥

समधिरोहितबोधसुयानका- स्तनुसुखावहविस्मृतयानकाः।
पथि चलत्स्वतनोः किल दर्शकाः, तयिति सन्तु जयन्तु तु दर्शकाः॥४३॥

अन्वयार्थ—(समधिरोहितबोधसुयानकाः) जो बोधरूपी यान पर सम्यक् रूप से आरूढ़ हैं **(तनुसुखावहविस्मृतयानकाः)** जो देह को सुख देने वाले वाहनों को भूल चुके हैं **(पथि)** मोक्षमार्ग में **(चलत्)** चलते हुए **(स्वतनोः)** निजदेह के **(किल)** मात्र **(दर्शकाःसन्तु)** दर्शक हैं **(इति)** इस तरह **(ते दर्शकाः)** वे प्रसिद्ध आत्मदर्शक–मार्गदर्शक, श्रमण–सन्त **(किल)** नित्य **(जयन्तु)** जयवन्त रहें। **'तु'** शब्द पादपूर्ति के लिए है।

भावार्थ—जो सम्यग्ज्ञानरूपी सवारी पर अधिरूढ़ हैं, शरीर के सुखदायक वाहनों को भूल चुके हैं तथा मार्ग में चलते हुए शरीर को जो दिखाते हैं अर्थात् देखने वाले लोगों से किसी प्रकार की सहायता की इच्छा नहीं करते, किन्तु यही चाहते हैं कि दर्शक लोग भी इसी तरह पद विहार करने वाले हों। इस प्रकार चर्यापरिषह को सहन करने वाले साधु जयवंत रहें।

विदचलीकृतचञ्चलमानसः, प्रगतमोहतरङ्गसुमानसः।
बहुदृढासनसंयतकायक-, स्तदनुपालितजीवनिकायकः॥४४॥

अन्वयार्थ— (विद्-अचलीकृतचञ्चलमानसः) ज्ञान से स्थिर किया है चंचल मन जिन्होंने **(प्रगतमोहतरङ्गसुमानसः)** नष्ट हो गयी हैं मोह की तरंगें जिनके हृदय से **(बहुदृढासनसंयतकायकः)** अतिस्थिर आसन से जिनकी देह संयत हो गयी है **(तद्-अनुपालितजीवनिकायकः)** आसन विजय से जिन्होंने षट्काय जीवों की रक्षा की है ऐसे मुनि निषद्या परीषह विजयी होते हैं।

भावार्थ—निषद्यापरीषह को सहन करने वाले मुनि कैसे होते हैं?- ज्ञान के द्वारा जिन्होंने चञ्चल मन को स्थिर कर लिया है, जिनका हृदय मोहजनितविकल्पों से रहित है, अत्यन्त दृढ़ आसन से जिन्होंने शरीर को स्वाधीन कर लिया है और दृढ़ आसन होने से जिन्होंने जीव समूह की रक्षा की है, ऐसे मुनि निषद्यापरीषह को जीतने वाले होते हैं।

बोधयान पर बैठ, कर रहे, यात्रा यतिवर यात्री हैं,
त्याग चुके हैं, भूल चुके हैं, रथवाहन, करपात्री हैं।
पथ पर चलते तन को केवल, देख रहे पथ दर्शाते,
सदा रहें जयवन्त सन्त वे, नमूँ उन्हें मन हर्षाते॥४३॥
आत्मबोध से पूज्य साधु ने, चंचल मन को अचल किया,
मोह लहर भी शान्त हुई है, मानस सरवर अमल जिया।
बहुविध दृढ़तम आसन से ही, तन को संयत बना लिया,
जीव दया का पालन फलतः, किस विध होता जना दिया॥४४॥

चरणमोहकबन्धनहानये, रुचिमितश्च सदालसहा नये।
नदतटे च नगे विहितासन, ऋषिगणो जयताच्च्युतवासनः॥४५॥

अन्वयार्थ–(चरणमोहकबन्धनहानये) चारित्रमोहनीय कर्म के बन्ध को नाश करने के लिए जो **(नये)** निश्चयनय और व्यवहारनय के विषयभूत पदार्थों में **(रुचिः)** श्रद्धा को **(इतः)** प्राप्त हुए हैं **(च)** और जो **(सदा)** नित्य ही **(आलसहाः)** आलस को हरते हैं **(नदतटे)** नदी तट पर **(च)** और **(नगे)** पर्वत पर **(विहितासनः)** आसन लगाते हैं **(च्युतवासनः)** विषयों के कुसंस्कारों से रहित हैं ऐसे **(ऋषिगणः)** ऋषिगण **(जयतात्)** जयवन्त हों।

भावार्थ–चारित्रमोह रूप बन्धन का निराकरण करने के लिए जो व्यवहारचारित्ररूप नीतिमार्ग में इच्छा अथवा श्रद्धा को प्राप्त हैं, सदा आलस को नष्ट करते रहते हैं, नदी, तट अथवा पर्वत पर आसन लगाते हैं तथा जिनकी विषयवासना छूट चुकी है ऐसे मुनियों का समूह जयवन्त रहे।

इह पुरागतकेऽस्य च योगता-, मुपगताः स्वपदं मुनयो गताः।
इति मतं नुतसाधुबुधार्य! ते, यदिति सज्जगताप्यवधार्यते ॥४६॥

अन्वयार्थ– (नुतसाधुबुधार्य!) हे श्रमण विज्ञार्य संस्तुत पूज्य! **(इह)** इस लोक में अथवा इस वर्तमानकाल में **(पुरागतके)** अतीत **(च)** अनागतकाल में **(अस्य)** निषद्यापरीषह की **(योगतां)** ध्यानता को **(उपगताः)** प्राप्त हुए **(मुनयः)** मुनिजन **(स्वपदं)** शुद्ध पद–मुक्तिधाम को **(गताः)** प्राप्त हुए हैं **(इति)** ऐसा **(ते)** आपका **(मतं)** शासन-सिद्धान्त है **(यत्)** जिसको **(सज्जगता अपि)** सज्जन पुरुषों के द्वारा भी **(इति)** ऐसा ही है मानकर **(अवधार्यते)** धारण किया जाता है–माना जाता है।

भावार्थ–यहाँ वर्तमान, भूत और भविष्यत् काल में जो मुनि इस निषद्यापरीषह के मध्य ध्यानता को प्राप्त हुए वे आत्मपद–मुक्तिधाम को प्राप्त हुए हैं, ऐसा जो आपका मत था वह अब भी विद्यमान जगत् के द्वारा इसी प्रकार माना जाता है।

संयम बाधक चरित मोह को, पूर्ण मिटाने लक्ष बना,
बिना आलसी बने निजी को, पूज्य बनाने दक्ष बना।
सरिता, सागर, सरवर तट पर, दृढ़तम आसन लगा दिया,
त्याग वासना, उपासनारत, 'ऋषि की जय' तम भगा दिया ॥४५॥
आसन परिषह का यह निश्चित, अनुपम अद्भुत सुफल रहा,
हुए, हो रहे, होंगे जिनवर, इस बिन, सब तप विफल रहा।
बुधजन, मुनिजन से पूजित जिन!, अहोरात तव मत गाता,
अतः आज भी भविकजनों ने, धारा उसको नत माथा ॥४६॥

विमुख! किं बहुना निजभावतः, सभय! हे शृणु चेद् यदि भावतः।
इह युतोऽप्यमुना नतिमागत, ऋषिवरैः श्रय तच्च समा गताः॥४७॥

अन्वयार्थ– **(किं बहुना)** बहुत कहने से क्या? **(निजभावतः विमुख!)** हे निजभाव से विमुख! **(हे सभय!)** संसारभीरो! **(यदि चेत्)** यदि निजस्वभाव से विमुख, संसार से सभय हो तो **(भावतः)** विशुद्ध भावों से **(शृणु)** सुनो! **(इह)** अढ़ाईद्वीप में **(अमुना)** निषद्या परीषहजय से **(युतः)** सहित मुनि **(अपि)** भी **(ऋषिवरैः)** श्रेष्ठ मुनियों से **(नतिं)** नमस्कार को **(आगतः)** प्राप्त हुए हैं। अतः तुम भी **(तच्च)** उस निषद्या परीषहजय को **(श्रय)** प्राप्त करो/धारण करो। [जीवन के बहुत] **(समाः)** वर्ष **(गताः)** निकल गये हैं।

भावार्थ–अधिक कहने से क्या लाभ है? यदि तू निज स्वभाव से विमुख हो रहा है और यदि चतुर्गति रूप संसार से भयभीत है तो शुद्धभाव से सुन! इस जगत् में जो इस निषद्यापरीषहजय से सहित है वह भी मुनिवरों से नमस्कार को प्राप्त हुआ है। तू भी उस परीषहजय का आश्रय ले, जीवन के अनेक वर्ष निकल गये हैं।

श्रममितः श्रमणोऽत्र भुवि श्रुते, तपसि तत्परतः खलु विश्रुते।
इति मतं निशि यः श्रयते यते,-रतिशयं तु जिनाशय! तेऽयते॥४८॥

अन्वयार्थ–(अत्र) इस **(भुवि)** वसुधा पर **(खलु)** वास्तव में **(श्रुते)** श्रुताभ्यास में और **(विश्रुते)** प्रख्यात **(तपसि)** तपस्या में **(तत्परतः)** तत्पर रहने से **(श्रमं)** खेद–थकावट को **(इतः)** प्राप्त **(यः)** जो **(श्रमणः)** मुनि **(निशि)** रात्रि में **(श्रयते)** शय्या का आश्रय लेता है **(तु)** तो वह श्रमण **(अशय!)** हे शयन रहित! **(जिन!)** हे जिनेश! **(यतेः)** मुनिरूप **(ते)** आपके **(अतिशयं)** प्रभाव को **(अयते)** प्राप्त करता है। **(इति)** ऐसा **(मतं)** दर्शन है।

भावार्थ–इस वसुधा पर शास्त्राभ्यास और प्रख्यात तप में तत्पर रहने से खेद को प्राप्त हुआ जो साधु रात्रि में शय्या का आश्रय लेता है वह हे शयनरहित जिनेन्द्र! मुनिरूप आपके अतिशय को प्राप्त होता है, ऐसा सिद्धान्त है।

भय लगता है यदि तुझको अब विषयी जन में प्रमुख हुआ,
यह सुन ले तू चिर से शुचितम निज अनुभव से विमुख हुआ।
दृढ़तम आसन लगा आप में होता अन्तर्धान वही,
ऋषिवर भी आ उन चरणों में नमन करें गुणगान यही ॥४७॥
श्रुतावलोकन आलोड़न से मुनि का मन जब थक जाता,
खरतर द्वादशविध तप तपते साथी तन भी रुक जाता।
आगम के अनुसार निशा में शयन करे श्रम दूर करे,
फलतः हे जिन! तव सम अतिशय पावे सुख भरपूर खरे ॥४८॥

तृणशिलाफलके च सकारणं, भुवि तुरीयव्रतोन्नतिकारणम्।
न हि दिवा शयनं निशि यामकं, स कुरुते मुनिको विनियामकम्॥४९॥

अन्वयार्थ—शयन कब और क्यों करना चाहिए? यह स्पष्ट किया जाता है **(सकारणं)** स्वाध्याय और तप से उत्पन्न खेद निवारण के लिए **(तुरीयव्रतोन्नतिकारणं)** चतुर्थ ब्रह्मचर्य व्रत की उन्नति के लिए ऐसा **(शयनं)** शयन **(भुवि)** पृथ्वी पर **(तृणशिलाफलके च)** तृणों पर, शिला पर और तख्ते पर-पाटे पर **[कर्तव्यं]** करना चाहिए **(न हि दिवा)** दिन में नहीं और **(निशि)** रात्रि में भी **(स: मुनिक:)** वह मुनि **(विनियामकं)** बिना नियम-स्वच्छन्द, अधिक याम पर्यन्त **[न हि]** नहीं **(कुरुते)** करते हैं अपितु **(यामकं)** प्रहर पर्यन्त अथवा खेद पर्यन्त शयन करते हैं, अधिक नहीं।

भावार्थ—मुनि स्वाध्यायादिजनित खेद को दूर करने तथा ब्रह्मचर्य व्रत की उन्नति के लिए पृथ्वी, तृण, शिला अथवा काष्ठफलक पर शयन करते हैं। दिन में शयन नहीं करते और रात्रि में भी स्वच्छन्दतापूर्वक अधिक समय तक शयन नहीं करते।

स उपसर्ग इहाजगता सुरै, र्जडजनैर्गुणिभिर्महताऽसुरैः।
निशि न चैति मुनिस्तु पदान्तरं, ह्यविचलं सत एव सदान्तरम्॥५०॥

अन्वयार्थ—**(इह)** इस पृथ्वी पर **(अजगता)** अचेतन पदार्थों द्वारा **(सुरैः)** देवों द्वारा **(जडजनैः)** अज्ञानी मानवों द्वारा **(गुणिभिः)** मत से द्वेष रखने वाले पंडितों द्वारा **(महता)** राज्य के द्वारा **(च)** और **(असुरैः)** दानवों द्वारा **(उपसर्गे)** उपसर्ग होने पर **(स: मुनिः)** श्रमण **(निशि)** रात्रि में **(पदान्तरं)** अन्य स्थान को **(न तु एति)** नहीं जाते हैं **(सतः)** विद्यमान रहने वाले मुनि का **(अन्तरं)** हृदय **(सदा)** सर्वदा **(हि)** निश्चय से **(अविचलं)** स्थिर **(एव)** ही **[वर्तते]** रहता है।

भावार्थ—पृथ्वी पर अचेतन, देव, अज्ञानी मानव, मन से द्वेष रखने वाले गुणीजन, राज्य अथवा दानवों के द्वारा उपसर्ग किए जाने पर मुनि रात्रि में दूसरे स्थान पर नहीं जाते। उसी स्थान पर रहते हुए उन मुनि का अन्तःकरण अविचल रहता है।

भू पर अथवा कठिन शिला पर काष्ठ फलक पर या तृण पे,
शयन रात में अधिक याम तक, दिन में नहिं, संयम तन पे।
ब्रह्मचर्य व्रत सुदृढ़ बनाने यथाशक्ति यह व्रत धरना,
जितनिद्रक हो हितचिन्तक हो अतिनिद्रा मुनि मत करना॥४९॥
मुनि पर यदि उपसर्ग कष्ट हो हृदय शून्य उन मानव से,
धर्म-भाव से रहित, सहित हैं वैर-भाव से दानव से।
किन्तु कभी वे निशि में उठकर गमन करें अन्यत्र नहीं,
अहो अचल दृढ़ हृदय उन्हीं का दर्शन वह सर्वत्र नहीं॥५०॥

विजितनिद्रक एव सदा दरं, त्यजति चेदमरर्द्धिसदादरम्।
यदुपपत्तययिच्छितभोजनं, रसयुतं प्रजहाति च भो! जन!॥५१॥

अन्वयार्थ– (भो जन!) हे मुनिजन! **(विजितनिद्रकः)** निद्राजयी **(सदा)** सतत **(दरं)** डर को **(त्यजति)** छोड़ता है **(चेत्)** यदि शय्या परीषह जीतता है तो **(अमरर्द्धिसदादरं)** देवों की ऋद्धियों में सदा आदर भाव को भी छोड़ता है। **(यद् उपपत्तये)** जिस शय्या परीषहजय की उत्पत्ति के लिए वह श्रमण **(रसयुतं)** षट्रस युक्त **(च)** और **(इच्छितभोजनं)** इष्ट भोजन को भी **(प्रजहाति)** छोड़ता है।

भावार्थ–हे साधुजन! निद्रा को जीतने वाला ही सदा भय को छोड़ता है तथा देव सम्बन्धी वैभव में समीचीन आदरभाव का परित्याग करता है। शय्या परीषहजय की प्राप्ति के लिए रसीले इच्छित भोजन का भी त्याग करता है।

ससमयञ्च मुनेश्शयनं हितं, शयनमेवमटेच्छयनं हि तत्।
समुदितेऽप्यरुणे ह्युदयाचलेऽप्युडुदलो न हि खे सदयाऽचलेत्॥५२॥

अन्वयार्थ–(सदय!) हे दयालो! **(ससमयं)** समयानुरूप **(शयनं)** निद्रा लेना **(मुनेः)** मुनि को **(हितं)** हितकर है **(एवं)** ऐसा **(शयनं)** शयन ही **(तत्)** वह प्रसिद्ध **(शयनं)** शयन **(अस्ति)** है जो **(हि)** निश्चय से **(शयनं)** शयन को **(अटेत्)** प्राप्त करे अर्थात् शयन स्वयं शयन करे–आत्मा जागृत रहे। **(हि)** चूँकि **(उदयाचले)** उदयाचल पर **(अरुणे)** सूर्य के **(समुदिते)** उदित होने पर **(अपि)** भी **(उडुदलः)** नक्षत्रसमूह **(खे)** आकाश में **(न हि)** नहीं **(आचलेत्)** चलता है अर्थात् लुप्त हो जाता है।

भावार्थ–हे सदय! दयायुक्तसाधो! समयानुरूप शयन मुनि के लिए हितकारी है। इस तरह शयन ही शयन (शय्या)को प्राप्त होता है। उचित ही है क्योंकि उदयाचल पर सूर्य के उदित होने पर नक्षत्र-समूह आकाश में सब ओर नहीं चलता किन्तु अस्त हो जाता है।

सप्तभयों से रहित हुआ है जितनिद्रक है श्रमण बना,
शय्या परिषह वही जीतता दमनपना पा शमनपना।
निद्राविजयी बनना यदि है इच्छित भोजन त्याग करो,
इन्द्रियविजयी बनो प्रथम तुम रसतज निज में राग करो॥५१॥
यथासमय जो शयन परीषह तन रति तजकर सहता है,
निद्रा को ही निद्रा आवे मुनि मन जागृत रहता है।
समुचित है यह प्रमाद तज रवि उदयाचल पर उग आता,
पता नहीं कब कहाँ भागकर उडुदल गुप लुपछुप जाता॥५२॥

उपगता अदयैरुपहासतां, कलुषितं न मनो भवहा:! सताम्।
शमवतां किमु तत् बुधवन्दनं, न हि मुदेऽप्यमुदे जडनिन्दनम्॥५३॥

अन्वयार्थ—(भवहा:!) हे संसार को त्यागने वाले प्रभो! **(अदयै:)** निर्दयजनों द्वारा **(उपहासतां)** तिरस्कार को **(उपगता:)** प्राप्त हुए **(शमवतां)** कषायों के उपशमभाव को प्राप्त हुए **(सतां)** साधु सन्तों का **(मन:)** चित्त **(कलुषितं)** क्षुभित **(न)** नहीं होता **(तत्)** प्रसिद्ध **(बुधवन्दनं)** विज्ञजन कृत नमस्कार और **(जडनिन्दनं)** अज्ञजन कृत निन्दा **(अपि)** भी **(किमु)** क्या? अर्थात् उनके लिए वन्दन **(न हि मुदे)** न हर्ष के लिए है और न निन्दा **(अमुदे)** हर्षाभाव-विषाद के लिए होती है।

भावार्थ—सत्पुरुष, निर्दय मनुष्यों के द्वारा अनादर को प्राप्त होते हैं परन्तु उससे उनका मन कलुषित नहीं होता। विद्वानों का नमस्कार साधुओं के लिए क्या है? अर्थात् कुछ भी नहीं है तथा अज्ञानीजनों के द्वारा की हुई निन्दा न अहर्ष–अप्रीति के लिए होती है।

कटुककर्कशकर्णशुभेतरं, प्रकलयन् स इहासुलभेतरम्।
वचनकं विबुधस्त्विव विश्रुतिर्बलयुतोऽप्यबलश्च भुवि श्रुति:॥५४॥

अन्वयार्थ— (स:) प्रसिद्ध **(विबुध:)** विशिष्ट ज्ञानी श्रमण **(इह)** इस लोक में **(असुलभेतरं)** सुलभ **(कटुककर्कशकर्णशुभेतरं)** मर्मभेदी, कर्ण के लिए कठोर, अशुभ निंद्य **(वचनकं अपि)** वचनों को **(विश्रुति: इव)** बहरे की तरह **(प्रकलयन्)** अनसुना करते हुए उपेक्षा करते हैं अतएव **(भुवि)** पृथ्वी पर **(तु)** ऐसी **(श्रुति:)** श्रुति प्रसिद्ध है कि **(बलयुत:)** सबल मुनि भी **(अबल: च)** बलहीन ही **[प्रतीयते]** प्रतीत होते हैं।

भावार्थ—आक्रोशपरीषह को सहन करने वाले ज्ञानी मुनिराज इस जगत् में सुलभ, कटुक, कठोर और कानों के लिए अप्रिय निन्द्यवचन की ऐसी उपेक्षा करते हैं मानो उन्होंने सुना भी न हो, बहरे हो। इसीलिए पृथ्वी पर ऐसी श्रुति प्रसिद्ध हुई कि वह बलसहित होकर बलरहित थे।

असभ्य पापी निर्दय जन वे करते हों उपहास कभी,
किन्तु न होता मुनि के मन की उज्ज्वलता का नाश कभी।
तुष्ट न होते समता-धारक सुधीजनों के वन्दन से,
रुष्ट न होते शिष्ट साधुजन कुधीजनों के निन्दन से॥५३॥
क्रोध जनक हैं कठोर, कर्कश, कर्ण कटुक कुछ वचन मिले,
विहार वेला में सुनने को अपने पथ पर श्रमण चले।
सुनते भी पर बधिर हुए-से आनाकानी कर जाते,
सहते हैं आक्रोश परीषह अबल, 'सबल होकर भाते॥५४॥

गतमलो विरसस्त्विति कारणात्, वचनतः पृथगस्मि च कारणात्।
मम न हानिरतोऽस्तु सुचिन्तति, प्रलभतेऽत्र मुनेः स्वशुचिं ततिः॥५५॥

अन्वयार्थ—(यतः) जिस कारण से **(अहं)** मैं **(गतमलः)** मल रहित हूँ **(विरसः तु)** रस रहित भी हूँ **(इति)** इस कारण **(वचनतः)** दुष्ट वचन से **(च)** और **(कारणात्)** वध से **(पृथग् अस्मि)** पृथक् हूँ। **(अतः)** वचनों से और वध से **(मम)** मेरी **(हानिः)** क्षति **(न अस्तु)** नहीं है। **(इति)** ऐसा निर्ग्रन्थ दिगम्बर श्रमण **(सुचिन्तति)** विचार करते हैं। उपर्युक्त चिन्तन से **(मुनेः ततिः)** मुनियों की परम्परा **(अत्र)** इस मनुष्य लोक में **(स्वशुचिं)** आत्मशुद्धि को **(प्रलभते)** प्राप्त करती है।

भावार्थ—मैं मल से रहित हूँ और रस से रहित हूँ, इस कारण दुष्टजन के वचन तथा कारण-वध से मेरी कुछ भी हानि नहीं है, ऐसा चिन्तन करते हैं। इस प्रकार के चिन्तन से मुनियों का समूह आत्मशुद्धि को अच्छी तरह प्राप्त होता है।

कुमतिभिर्दलितोऽपि सखेदितः, सुपथवञ्चित एव सखेऽर्दितः।
अविरतो विमुखः प्रतिकारतः, जयतु यस्य स वै समकारतः॥५६॥

अन्वयार्थ— (कुमतिभिः) मिथ्यादृष्टियों के द्वारा **(दलितः अपि)** पीड़ित भी **(सखेदितः)** खेदखिन्न भी **(सुपथवञ्चितः)** सुमार्ग से परिभ्रष्ट-मार्ग से भटका हुआ **(एव)** ही **(सखे)** कुश सहित वन में **(अर्दितः)** दुखी किया गया भी जो **(अविरतः)** स्वात्म ध्यान से विरत-विचलित नहीं होता। **(प्रतीकारतः)** विपत्तियों के प्रतिकार से **(विमुखः)** पराङ्मुख होता है। **(समकारतः)** माध्यस्थ्य भाव से **(वै)** निश्चय से **(यस्य)** जिसकी ऐसी परिणति है **(सः)** वह आक्रोश परीषहजयी साधु **(जयतु)** जयवन्त हों।

भावार्थ—यदि मुनिराज मिथ्यादृष्टियों-जिनमतद्वेषी लोगों के द्वारा खिन्न किए जाते हैं तथा समीचीन मार्ग भूलकर कुश तथा कंटकाकीर्ण वनक्षेत्र में चलकर खेद पाते हैं तो भी वे अपने गृहीतमार्ग संयम की साधना से विरत नहीं होते हैं। आयी विपत्ति का प्रतिकार भी नहीं करते। समताभाव से युक्त रहते हैं ऐसे मुनि जयवन्त रहें।

इन्द्रियगण से रहित रहा हूँ, मल से रस से रहित रहा,
रहा इसी से पृथक् वचन से, चेतन बल से सहित रहा।
निन्दन से फिर हानि नहीं है, विचार करता इस विध है,
प्रहार करता जड़विधि पे मुनि, निहारता निज बहुविध है॥५५॥
सही मार्ग से भटक चुके हैं चलते-चलते त्रस्त हुए,
भील, लुटेरों, मतिमन्दों से घिरे हुए दुखग्रस्त हुए।
उनका न प्रतीकार तथापि करते यति जयवन्त रहे,
समता के हैं धनी-गुणी हैं पापों से भयवन्त रहे॥५६॥

फलमिदं तु पुराकृतशावरे, समुदिते न पराकृतशावरे।
इह परे प्रभवो व्यवहारतः, स मनुते हि निजेऽव्रतहा रतः॥५७॥

अन्वयार्थ—स्वयं के **(पुराकृतशावरे)** पूर्वकृत पाप के **(समुदिते तु)** उदय आने पर तो **(इदं फलं)** उपसर्ग प्राप्त हुआ है **(न पराकृतशावरे)** न कि परकृत पाप के उदय से प्राप्त हुआ है। **(इह)** इस जगत् में **(परे)** पर पदार्थ में **(प्रभवः)** कारण का कथन होता है वह **(व्यवहारतः)** व्यवहार से है। **(हि)** निश्चय से **(निजे)** स्वात्मा में **(रतः)** रत **(अव्रतहाः)** असंयम को हरने वाले **(सः)** वे मुनि ऐसा **(मनुते)** मानते हैं।

भावार्थ—यह उपसर्गरूप फल पूर्वकृत पाप के उदित होने पर प्राप्त हुआ है न कि अन्यकृत अपराध के होने पर। इस जगत् में पर पदार्थ में जो कारण का कथन होता है वह व्यवहार–उपचार से होता है। निजात्मा में लीन साधु ऐसा मानते हैं।

तनुरुषोऽरुणताऽशुचिसागरा, वधमिता भवदाशु च सागरा।
मम ततः क्षतिरस्ति न काचन, चरणबोधदृशो ध्रुवकाश्च न!॥५८॥

अन्वयार्थ— **(न!)** हे जिन! **(मम)** मुझ मुनि की **(सा तनुः)** वह देह **(उषः)** प्रत्यूष काल की **(अरुणता)** लालिमा की तरह क्षणभंगुर है **(अशुचिसागरा)** अशुद्धि का समुद्र है **(आशुभवदा च)** शीघ्र संसार को देने वाली **(आगरा)** आ–सब ओर से, गरा–विष, गरं–रोग हैं जिसमें ऐसी देहमूर्ति यदि **(वधं)** वध को **(इता)** प्राप्त हो जाये तो **(ततः)** उस वध से **[मम]** मेरी **(काचन)** कुछ भी **(क्षतिः)** हानि **(न अस्ति)** नहीं है। [यदि वध से यह शरीर नाश को प्राप्त हो भी जाये तो] **(चरणबोधदृशः)** चारित्र, ज्ञान और सम्यग्दर्शन ये तीनों **(ध्रुवकाः च)** नित्य ही है–नष्ट नहीं हुए हैं।

भावार्थ—वध का प्रसंग आने पर साधु ऐसा विचार करता है कि हे जिन! मेरा वह शरीर प्रातःकाल की लालिमा है। अशुचिता का सागर उसमें लहरा रहा है, भव को देने वाला है अथवा वर्तमान पर्याय को नष्ट करने वाला है और सब ओर से विषरूप अथवा रोगों से सहित है। ऐसा शरीर यदि वध को प्राप्त हो रहा है तो इससे मेरी कुछ भी हानि नहीं है क्योंकि मेरे दर्शन, ज्ञान और चारित्र ध्रुवरूप हैं–नष्ट नहीं हुए हैं।

मोह-भाव से किया हुआ था, पाप पाक यह उदित हुआ,
पर का यह अपराध नहीं है, उपादान खुद घटित हुआ।
पर का इसमें हाथ रहा हो, निमित्त वह व्यवहार रहा,
अविरति-हन्ता नियमनियन्ता, कहते जिनमतसार रहा॥५७॥
काया लाली रही उषा की, अशुचिराशि है लहर रही,
भवदुखकारण, कारण भ्रम का, शरण नहीं है जहर रही।
इसका यदि वध हो तो हो, पर इससे मेरा नाश कहाँ?
बोध-धाम हूँ चरण सदन हूँ, दर्शन का अवकाश यहाँ॥५८॥

विविधकर्मलयास्रवहेतवः, किल हिताहितका जड़ हे! तव।
पथि सतीति मुनेर्मुनिचालकाः, सुकथयन्त्यनघाघविचालकाः॥५९॥

अन्वयार्थ– (हे जड!) हे अज्ञ! **(ये)** जो **(विविधकर्मलयास्रवहेतवः)** अनेक कर्मों के लय–संवर के और आस्रव के हेतुभूत भाव हैं वे **(किल)** ही **(सति पथि)** सन्मार्ग में **(तव मुनेः)** तुझ मुनि के **(हिताहितकाः)** हितरूप भाव संवर के, अहितरूप भाव आस्रव के कारण हैं। **(इति)** ऐसा **(अनघाघविचालकाः)** पुण्य–पाप के विचारक **(मुनिचालकाः)** मुनियों को चलाने वाले मुनिनायक आचार्यदेव **(सुकथयन्ति)** कहते हैं।

भावार्थ–वध का प्रसंग आने पर मुनि इस प्रकार आत्मसंबोधन करते हैं–हे अज्ञ आत्मन्! नाना प्रकार के कर्मों के संवर और आस्रव में कारणभूत जो भाव हैं वे ही यथार्थतः कल्याणमार्ग में तेरे मित्र और शत्रु हैं अर्थात् जो संवर के कारण हैं वे हितरूप हैं और जो आस्रव के कारण हैं वे अहितरूप हैं। इस तरह पुण्य–पाप का विचार करने वाले आचार्य कहते हैं।

वसतिकाप्रभृतेर्नहि याचना–मृषिरिहायति दीनतया च ना!
यदनया लयते निजतन्त्रता, न भजिता विदुषा परतन्त्रता॥६०॥

अन्वयार्थ– (इह) इस लोक में **(ऋषिः)** मुनि पद से शोभित **(ना)** पुरुष **(दीनतया च)** दीनभाव से **(वसतिकाप्रभृतेः)** वसतिका आदि की **(याचनां)** याचना को **(न हि)** नहीं **(अयति)** प्राप्त करते हैं। **(यत्)** क्योंकि **(अनया)** याचना से **(निजतन्त्रता)** स्वाधीनता **(लयते)** नष्ट होती है। **(विदुषा)** विद्वानों के द्वारा **(परतन्त्रता)** पराधीनता **(न भजिता)** स्वीकार नहीं की जाती है।

भावार्थ–इस जगत् में ऋषिपदधारी मनुष्य दीनता से वसतिका आदि की याचना नहीं करता क्योंकि इस याचना से स्वाधीनता नष्ट हो जाती है तथा विद्वान् के द्वारा परतन्त्रता का सेवन नहीं होता।

बहुविध विधि का संवर होने में हित निश्चित निहित रहा,
पापास्रव में कारण होता शिवपथ में वह अहित रहा।
अन्ध मन्दमति! वधक नहीं ये बाह्यरूप में साधक हैं,
पाप पुण्य के भेद जानते कहते मुनिगण–चालक हैं॥५९॥
अशन वसतिकादिक की ऋषिगण नहीं याचना करते हैं,
तथा कभी भी दीन–हीन बन नहीं पारणा करते हैं।
निजाधीनता फलतः निश्चित लुटती है यह अनुभव है,
पराधीनता किसे इष्ट है वही पराभव, भव–भव है॥६०॥

यदनुवृत्ति ऋषिं हि सदोषतां, नयति चैव लयं गतदोषताम्।
उडुपतिर्ग्रसितो निशि केतुना, त्विति विचिन्त्य वसेन्निजके तु ना॥६१॥

अन्वयार्थ— **(यद् अनुवृत्तिः)** चूँकि याचना का अनुसरण **(ऋषिं)** मुनि को **(सदोषतां हि)** दोष सहितता को **(नयति)** प्राप्त कराता है **(चैव)** और **(गतदोषतां)** निर्दोषता को **(लयं)** नष्ट करता है। जिस प्रकार **(निशि)** रात्रि में **(उडुपतिः)** चन्द्र **(केतुना)** केतु ग्रह के द्वारा **(ग्रसितः)** ग्रसित होता हुआ सदोषता को प्राप्त करता है **(इति तु)** ऐसा **(विचिन्त्य)** विचार करके **(ना)** महापुरुष **(निजके)** निजात्मा में **(वसेत्)** वसता है।

भावार्थ—याचना का अनुसरण साधु को सदोषता प्राप्त कराता है और निर्दोषता को नष्ट करता है। जिस प्रकार रात्रि में राहू के द्वारा ग्रसित चन्द्रमा सदोषता को प्राप्त होता है उसी प्रकार याचना से ग्रसित साधु सदोषता को प्राप्त होता है। ऐसा विचार कर मनुष्य को निजात्मा में ही निवास करना चाहिए।

सुकुफलं मिलतीह नियोगतः, स्वयमयाचितकं विधियोगतः।
अथ मुने! भव हे त्वमयाचक-श्चलिततत्त्वविधिर्भुवि याचकः॥६२॥

अन्वयार्थ— **(इह भुवि)** इस भूमि पर **(विधियोगतः)** कर्म के योग से **(सुकुफलं)** अच्छा-बुरा फल **(अयाचितकं)** बिना मांगे **(नियोगतः)** नियम से **(स्वयं)** स्वतः **(मिलति)** मिलता है अतः **(हे मुने!)** हे मुनि श्रेष्ठ! **(त्वं)** तू **(अयाचकः भव)** अयाचक हो। **(अथ)** यदि **(याचकः)** याचक होते हो तो **(चलिततत्त्वविधिः)** वस्तु तत्त्व की विधि-श्रद्धा से चलित हो जाओगे।

भावार्थ—इस जगत् में कर्मयोग से अच्छा-बुरा फल नियम से स्वयं मिलता है। अतः हे मुने! तुम अयाचक रहो किसी वस्तु की याचना नहीं करो। इसके विपरीत यदि याचक होते हो तो निश्चित ही तुम तत्त्वश्रद्धा से विचलित होगे। सुख-दुःख, लाभ-अलाभ स्वकर्मों के अधीन हैं।

निज पद गौरव तज यदि यति हो मनो-याचना करते हैं,
दर्पण सम उज्ज्वल निज पद को पूर्ण कालिमा करते हैं।
शुचितम शशि भी योग केतु का पाकर ही वह शाम बने,
यही सोचकर साधु सदा ये निज में ही अविराम तने॥६१॥
बिना याचना, कर्म उदय से यह घटना निश्चित घटती,
कभी सफलता, कभी विफलता भेद-भाव बिन बस बटती।
इसीलिए मत याचक बनना भूल कभी बन भ्रान्त नहीं,
याचक बनता नहीं जानता कर्मों का सिद्धान्त सही॥६२॥

व्रजति चैव मुनिर्मृगराजतां, जितपरीषहको मुनिराजताम्।
इति न चेल्लघुतामुपहासतां, सुगत एव गतोऽशुभहाः सताम् ॥६३॥

अन्वयार्थ—(जितपरीषहकः) परीषह जीतने वाले **(मुनिः)** मुनि **(मृगराजतां)** सिंहपने को/स्वतन्त्रता को **(च)** और **(मुनिराजतां)** मुनिश्रेष्ठता को **(एव)** नियम से **(व्रजति)** प्राप्त करते हैं **(चेत्)** यदि **(इति न)** परीषहजयी नहीं हो तो **(अशुभहाः)** अशुभ को नाश करने वाला, मुनि **(सुगतः [अपि])** ज्ञानी होकर भी **(लघुतां)** हीनपने को और **(सतां)** साधुओं के मध्य में **(उपहासतां)** हास्यपने को **(एव)** नियम से **(गतः)** प्राप्त करता है।

भावार्थ—परीषहों को जीतने वाला मुनि ही सिंह के समान स्वात्मनिर्भरता और मुनियों के आधिपत्य को प्राप्त होता है। यदि इसके विपरीत है तो अशुभ को नष्ट करने वाला मुनि ज्ञानी होने पर भी लघुता और सत्पुरुषों के बीच उपहास को प्राप्त होता है तथा परीषहजयी साधु, साधुओं के बीच में अपने गौरव की रक्षा करता है।

अनियतं विहरन्नपि स क्षमः, शृणु कृतानशनः खलु सक्षमः।
अलभमान ऋषिर्ह्यशनं कर! सुलभमान इवाऽऽवदनंकरः ॥६४॥

अन्वयार्थ—(कर!) क–सुख को, र–देने वाले हे सुखद मुने! ऐसा **(शृणु)** सुनो। **(सक्षमः)** क्षमाधर्म से भूषित **(कृतानशनःअपि)** उपवास से युक्त भी **(सः)** वह मुनि **(अनियतं)** अनियत **(विहरन्)** विहार करता हुआ **(खलु)** निःसंदेह **(क्षमः)** समर्थ होता है। **(हि)** क्योंकि **(ऋषिः)** मुनि **(अशनं)** आहार को **(अलभमानः)** नहीं प्राप्त करके भी **(सुलभमानः इव)** प्राप्त हुए के समान **(आवदनं करः)** सब तरफ से प्रसन्नमुखी होते हैं।

भावार्थ—हे कर! हे सुखद! सुनो क्षमा धर्म से विभूषित मुनि अनियत विहार करते हुए तथा उपवास से युक्त होते हुए भी अपनी दिनचर्या में समर्थ रहते हैं। आहार न मिलने पर भी उनका मुख आहार मिलने वाले के मुख के समान अत्यन्त प्रसन्न रहता है।

यांचा परिषह विजयी वह मुनि-समाज में मुनिराज बने,
स्वाभिमान से मंडित जिस विध हो वन में मृगराज तने।
यांचा विरहित यदि ना बनता, जीवन का उपहास हुआ,
विरत हुआ पर बुध कहते वह, गुरुता का सब नाश हुआ ॥६३॥
अनियत विहार करता फिर भी, निर्बल सा ना दीन बने,
तथा किया उपवास तथापि, परवश ना! स्वाधीन बने।
भोजन पाने चर्या करता, पर भोजन यदि नहिं मिलता,
विषाद करता नहिं पर, भोजन मिला हुआ-सा मुख खिलता ॥६४॥

रसयुते मिलिते न हि नीरसे, परिगतो विरतिं स मुनीरसे।
प्रमुदितः क्षुभितो न हि मे विधेः, प्रतिफलं त्विति वै मनुते विधे!॥६५॥

अन्वयार्थ– **(विधे!)** हे विधातः! **(रसे)** दुग्धादिक रसों में **(विरतिं)** विरक्ति को **(परिगतः)** प्राप्त **(सः मुनिः)** वह मुनि **(रसयुते)** घृतादिक सहित अथवा **(नीरसे)** रसों से रहित [आहार के] **(मिलिते)** मिलने पर **(न हि)** नहीं **(प्रमुदितः)** प्रसन्न होते हैं और **(न हि क्षुभितः)** न ही खिन्न होते हैं। **(तु)** किन्तु प्राप्त आहार में यह **(मे)** मेरा **(विधेः)** कर्म का **(प्रतिफलं)** प्रतिफल है **(इति)** ऐसा **(वै)** निश्चय से **(मनुते)** मानते हैं।

भावार्थ–हे विधातः! घृतदुग्धादिरसों में विरक्ति को प्राप्त हुआ मुनि सरस अथवा नीरस आहार के मिलने पर प्रसन्न अथवा कुपित नहीं होता। किन्तु यह हमारे कर्म का फल है, निश्चय से ऐसा मानता है।

श्रुतिसुधामशनं समितातपः, स समुपात्ति शमी शमितातप!
उपरि दृश्यत एव सदाऽसुखी, कृशतनु र्ह्यतनौ विमदः सुखी॥६६॥

अन्वयार्थ– **(शमितातप!)** शमी–जितेन्द्रिय, तात–अनुकंपा योग्य शिष्यों के, प–पालक =अनुकम्पा को पालन करने वाले हे जितेन्द्रिय शिष्य संरक्षक! **(शमी)** लोकोत्तर शान्ति युक्त **(सः)** वह मुनि **(श्रुतिसुधां)** जिनागमरूप अमृत को और **(समितातपः)** सम्यक् तपरूप **(अशनं)** आहार को **(समुपात्ति)** सम्यक् प्रकार से ग्रहण करता है, भक्षण करता है **[सः]** वह **(कृशतनुः)** क्षीणकाय मुनि **(उपरि)** बाह्य में **(एव)** ही **(सदा)** सतत **(असुखी)** दुखी **(दृश्यते)** दिखायी देता हैं **(अतनौ)** देह रहित आत्मा में **(हि)** परमार्थ से **(विमदः)** मद रहित **(सुखी)** सुखी होता है।

भावार्थ–हे शमि–तातप! हे जितेन्द्रिय–दयापात्र शिष्यों के रक्षक भगवन्! लोकोत्तर शान्ति से युक्त वे मुनिराज शास्त्ररूपी सुधा और सम्यक् तपरूप आहार का अच्छी तरह उपभोग करते हैं। कृश शरीर वाले वे मुनि बाहर से ही सदा दुःखी दिखाई देते हैं। आत्मा में तो मदरहित सुख सम्पन्न ही रहते हैं।

इष्ट मिष्ट रस-पूरित भोजन, मिलने पर हो मुदित नहीं,
अनिष्ट नीरस मिलने पर भी, दुखित नहीं हो क्रुधित नहीं।
सहित रहा संवेग भाव से, सर्व रसों से विरत बना,
चिंतन करता यह सब विधिफल, साधु गुणों से भरित बना ॥६५॥
करते श्रुतमय सुधापान हैं, द्वादशविध तप अशन दमी,
दमन कर रहे इन्द्रिय तन का, कषायदल का शमन शमी।
केवल दिखते बाहर से ही, क्षीणकाय हो दुखित रहे,
भीतर से संगीत सुन रहे, जीत निजी को सुखित रहे ॥६६॥

बुधनुतः स मुनिप्रवरो गतः, सभयतां नितरां भवरोगतः।
न हि बिभेति सुधीस्तनुरोगतः, स्तुतिरतो जिन! ते गतरोगतः॥६७॥

अन्वयार्थ– (जिन!) हे अर्हन्! **(भवरोगतः)** जन्म–मरणरूपी संसार के रोग से **(नितरां)** अत्यन्त **(सभयतां)** भीरुता को **(गतः)** प्राप्त **(सः)** वह **(बुधनुतः)** विद्वानों से संस्तुत **(सुधीः)** श्रेष्ठज्ञानी **(मुनिप्रवरः)** गुरुवर्य **(तनुरोगतः)** देह रोग से **(न हि बिभेति)** नहीं डरता है। अपितु **(गतरोगतः)** रोग रहित **(ते)** आप जिनवर की **(स्तुतिरतः)** स्तुति में तल्लीन होता है।

भावार्थ–हे जिन! जन्मजरामरणरूपसंसार सम्बन्धी रोग से अत्यन्त भय को प्राप्त, बुधस्तुत श्रेष्ठ मुनि शरीरसम्बन्धी रोग से भयभीत नहीं होता। वह तो रोगरहित होने से आपकी भक्ति में लीन रहता है।

विधिदलाः बहुदुःखकरामया, बहव आहुरपीह निरामयाः।
अशुचिधामनि चैव निसर्गतः, क्षरणमेव विधेरुपसर्गतः ॥६८॥

अन्वयार्थ–(निसर्गतः) स्वभाव से **(एव)** ही **(अशुचिधामनि)** अशुचि के स्थान **(इह)** इस शरीर में **(बहवः)** अनेक **(बहुदुःखकरामयाः)** अतिदुखकर आमय–रोग हैं **(च)** और **(विधिदलाः)** कर्मसमूह **(अपि)** भी हैं। **(उपसर्गतः)** उपसर्गों से **(विधेः क्षरणं)** कर्म की निर्जरा **(एव)** ही होती है। **[इति]** ऐसा **(निरामयाः)** नीरोग जिनवर **(आहुः)** कहते हैं।

भावार्थ–स्वभाव से ही अपवित्रता के स्थानभूत इस शरीर में अनेक दुःखप्रद रोगों को करने वाले कर्मसमूह–एक सौ अड़तालीस, संख्यात, असंख्यात, अनन्त प्रकार के विद्यमान हैं, ऐसा रोगरहित जिनेन्द्र भगवान् कहते हैं। उपसर्ग से तो कर्म की निर्जरा ही होती है।

जनन जरा औ मरण रोग से श्वास-श्वास पर डरता है,
जिसके चरणों में आकर के नमन विज्ञ दल करता है।
दुष्कृत फल है दुस्सह भी है महा भयानक रोग हुआ,
प्रभु पदरत मुनि नहिं डरता है धरता शुचि उपयोग हुआ ॥६७॥
सभी तरह के रोगों से जो मुक्त हुए हैं बता रहे,
कर्मों के ये फल हैं सारे, खारे जग को सता रहे।
रोगों का ही मन्दिर तन है अन्दर कितने पता नहीं,
उदय रोग का, कर्म मिटाता ज्ञानी को कुछ व्यथा नहीं ॥६८॥

सुरभिचंदनलेपनरञ्जनात्, विरहितोऽपि सुधी र्मुनिरञ्जनात्।
अनघभेषजकं तु विधेयकं, भजतु रोगलयाय विधेऽयकम् ॥६९॥

अन्वयार्थ–(अयकं) यह **(सुधीः)** सुबुद्धि **(मुनिः)** यति **(सुरभिचन्दनलेपनरञ्जनात्)** सुगंधित चंदनलेपन के अंगराग **(तु)** और **(अञ्जनात्)** नयन कज्जल से **(विरहितः अपि)** रहित भी **(रोगलयाय)** रोग नाश के लिए **(विधेयकं)** ग्रहण करने योग्य **(अनघभेषजकं)** निर्दोष औषधि को **(विधे!)** हे विवेकिन् मुने! **(भजतु)** ग्रहण करो।

भावार्थ–हे विधे! यह विवेकवान् मुनि, सुगन्धित चन्दन के विलेपनरूप अंगराग तथा नेत्रों के कज्जल से रहित होने पर रोग का नाश करने के लिए योग्य निर्दोष औषध का सेवन कर सकता है।

ध्रुवममुं मुनिना भजता मितं, सुकृतजं निजकं स्ववतामितम्।
प्रणिहितं बहुना किमु सादरं, विजहतं श्रय तं सहसा दरम् ॥७०॥

अन्वयार्थ– (ध्रुवं) नित्य **(निजकं)** निजात्मा की **(स्ववता)** अच्छी तरह रक्षा करने वाले मुनि के द्वारा **(अमुं)** रोग परीषह को **(भजता)** सहन करने के फलस्वरूप **(सुकृतजं)** पुण्य से उत्पन्न **(मितं)** स्वर्गादि का अल्प **(अमितं)** मोक्ष के अपरिमित **(निजकं)** आत्मसुख का **(भजता)** अनुभव करने वाले **(मुनिना)** मुनि के द्वारा जिसे **(प्रणिहितं)** धारण किया जाता है **(तं)** उस रोग परीषह को **(सादरं)** उत्साह सहित **(श्रय)** प्राप्त करो और **(दरं)** भय को **(सहसा)** शीघ्र **(विजहतं)** त्याग करो **(किमु बहुना)** अधिक कथन से क्या प्रयोजन है?

भावार्थ–नित्य निज आत्मा की रक्षा करते, इस रोग परिषह को सहते और उसके फलस्वरूप पुण्य से उत्पन्न स्वर्गादिक के सीमित तथा अपरिमित आत्मसुख को प्राप्त होने वाले मुनि ने जिसे धारण किया है–सहन किया है उस रोगपरिषह को आदरसहित सहन कर और प्रसिद्ध भय को नष्ट कर! अधिक कहने से क्या प्रयोजन है?

सुगन्ध चन्दन तैलादिक से तन का कुछ संस्कार नहीं,
वसनाभूषण आभरणों से किसी तरह शृंगार नहीं।
फिर भी तन में रोग उगा हो पाप कर्म का उदय हुआ,
उसे मिटाने प्रासुक औषध मुनि ले सकता सदय हुआ ॥६९॥
रोग परीषह प्रसन्न मन से जो मुनि सहता ध्रुव ज्ञाता,
सुचिरकाल तक सुरसुख पाता अमिट अमित फिर शिव पाता।
अधिक कथन से नहीं प्रयोजन मरण भीति का नाश करो,
सादर परिषह सदा सहो बस! निजी नीति में वास करो ॥७०॥

यदि तृणं पदयोश्च निरन्तरं, तुदति लाति गतौ मुनिरन्तरम्।
तदुदितं व्यसनं सहतेऽञ्जसा-हमपि तच्च सहे मतितेजसा ॥७१॥

अन्वयार्थ– (यदि) यदि **(तृणं)** कंटकादिक **(पदयोः)** दोनों चरण में **(निरन्तरं)** सतत **(तुदति)** पीड़ा करता है **(च)** और **(गतौ)** गति–गमन में **(अन्तरं)** व्यवधान **(लाति)** लाता है **[तर्हि]** तो **(मुनिः)** साधु **(तदुदितं)** उस तृणादिजन्य **(व्यसनं)** कष्ट को **(अञ्जसा)** सच्चे मन से **(सहते)** सहन करते हैं। **(अहमपि)** मैं भी **(तत् च)** उस तृणस्पर्श परीषह को **(मतितेजसा)** सम्यग्ज्ञान के प्रताप से **(सहे)** सहन करता हूँ।

भावार्थ–यदि कण्टकादि तृण पैरों में निरन्तर पीड़ा करता है और गति में व्यवधान लाता है तो मुनि उससे उत्पन्न कष्ट को वास्तव में सहन करते हैं। मैं भी भेदज्ञान के प्रताप से उस विद्यमान कष्ट को सहन करता हूँ।

विकचपुष्पचया विलसन्ति ते, परिवृता अलिभिस्त्विह सन्ति तैः।
विषमशूलतृणादिहता विधे! ह्यविकला न चलाः सुगता विधेः ॥७२॥

अन्वयार्थ–(विधे!) हे ईश्वर! **(इह)** जगत् में **(तैः)** उन प्रसिद्ध सुगंध लोलुपी **(अलिभिः)** भ्रमरों से **(परिवृताः)** वेष्टित **(विकचपुष्पचयाः)** विकसित पुष्पसमूह **(विलसन्ति)** शोभित होते हैं **(तु)** किन्तु **(ते)** वे पुष्पसमूह **(विषमशूलतृणादिहताः)** तीक्ष्ण कंटक तृणादि से विद्ध होकर भी **(हि)** निश्चय से **(अविकलाः)** खेदखिन्न रहित प्रमुदित **(सन्ति)** रहते हैं। **(सुगताः)** स्वयं में प्रसन्न होते हुए **(विधेः)** अपने कार्य से **(चलाः)** च्युत **(न)** नहीं होते हैं।

भावार्थ–तृणस्पर्श आदि की बाधा उपस्थित होने पर मुनि विचार करते हैं कि हे ब्रह्मन्! इस जगत् में सुगन्धलोभी भ्रमरों से घिरे जो विकसित पुष्पों के समूह सुशोभित हो रहे हैं वे विषम कण्टक तथा तृण आदि से आहत–विद्ध होकर भी दुःखी नहीं होते हैं और न अपने कार्य से विचलित होते हैं।

तृण कंटक पद में वह पीड़ा सतत दे रहे दुखकर हैं,
गति में अंतर तभी आ रहा रुक-रुक चलते मुनिवर हैं।
उस दुस्सह वेदन को सहते-सहते रहते शान्त सदा,
उसी भाँति मैं सहूँ परीषह शक्ति मिले, शिव शान्ति सुधा॥७१॥
खुले खिले हों डाल-डाल पर फूल यथा वे हँसते हैं,
जिनकी पराग पीते अलि-दल चुम्बन लेते लसते हैं।
विषम, विषमतर शूल तृणों से आहत हैं पर तत्पर हैं,
निज कार्यों में बिना विफल हो कहते हमसे तन पर है॥७२॥

विचरणे शयनासनयोः सतः, सुखमुदेति सुखात् मृगयो! सतः।
शमसुखोदधिरेव विरागतः, त्वकवते जगते बहिरागतः॥७३॥

अन्वयार्थ– **(मृगयो!)** हे ब्रह्मन्! **(सतः)** गमन करने वाले **(सतः)** साधु के **(विचरणे)** विहार करने में **(शयनासनयोः)** शयन और आसन में **(सुखात्)** सुख से **(सुखम् उदेति)** सुख ही उत्पन्न होता है **(अकवते)** [अक–दुख, वत्–सहित] दुःखी **(जगते)** जगत् को सुखी करने के लिए उनके अन्तर में विद्यमान **(शमसुखोदधिः एव)** शान्ति और सुख का सागर ही **(तु)** मानो **(विरागतः)** वैराग्य के कारण **(बहिः आगतः)** बाहर आ गया है।

भावार्थ–हे ब्रह्मन्! विहार करने वाले साधु के विहार, शयन और आसन में सुख से सुख ही उत्पन्न होता रहता है अर्थात् कष्ट होने पर भी उनकी प्रसन्नता स्थिर रहती है। ऐसा जान पड़ता है मानों उनके भीतर जो शम और सुख का सागर लहरा रहा है वह विरागता के कारण दुःखी संसार को सुखी करने के लिए ही बाहर आ गया है।

यदि कदाचिदतो हृदि जायते, वपुषि चाकुलता विधिजा यतेः।
न हि विना यदनेन विसातनं, त्विति विधेः समयेऽन्यदसाधनम्॥७४॥

अन्वयार्थ– **(यदि कदाचित्)** यदि कभी **(यतेः)** मुनि के **(हृदि)** हृदय में **(च)** और **(वपुषि)** शरीर में **(विधिजा)** कर्मोदय से उत्पन्न **(आकुलता)** वेदना **(जायते)** उत्पन्न होती है **[तदा]** उस समय **(तु इति)** वह मुनि इस प्रकार **[चिन्तयति]** चिन्तन करता है **(यत्)** कि **(अनेन विना)** परीषह के बिना **(विधेः)** कर्म की **(विसातनं)** निर्जरा **(न हि)** नहीं होती है। **(अतः)** इसलिए **(समये)** आगम में परीषहजय से **(अन्यत्)** अन्य–भिन्न **(असाधनं)** निर्जरा का हेतु नहीं हैं। ऐसा चिन्तन करके मुनि तन–मन की पीड़ा का निवारण करते हैं।

भावार्थ–यदि कदाचित् मुनि के हृदय और शरीर में कर्मोदय से समुत्पन्न आकुलता होती है तो वह इस प्रकार चिन्तन करता है कि परीषह के बिना कर्म की निर्जरा नहीं होती। आगम में इसके अतिरिक्त अन्य को निर्जरा का असाधन कहा है।

कठिन-कठिनतर शयनासन में कंटक पथ पर विचरण में,
सुख ही सुख अवलोकित होता मुनियों के आचरणन में।
भीतर से बाहर आने को शम सुख सागर मचल रहा,
दुखित जगत को सुखित बनाने यतन चल रहा सकल रहा॥७३॥
कभी-कभी आकुलता यदि हो मन में तन में वेदन हो,
प्रतिफल हो, फल कर्मचेतना चेतन में पर खेद न हो।
बिना वेदना प्रथम दशा में कर्मों का वह क्षरण नहीं,
समयसार का गीत रहा यह औ सब बाधक शरण नहीं॥७४॥

परिमलं गुणवन्निजभावि त-दचलवस्तु मया किल भावितम्।
मलमलं हि ततोऽत्र भवस्तुत! मुनिनुतं शुचिवस्तु तु वस्तुतः॥७५॥

अन्वयार्थ—जो **(गुणवत्)** अनेक गुणसम्पन्न **(निजभावि)** होनहार स्वभावयुक्त **(मया)** मुझ मुनि के द्वारा **(भावितं)** चिन्तित **(अचलवस्तु)** अविनश्वर पदार्थ आत्मा है **(तद्)** वही **(किल)** निश्चय से **(परिमलं)** चित्तहारी गंध है **(ततः)** उस कारण से **(भवस्तुत!)** हे लोकसंस्तुत! **(अत्र)** शरीर पर जो **(मलं)** मलिनता है उससे **(अलं)** क्या? **(तु हि)** किन्तु **(वस्तुतः)** परमार्थ से **(मुनिनुतं)** मुनियों के द्वारा स्तुत जो **(वस्तु)** वस्तु है वह आत्मवस्तु ही **(शुचि)** पवित्र है, निर्मल है।

भावार्थ—जो ज्ञानादि गुणों से सहित हैं, निजभाव से युक्त हैं और मैं जिसकी निरन्तर भावना करता हूँ वह अविनाशी आत्मवस्तु ही निश्चय से मनोहारी सुगन्ध है। हे भवस्तुत! हे सर्वलोकवन्दित भगवन्! इस शरीर पर जो मल-मैल संलग्न है वह व्यर्थ है—उसकी क्या चिन्ता करना है। परमार्थ से मुनियों के द्वारा स्तुत आत्मरूप वस्तु ही पवित्र है।

पलमलैर्निचिता धिगचेतना, प्रकृतितो दुरभेश्च निकेतना।
मलजनीस्तनुरीशविभाषिता, तदनुगा तु सतोऽपि विभा सिता॥७६॥

अन्वयार्थ— (ईशविभाषिता) वीतराग सर्वज्ञ द्वारा कथित **(तनुः)** यह शरीर **(पलमलैः)** मांस और मल से **(निचिता)** व्याप्त है **(अचेतना)** चेतना रहित है **(च)** और **(प्रकृतितः)** स्वभाव से **(दुरभेः)** दुर्गन्ध का **(निकेतना)** स्थान है **(मलजनीः)** मल को उत्पन्न करने वाले ऐसे देह को **(धिक्)** धिक्कार हो। **(तदनुगा)** शरीर की अनुगामिनी **(तु)** तो **(सतः)** साधु की **(विभा अपि)** दीप्ति, प्रतिष्ठा भी **(सिता)** समाप्त हो गई है।

भावार्थ—भगवज्जिनेन्द्र के द्वारा जिसका स्वरूप कहा गया है, ऐसा यह शरीर मांस और मैल से व्याप्त है, अचेतन है, स्वभाव से दुर्गन्ध का घर है और मल को उत्पन्न करने वाला है ऐसे शरीर को धिक्कार हो। इस शरीर का अनुगमन करने वाली साधु की दीप्ति-प्रतिष्ठा भी समाप्त हो जाती है।

निज भावों से भावित भाता भासुर गुणगण शाला है,
परिमल पावन पदार्थ प्यारा अनुभवता रस प्याला है।
फिर यह तन तो स्वभाव से ही मल है मल से प्यार वृथा,
मुनियों से जो वंदित है सुन! शुद्ध-वस्तु की सार कथा॥७५॥
स्वभाव से ही रहा घृणास्पद रहा अचेतन यह तन है,
पल से मल से भरा हुआ है क्यों फिर इसमें चेतन है?
तन से निशिदिन झरती रहती अशुचि, सुनो जिनश्रुति गाती,
देह राग से श्रमणों की वह विराग छवि ही क्षति पाती॥७६॥

कतपनाङ्गजरञ्जितदेहकः, सहरजोमलको गतदेहक!।
मलपरीषहजित् स्वसुधारकः, विरसपादपभावसुधारकः ॥७७॥

अन्वयार्थ—(गतदेहक!) हे देह मुक्त सिद्ध! **(कतपनाङ्गजरञ्जितदेहकः)** सूर्य के संताप से उत्पन्न, स्वेद से युक्त देहधारी **(सहरजोमलकः)** धूलि और मल से युक्त शरीरधारी **(स्वसुधारकः)** आत्मारूपी अमृत को ग्रहण करने वाली आत्मा **(विरसपादपभावसुधारकः)** शुष्क वृक्ष के समान देह को धारण करते हैं **(मलपरीषहजित्)** वह साधु ही मल परीषह जीतने वाला है।

भावार्थ—हे सिद्धभगवन्! जिसका शरीर सूर्य के संताप से उत्पन्न पसीना से युक्त है, जो धूलि और मल से सहित हैं, आत्म सुधा का पान करने वाला है और जो शरीर को सूखे वृक्ष के समान समझ रहा है ऐसा साधु ही मलपरीषह को जीतने वाला होता है।

बलयुतोऽपि मुनिः स्वतनोर्मलं, न हि निवारयति ह्यतनोऽमल!।
चिति चिदस्मि सदास्तु मले मलं, वदति तत्कमलं कमलेऽमलम् ॥७८॥

अन्वयार्थ—(अतनो!) शरीर रहित सिद्ध! **(अमल!)** कर्ममल मुक्त! **(बलयुतः अपि मुनिः)** शक्ति सम्पन्न भी मुनि **(हि)** वास्तव में **(स्वतनोः)** निजदेह के **(मलं)** मल को **(न हि निवारयति)** दूर नहीं करता है वह विचार करता है कि **(सदा चिदस्मि)** मैं सदा चित्स्वरूप हूँ **(चिति)** ज्ञान, दर्शनस्वरूप चेतना में ही निवास करता हूँ **(मले मलम् अस्तु)** मल में मल है **(तत्)** उस रहस्य को **(कमले)** कमल में **(अमलं)** निर्मल **(कमलं)** कमल **(वदति)** कहता है।

भावार्थ—हे अशरीर! निर्मल! परमात्मन्! मुनि, बल सहित होने पर भी शरीर का मैल दूर नहीं करते हैं। वे विचार करते हैं कि मैं चैतन्यरूप हूँ तथा चैतन्य में ही निवास करता हूँ। इसी प्रकार मैल, मैल में रहता है आत्मा में नहीं। यह रहस्य कमल में रहने वाला निर्मल कमल बताता है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार परमार्थ से निर्मल कमल कमल में रहता है और व्यवहार से जल में रहता है उसी प्रकार पौद्गलिक मैल पौद्गलिक शरीर में रहता है आत्मा में नहीं, अतः मुनिराज उसे दूर करने का विचार नहीं करते।

तपन-ताप से तप्त हुआ तन स्वेद कणों से रंजित हो,
रज कण आकर चिपके फलतः स्नान बिना मल संचित हो।
मल परिषह तब साधु सह रहा सुधा पान वे सतत करें,
नीरस तरु सम तन है जिनका हम सब का सब दुरित हरें ॥७७॥
कंचन काया बन सकती है ऋद्धि-सिद्धि से युक्त रहा,
तन का मल मुनि नहीं हटाता मल से तन अतिलिप्त रहा।
चेतन मैं हूँ, चेतन में हूँ यथार्थ मल तो मल में है,
कहता जाता कमल कमल में कहने भर को जल में है ॥७८॥

विनयशंसनपूजनकादरमलभमानमुनि-, र्ह्यनिरादरः।
अविरतैर्व्रतिभिर्मदभावतश,- च्युतविकारललाटविभावतः॥७९॥

अन्वयार्थ—(मदभावतः) ज्ञान पूजादिक के गर्व भाव से **(अविरतैः)** अव्रती तथा **(व्रतिभिः)** व्रती संयमीजनों के द्वारा **(विनयशंसनपूजनकादरं)** विनय, स्तवन, अर्चन और आदर को **(अलभ-मानमुनिः)** प्राप्त न करने वाले मुनि **(च्युतविकारललाटविभावतः)** क्रोधादिक से उत्पन्न ललाट की विकृति से दूर रहते हैं। **(हि)** निश्चय से **(अनिरादरः)** निरादर नहीं मानते।

भावार्थ—अहंकार के कारण अव्रती तथा व्रतीजनों के द्वारा विनय, स्तुति, पूजन एवं आदर को प्राप्त न होने वाला मुनि अपने आपका अनादर नहीं मानता और न क्रोध आदि से ललाट के ऊपर कोई विकार प्रकट करता है।

जगति सत्त्वदलः सकलश्चलः, परिमलो विकलः सकलोऽचलः।
समगुणैर्भरितो मत आर्य! ते, गुरुरयं स लघुर्न्ववधार्यते ॥८०॥

अन्वयार्थ—(आर्य!) हे गुणिजन! **(ते)** आपके **(मते)** सिद्धान्त में **(जगति)** लोक में **(चलः)** चलनशील—त्रसकायिक जीव **(अचलः)** स्थावरकायिक जीव **(परिमलः)** सुगंध युक्त तिर्यंच जीव **(विकलः)** विकलेन्द्रिय जीव अथवा कलाहीन मनुष्य **(सकलः)** सकलेन्द्रिय जीव अथवा कला सम्पन्न जीव **[इत्थं]** इस प्रकार **(सकलः)** समस्त **(सत्त्वदलः)** प्राणिसमूह **(समगुणैः)** द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा समान गुणों से **(भरितः)** परिपूर्ण हैं अतः **(अयं गुरुः)** यह बड़ा है **(सः लघुः)** वह छोटा है **(नु)** ऐसा कैसे **(अवधार्यते)** निश्चित हो सकता है?

भावार्थ—हे आर्य! आपके मन में त्रस, स्थावर, सुगन्धित, कलाहीन और कलासहित—सभी प्राणिसमूह (द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा) समान गुणों से परिपूर्ण हैं, अतः यह गुरु है और वह लघु है यह कैसे निश्चिय किया जाये?

अविरत जन या व्रती पुरुष यदि अपने से विपरीत बने,
आदर ना दे, करे अनादर यदि बनते अविनीत तने।
किन्तु मुनीश्वर लोकेषण से दूर हुए भवभीत हुए,
विकास विरहित ललाट उनका रहता वे जग मीत हुए॥७९॥
अमल, समल हैं सकल जीव ये ऊपर, भीतर से प्यारे,
अगणित गुणगण से पूरित सब 'समान' शीतल शुचि सारे।
मैं गुरु तू लघु फिर क्या बचता परिभव-परिषह बुध सहते,
आर्य देव अनिवार्य यही तव मत गहते सुख से रहते॥८०॥

यदि यदा विनये मिलिते सति, मदमिता न मतिः सुमते सती।
निजकगर्भगताखिलमानता, प्रलयकाय तु दक्षतमा नता॥८१॥

अन्वयार्थ– (यदि) यदि **(विनये मिलिते सति)** विनयादिक के मिलने पर **(यदा)** जब **(साधोः मतिः)** साधु की बुद्धि **(मदं)** मद को **(इता न)** प्राप्त नहीं होती **[तदा]** उस समय **(मतिः)** वह मति **(सुमते)** आगमज्ञान–तत्त्वज्ञान में **(सती)** विद्यमान रहती है **(निजकगर्भगताखिलमानता)** स्वात्मा के अन्दर विद्यमान सम्पूर्ण अहंकार के भाव **(प्रलयकाय)** विनाश के लिए होते हैं अर्थात् अहंकार वृत्ति विनाशकारी है **(तु नता)** तो नम्रवृत्ति **(दक्षतमा)** कल्याणकारी है।

भावार्थ–विनय के प्राप्त होने पर यदि साधु की बुद्धि मद को प्राप्त नहीं होती, किन्तु उत्तम मत में रहती है तो वह श्रेष्ठ है। अपने आपमें समस्त अभिमानों–ज्ञान–पूजा–कुलजाति आदि से उत्पन्न होने वाले मान का रहना प्रलय–विनाश के लिए होता है। इसके विपरीत नम्रवृत्ति अथवा बुद्धि अत्यन्त श्रेष्ठ होती है।

गणधरैः प्रणतोऽस्ति यदा स्वयं, समितिषूपरतः सुखदास्वयम्।
किमु तदाप्यसतां प्रणते र्नुते, रिति वदन्ति बुधाः सुमते, नु ते॥८२॥

अन्वयार्थ– (यदा) जब **(सुखदासु)** सुखदायिनी **(समितिषु)** ईर्यादि पाँच समितियों में **(उपरतः)** प्रवृत्त **(अयं)** यह मुनि **(गणधरैः)** गणनायकों के द्वारा **(स्वयं)** स्वयं **(प्रणतः अस्ति)** नमस्कृत होता है **(तदा पि)** तब भी **(असतां)** अज्ञानीजनों के **(प्रणतेः)** नमस्कारादि से **(नुतेः)** और स्तवन से **(किमु)** क्या प्रयोजन है? **(इति नु)** इस तरह **(ते सुमते)** आपके श्रेष्ठ मत में **(बुधाः)** विद्वान् **(वदन्ति)** कहते हैं। अर्थात् श्रेष्ठजन कृत नमस्कार प्राप्त होने पर लघुजन द्वारा नमस्कार नहीं किए जाने पर साधुजनों को रोष नहीं करना चाहिए।

भावार्थ–सुखदायक समवसरणादि सभाओं में बैठने वाला मुनि जब गणधरों के द्वारा साक्षात् नमस्कार को प्राप्त होता है तब उसे अन्य असत् पुरुषों के नमन और स्तवन से क्या प्रयोजन है? ऐसा हे भगवन्! आपके श्रेष्ठ गत में विद्वान् कहते हैं।

कभी प्रशंसा करे प्रशंसक विनय समादर यदि करते,
नहीं मान-मद मन में लाते, मन को कलुषित नहिं करते।
प्रत्युत अन्दर घुस कर बैठा मान-कर्म के क्षय करने,
साधु निरंतर जागृत रहते निज को शुचि अतिशय करने॥८१॥
निरालसी यति समिति गुप्ति में जब हो रत मन शमन करें,
गणधर आदिक महामना भी उनको मन से नमन करें।
मानी मुनिजन नमनादिक यदि नहिं करते मत करने दो,
अर्थ नहीं उसमें, जिन कहते यह परिषह अघ हरने दो॥८२॥

बुधनुता जिनशास्त्रविशारदा, वसति यद् वदने शुचिशारदा।
अकवते जगतेऽमृतसारदा, गतमदाऽसुमतोडुकशारदा॥८३॥

अन्वयार्थ– **(यद्-वदने)** जिनके मुख में **(बुधनुता)** विज्ञजनों द्वारा स्तुत **(जिनशास्त्र-विशारदा)** जिनशास्त्रों में निपुण **(अकवते)** दुख अथवा पाप से युक्त **(जगते)** जगत् के लिए–संसारी जीवों के लिए **(अमृतसारदा)** मोक्षरूपी सार को देने वाली **(गतमदा)** कुमतवादियों का मद नष्ट करने वाली **(असुमतोडुकशारदा)** कुमतरूपी नक्षत्रों के प्रभाव को नष्ट करने वाली चन्द्रस्वरूप से सुशोभित **(शुचिशारदा)** पूर्वापर विरोध दोष से रहित पवित्र जिनवाणी **(वसति)** निवास करती है। वही वास्तविक ज्ञानी है।

भावार्थ–विद्वानों के द्वारा स्तुत, जिनशास्त्रों में निपुण, पाप अथवा दुःखयुक्त जगत् के लिए अमृत अथवा मोक्षरूपी सार को देने वाली, अन्यवादियों का गर्व नष्ट करने वाली तथा दुर्मतरूप नक्षत्रों के मध्य चन्द्रमा के समान शोभायमान पवित्र जिनवाणी जिसके मुख में निवास करती है वही विद्वान् है।

समय! यावददो न! हि केवलं, ह्युदयतीह तरां न हि केवलम्।
त्वमसि तावदहो ननु मानतः, शृणु लघुश्च तदा किमु मानतः॥८४॥

अन्वयार्थ– (अहो न!) हे पूज्य! **(समय!)** हे ज्ञानविद्, सिद्धान्तविद्, आचारविद् **(हि)** निश्चय से **(यावत्)** जब तक **(इह)** आत्मा में **(केवलं)** अद्वितीय **(अदः)** यह लोकालोक को जानने वाला **[तत्]** वह प्रसिद्ध **(केवलं)** केवलज्ञान **(उदयतितरां न हि)** अतिशयरूप से उदित नहीं होता है **(तावत्)** तब तक **(त्वं)** तुम **(ननु)** यथार्थ में **(मानतः)** ज्ञान से **(लघुः असि)** हीन हो **(तदा च)** तब फिर **(मानतः)** अभिमान करने से **(किमु)** क्या प्रयोजन है? क्या मतलब है? ऐसा **(शृणु)** सुनो। केवलज्ञान के पूर्व सभी जीव अज्ञानी हैं इस कारण श्रुतज्ञान का गर्व नहीं करना चाहिए। च शब्द पादपूर्ति के लिए है।

भावार्थ–हे पूज्य! हे सिद्धान्त के ज्ञाता! जब तक लोकालोक को प्रकाशित करते वाला वह अद्वितीय केवलज्ञान उदित नहीं होता है तब तक तुम ज्ञान से हीन ही हो; अतः मान–गर्व करने से क्या प्रयोजन है? इसे सुनो!।

जिन श्रुत में हैं पूर्ण विशारद सम्मानित हैं बुधगण में,
भाग्य मानकर सदा शारदा रहती जिनके आनन में।
मानहीन हैं, स्वार्थहीन हैं दुखी जगत को अमृत पिला,
परमत तारकदल में शीतलशशि हैं यश की अमिट शिला॥८३॥
अन्तराय का अन्त नहीं हो अतुल अमिट बल मुदित नहीं,
जब तक तुममें अनन्त अक्षय पूर्ण ज्ञान हो उदित नहीं।
ज्ञान क्षेत्र में तब तक निज को लघुतम ही स्वीकार करो,
तन-मन-वच से ज्ञान-मान का प्रतिपल तुम धिक्कार करो॥८४॥

स्वसमयस्य सतोऽप्यनुवादकः, समययुक्तितया जितवादकः।
परिवदेन्न मुनिर्मनसाक्षर-,मसि निरक्षर एष तु साक्षरः॥८५॥

अन्वयार्थ–(सतः) श्रेष्ठ **(स्वसमयस्य)** जैन सिद्धान्त ग्रन्थों के **(अनुवादकः)** अनुवादक–भाषान्तरकर्त्ता–टीकाकर्त्ता **(अपि)** भी **(समययुक्तितया)** आगम और युक्तियों से **(जितवादकः)** वादियों को जीतने वाले **(मुनिः)** यति **(मनसा)** मन से **[इति]** इस प्रकार **(तु)** तो **(अक्षरं)** शब्द **(न परिवदेत्)** नहीं कहते **[यत्]** कि **[त्वं]** तू **(निरक्षरः)** मूर्ख **(असि)** है और **(एषः)** यह–मैं तो **(साक्षरः)** विज्ञ–ज्ञानी हूँ।

भावार्थ–श्रेष्ठ सिद्धान्त का अनुवादक तथा आगम और युक्ति के द्वारा वादों–शास्त्रार्थों को जीतने वाला होकर भी मुनि मन से यह शब्द न कहे कि तू मूर्ख है और यह विद्वान्।

विनयतो जितबोधपरीषहः, श्रुतविदा जितचित्तकरी सह।
दिशतु मे सुमतिं तु जिनालयः, स जयतात् भुवि साधुगुणालयः॥८६॥

अन्वयार्थ–(विनयतः) विनय से **(जितबोधपरीषहः)** प्रज्ञापरीषह को जीतने वाला **(श्रुतविदा)** श्रुतज्ञानी के **(सह)** साथ **(जितचित्तकरी)** चित्तरूपी करी–गज को जीतने वाला **(जिनालयः)** जिन–जिनवर में, आ–पूर्ण तरह से, लयः–लीन **(साधुगुणालयः)** साधु के श्रेष्ठ मूलोत्तर गुणों का, आलय–स्थान **(सः)** वह साधु **(मे)** मुझे **(तु)** तो **(सुमतिं)** सद्बुद्धि को **(दिशतु)** देवे और वह **(भुवि)** पृथ्वी पर **(जयतात्)** जयवन्त होवे।

भावार्थ–जिसने प्रज्ञापरीषह को जीत लिया है, जिसने शास्त्रज्ञ मुनि के साथ मनरूपी हाथी को वश किया है, जो जिनेन्द्र भगवान् में लीनता को प्राप्त है तथा साधु के मूलोत्तरगुणों का स्थान है वह साधु मेरे लिए सुबुद्धि प्रदान करे तथा उनकी जय हो।

अवलोकन-अवलोड़न करते जिनश्रुत के अनुवादक हैं,
वादीजन को स्याद्वाद से जीते पथ प्रतिपादक हैं।
ज्ञान परीषह सहते मुख से कभी न कहते हम ज्ञानी,
ज्ञान कहाँ है तुममें इतना महा अधम हो अज्ञानी॥८५॥
नम्र भाव से ज्ञान परीषह जीत-जी रहे मतिवर हैं,
तत्त्व ज्ञान से मत्त चित्त को किया नियंत्रित यतिवर हैं।
प्रभु पद में रत हुए मुझे भी होने सन्मति दान करें,
निलयगुणों के जय हो गुरु की मम गति का अवसान करें॥८६॥

परिषहोऽस्तु निजानुभवि श्रुतं, ह्यपि मितं शिवदं बुधविश्रुतम्।
बहुतरं तु तृणं सहसाप्यलं, दहति चाग्निकणी भुवि साप्यलम्॥८७॥

अन्वयार्थ– (परीषहः अस्तु) अज्ञान परीषह भले हो **(तु)** किन्तु **(बुधविश्रुतं)** विद्वज्जन प्रसिद्ध **(निजानुभवि)** आत्मानुभव सहित **(मितं)** सीमित भी **(श्रुतं)** श्रुतज्ञान **(शिवदं)** कल्याण को **(हि अपि)** भी देने वाला होता है। जैसे **(भुवि)** पृथ्वी पर **(सा)** वह प्रसिद्ध **(अग्निकणी)** अग्नि की चिनगारी **(बहुतरं)** विपुल–विशाल परिमाण **(तृणं)** तिनकों को **(सहसा)** शीघ्रता से **(अलं)** पूर्णरूप से **(अपि)** भी **(दहति)** भस्म कर देती है। **(सा च अपि)** और वह चिंगारी भी अलं–पर्याप्त है।

भावार्थ–अल्पश्रुत ज्ञान परीषह भले ही रहे परन्तु आत्मानुभव से सहित, विद्वज्जन प्रसिद्ध सीमित श्रुतज्ञान भी मोक्ष प्रदान करने वाला है; क्योंकि पृथ्वी पर प्रसिद्ध अग्निकणों का समूह भी विपुल तृणों को शीघ्र ही भस्म कर देता है।

व्रतवता प्रचुरः समयो गतः, पिहितखेन मयाजितयोगतः।
मयि न बोधरवि र्ह्यभवोदित, इति चलो भव मा समबोधितः॥८८॥

अन्वयार्थ–(अभव!) हे संसारातीत! **(व्रतवता)** व्रतधारी **(पिहितखेन)** ख–इन्द्रियों को, पिहित–जीतने वाले–जितेन्द्रिय **(मया)** मैंने **(अजितयोगतः)** अविचल ध्यान करके **(प्रचुरः समयः)** बहुत काल **(गतः)** व्यतीत किया **(तथापि)** तो भी **(मयि)** मुझमें **(बोधरविः हि)** ज्ञानसूर्य **(न उदितः)** नहीं प्रकट हुआ **(इति)** ऐसा **(विचार्य)** विचार करके–चिन्तन करके **(समबोधितः)** सम्यक् रत्नत्रयरूप बोधि से **(मा चलः भव)** मत विचलित होओ।

भावार्थ–हे अभव! हे संसारातीत! व्रतधारण करने वाले मुझ जितेन्द्रिय ने अविचलित ध्यान से बहुत समय व्यतीत किया है फिर भी मुझमें ज्ञानरूपी सूर्य उदित नहीं हुआ ऐसा विचारकर समीचीन रत्नत्रय से विचलित न होओ।

सहो सदा अज्ञान परीषह नियोग है यह शिव मिलता,
अल्पज्ञान पर्याप्त रहा यदि निज अनुभवता भव टलता।
बहुत दिनों का पड़ा हुआ है सुमेरु सम तृण ढेर रहा,
एक अनल की कणिका से बस! जल मिटता, क्षण देर रहा॥८७॥
सत्पथ चलता महाव्रती हो प्रचुर समय वह बीत गया,
इन्द्रिय योगों को वश करके गाता आतम गीत जिया।
किन्तु अभी तक जगी न मुझमें बोध भानु की किरण कहीं,
यूँ न सोचता, मुनिवर तजता समता की वह शरण नहीं॥८८॥

अयि कुधीर्महसा वचसानया, ह्युपकृता जगती त्वयि सानया।
तव मतिर्न हि वित्पयसा धुता, त्विति वचः सहतां किमु साधुता॥८९॥

अन्वयार्थ—(अयि) साधो! **([त्वं] कुधीः असि)** तू अज्ञानी है **(अनया)** इस कुबुद्धि के कारण तूने **(महसा)** ज्ञानरूप **(वचसा)** वचन से **(सा)** वह प्रसिद्ध **(जगती)** धरातल को **(हि)** यथार्थ में **(न तु उपकृता)** उपकृत नहीं किया—उपदेश देकर उसे ज्ञानमय नहीं बनाया **(तव मतिः)** तेरी बुद्धि **(वित् पयसा)** प्रमाणरूप ज्ञान जल से **(न हि धुता)** प्रक्षालित नहीं हुई है तेरी **(साधुता)** श्रमणता से **(किमु)** क्या लाभ है? कोई नहीं। **(इति तु)** ऐसे **(वचः)** वचनों को **(सहतां)** सहन करो।

भावार्थ—अयि साधो! हे मुने! तू दुर्बुद्धि है, दुर्बुद्धि के कारण तूने अपने वचन और तेज से नयविज्ञानशून्य पृथ्वी को उपकृत नहीं किया अर्थात् उसे उपदेश देकर अनुगृहीत नहीं किया। वास्तव में तेरी बुद्धि ज्ञानरूपी जल से धुली नहीं है। तेरा साधुपन क्या है? कुछ भी नहीं इस प्रकार के वचनों को सहन कर।

समुपयोगवती मम वा सुधीः!, गुणविभासु रता तु शिवासु धीः।
कथमहं तु तदास्मि कुधीरतः, परिषहं सहतेन्विति धीरतः॥९०॥

अन्वयार्थ—हे साधु! तू कुबुद्धि है ऐसा वचन सुनकर, वह साधु कहने वाले सुधी से कहता है कि **(वा सुधीः!)** अथवा हे विद्वन्मन्य! **(मम)** मेरी **(धीः)** बुद्धि **(समुपयोगवती)** सम्यक् उपयोग सहित है **(शिवासु)** कल्याणकारक **(गुणविभासु)** गुणरूप दीप्ति में **(रता तु)** अनुरक्त तो है **(तु)** तब **(कथं)** कैसे **(अहं)** मैं **(कुधीः अस्मि)** कुबुद्धि हूँ। **(अतः)** इसलिए **(इति)** ऐसा प्रत्युत्तर देने वाला वह मुनि **(धीरतः)** धैर्य से **(परिषहं)** अज्ञानपरीषह को **(सहते नु)** सहता है क्या? नहीं सहता।

भावार्थ—''तू कुधी है—मूर्ख है'' इत्यादि दुर्वचन सुनकर जो कुपित हो प्रत्युत्तर देता है तो वह परीषहजयी नहीं है, यह कहते हैं—हे सुधी! हे विद्वन्मन्य! मेरी बुद्धि समीचीन उपयोग से सहित है और कल्याणकारिणी गुणों की दीप्ति में लीन है, तब मैं कुधी कैसे हूँ? इस प्रकार जो उत्तर देता है वह क्या धीरता से अज्ञानपरीषह को सहता है? अर्थात् नहीं सहता।

महा मूढ़ है, साधु बना है, शुभकृत जीवन किया नहीं,
भविकजनों को सदुपदेश दे उपकृत अब तक किया नहीं।
महा मलिन मति चिर से तेरी ज्ञान-नीर से धुली नहीं,
सहे वचन यूँ व्यर्थ साधुता अभी आँख तव खुली नहीं॥८९॥
बच करके अशुभोपयोग से जब शुभ शुचि उपयोग धरूँ,
अक्षय सुख देने वाले मुनि-गुण-गण का उपभोग करूँ।
किस विध फिर मैं हो सकता हूँ कुधी, कभी नहिं हो सकता,
सहता यूँ अज्ञान परीषह मन का मल वह धो सकता॥९०॥

मम विदावरणेन तिरोहितं, शुचिबलं यदनेन गिरोहितम्।
सुरजसा कलितं शुचिदर्शनम्, झटिति फूत्करणात् जिन! दर्शनम्॥९१॥

अन्वयार्थ– **(जिन!)** हे जिनवर! **(मम)** मुझ मुनि का **(यत्)** जो **(शुचिबलं)** निर्मल ज्ञान व बल **(विदावरणेन)** ज्ञानावरण के कारण **(तिरोहितं)** आच्छादित है, उसी ज्ञान को **(अनेन)** इस कटुक भाषकने **(गिरा)** अपनी वाणी से **(ऊहितं)** प्रकट कर दिया है। जैसे **(सुरजसा)** उत्तम धूलि से **(कलितं)** धूसरित **(दर्शनं)** दर्पण **(फूत्करणात्)** मुख से, फू-फू करने से **(झटिति)** शीघ्र **(शुचिदर्शनं)** दर्पण उज्ज्वल हो जाता है।

भावार्थ–हे जिन! मेरा जो निर्मल बल अथवा ज्ञान, ज्ञानावरण कर्म के उदय से आच्छादित था। उसे इस निन्दक ने अपनी वाणी से प्रकट कर दिया है। उचित ही है क्योंकि उत्तम रज से युक्त दर्पण फूँकने से शीघ्र ही उज्ज्वल दिखने लगता है।

मम गुणेष्वधुनापि न वृद्धयः, समुदिता मुदिता परिसिद्धयः।
इति न गच्छति साधुरुदासतां, न हि विमुञ्चति तां गुरुदासताम्॥९२॥

अन्वयार्थ–तपस्या को दीर्घकाल बीतने पर **(अधुना)** अब **(अपि)** भी **(मम)** मेरे **(गुणेषु)** ज्ञानादिक गुणों में **(वृद्धयः)** वृद्धियाँ **(न)** नहीं हुईं और **(मुदिताः)** हर्ष बढ़ाने वाली **(परिसिद्धयः)** ऋद्धिस्वरूप सिद्धियाँ भी **(न समुदिताः)** प्रकट नहीं हुईं **(इति)** ऐसा विचार कर **(साधुः)** मुनि **(उदासतां)** खिन्न मनस्कता को **(न गच्छति)** नहीं प्राप्त होता है **(हि)** निश्चय से वह **(तां)** चिरसेवित **(गुरुदासतां)** गुरुसेवा को, गुरुभक्ति को **(न हि वि मुञ्चति)** नहीं छोड़ता है।

भावार्थ–इस समय भी दीर्घ तपस्या के बाद भी मेरे ज्ञानादि गुणों में न वृद्धियाँ हुईं और न हर्ष को बढ़ाने वाली सिद्धियाँ प्रकट हुईं। ऐसा विचार कर साधु उदासता को प्राप्त नहीं होता और न दीर्घकाल से चली आयी गुरुसेवा को छोड़ता है। अर्थात् ऋद्धि-सिद्धि के नहीं होने पर भी साधुजन-शिष्यजन गुरु की सेवा-भक्ति से विमुख नहीं होते हैं।

ज्ञानावरणादिक से चिर से भला-बोध बल मलिन वही,
सहने से अज्ञान परीषह निश्चित होता विमल सही।
उड़-उड़कर आ रज-कण चिपके धूमिल फलतः दर्पण हो,
जल से शुचि हो जिनमत गाता इसे सदा नति अर्पण हो॥९१॥
चिर से दीक्षित हुआ अभी तक, ऋद्धि नहीं कुछ सिद्धि नहीं,
तथा गुणों में ज्ञानादिक में लेश मात्र भी वृद्धि नहीं।
ऐसा मन में विचार कर मुनि उदासता का दास नहीं,
होकर परवश कभी त्यागता जिनमत का विश्वास नहीं॥९२॥

जगति नाप्यधुना यशसा सितः, स हि यमो जिनशासनशासितः।
निरतिशायि ततो जिनदर्शन-मिति न संशयितः समदर्शनः॥९३॥

अन्वयार्थ—(हि) जिस कारण से **(जिनशासनशासितः)** जिनशासन में उपदिष्ट **(सः)** प्रसिद्ध **(यमः)** संयम **(जगति)** लोक में **(अधुना अपि)** आज भी **(यशसा)** कीर्ति से **(सितः)** शुक्ल-निर्मल **(न)** नहीं हुआ **(ततः)** उस कारण **(जिनदर्शनं)** जिनशासन **(निरतिशायि)** अतिशय रहित है क्या? **(इति)** इस प्रकार **(समदर्शनः)** समदर्शी साधु **(संशयितः)** संशय युक्त **(न)** नहीं होता है।

भावार्थ—जगत् में जिनशास्त्रोपदिष्ट वह संयम इस समय भी यश से धवल नहीं हुआ। इस कारण जिनधर्म अतिशय से रहित है ऐसा समदर्शी मुनि को संशय नहीं करना चाहिए।

करणमानसजं लघु वैहिकं, सुखमितं न मया किमु वै हि कम्।
जिनपशासनमानविनाशनं, न हि करोति स एवमनाशन!॥९४॥

अन्वयार्थ—(अनाशन!) हे अविनश्वर! **(वा)** अथवा **(मया)** दीर्घकाल से तपस्या करने वाले मेरे द्वारा **(करणमानसजं)** इन्द्रिय और मन से उत्पन्न **(लघु)** तुच्छ **(ऐहिकं)** इस लोक सम्बन्धी **(सुखं)** सातारूप सुख ही **(न)** नहीं **(इतं)** प्राप्त किया है तब **(वै हि)** निश्चय से **(कं)** मोक्ष सम्बन्धी सुख **(किमु [प्राप्तं])** कैसे प्राप्त किया जा सकता है? कैसे भी नहीं। **(एवं)** इस प्रकार **(सः)** वह मुनि ऋद्धि-सिद्धि से रहित होकर **(जिनपशासनमानविनाशनं)** जिनेन्द्र भगवान के शासन के सम्मान का विनाश **(न हि करोति)** नहीं करता।

भावार्थ—हे अविनश्वर भगवन्! मैंने इन्द्रिय और मन से होने वाला थोड़ा भी लौकिक सुख प्राप्त नहीं किया फिर पारलौकिक सुख की तो बात ही क्या है? इस प्रकार विचार कर वह मुनि जिनशासन के सम्मान का नाश नहीं करता।

जिन शासन से शासित होकर व्रत पालूँ अविराम सही,
किन्तु हुआ ना ख्यात जगत में यश फैला ना नाम कहीं।
रहित रहा हो अतिशय गुण से जिन दर्शन यह लगता है,
समदर्शन युत मुनि मन में ना ऐसा संशय जगता है॥९३॥
अल्प मात्र भी ऐहिक सुख औ इन्द्रिय सुख वह मिला नहीं,
फिर, किस विध निर्वाण अमित सुख मुझे मिलेगा भला कहीं।
मुनि हो ऐसा कहता नहिं जिन-मत का गौरव नहिं खोता,
रहा अदर्शन यही परीषह-विजयी होता सुख-जोता॥९४॥

जिनमतोन्नतितत्परजीवनं, विमलदर्शनवत् नदजीवनम्।
भवतु वृत्तवतां खलु वार्पित-, परिजयोऽस्तु यदेष समर्पितः॥९५॥

अन्वयार्थ— (वृत्तवतां) चारित्रयुक्त साधुओं का **(जिनमतोन्नतितत्परजीवनं)** जिनेन्द्रदेव के मत की उन्नति में तत्पर जीवन **(विमलदर्शनवत्)** निर्दोष सम्यग्दर्शन से युक्त **(नदजीवनं)** महानदी के जल के समान प्रगतिशील **(भवतु)** हो **(खलु)** वास्तव में **(एषः)** यह **(अर्पितपरिजयः)** प्रस्तुत अदर्शन परीषहजय **(अस्तु)** हो **(वा)** अथवा **(यत्)** जिसका स्वरूप दर्शित करने के लिए **(एषः)** यह परीषहजयशतक नामक ग्रन्थ **(समर्पितः)** समर्पित किया है।

भावार्थ—साधुओं के लिए यह परीषहजय ग्रन्थ समर्पित है अतः इसके फलस्वरूप उनका जीवन जिनधर्म की उन्नति में तत्पर रहे, निर्मल सम्यग्दर्शन से सहित हो महानदी के जल के समान गतिशील हो और निश्चय से विवक्षित अदर्शनपरीषह पर विजय प्राप्त करने वाला हो।

सपदि संपदि संविदि वा सुखी, विपदि नो भुवि योऽविदि वाऽसुखी।
स हि परीषहकान् श्रयितुं क्षमः, शुचितपश्च विधातुमिह क्षमः॥९६॥

अन्वयार्थ—परीषहों को सहने कौन समर्थ है? इसका समाधान करते हैं–**(यः)** जो मुनि **(भुवि)** पृथ्वी पर **(सम्पदि)** सम्पत्ति में **(वा)** अथवा **(संविदि)** सम्यग्ज्ञान में **(सुखी)** सुख सहित हैं **(वा)** और **(विपदि)** विपत्तियों में **(अविदि)** अज्ञान में **(सपदि)** शीघ्र **(असुखी)** दुःखयुक्त **(नो)** नहीं होता **(हि)** निश्चय से **(सः)** वही **(परीषहकान्)** परीषहों को **(श्रयितुं)** सेवन करने–सहन करने **(क्षमः)** समर्थ होते हैं। **(इह)** इस जगत् में जब तक **(शुचितपः च)** निर्मल तपश्चरण को **(विधातुं)** धारण करने के लिए **(क्षमः)** समर्थ होता है।

भावार्थ—पृथ्वी पर जो सम्पत्ति और सम्यग्ज्ञान में सुखी तथा विपत्ति और अज्ञान में शीघ्र ही दुखी नहीं होता, वही परीषहों को सहन करने में समर्थ होता है और वही निर्मल तप करने में शक्त होता है।

जिन मत की उन्नति में जिनका जीवन तत्पर लसता है,
उजल सलिल से भरा सरित-सा जिन में दर्शन हँसता है।
रहा अदर्शन परिषहजय यह प्रमुख रहा मुनि यतियों का,
उनके चरणों में नित नत हूँ विनशन हो चहुँगतियों का॥९५॥
पद-पूजन संपद संविद पा पद-पद होते सुखित नहीं,
निन्दन, आपद, अपयश में फिर साधु कभी हो दुखित नहीं।
दुस्सह सब परिषह सहने में सक्षम ऋषिवर धीर सभी,
आत्म ध्यान के पात्र, ध्यान कर पाते हैं भव तीर तभी॥९६॥

यमविहीनतपश्चरणेन किं, च्युतपरीषहतश्चरणेन किम्।
ननु विना सुदृशा न हि संगतं, सकलमेनस एव वशंगतम् ॥९७॥

अन्वयार्थ—(यमविहीनं तपश्चरणेन) यमविहीन–संयम रहित अनशनादि तपश्चरणरूप उत्तरगुणों से **(किं)** क्या प्रयोजन है? **(च्युतपरीषहतः)** परीषहविजय से रहित **(चरणेन)** चारित्र से **(किं)** क्या प्रयोजन है? **(ननु)** निश्चय से **(सुदृशा विना)** सम्यग्दर्शन से रहित **(सङ्गतं)** ज्ञान ही **(न हि)** नहीं होता है। **(सकलं)** समस्त संसार **(एनसः एव)** पापों की ही **(वशं)** अधीनता को **(गतं)** प्राप्त हुआ है। [एनस्, कलिल, वृजिन ये पाप के वाचक हैं।]

भावार्थ—संयमहीन तपश्चरण से क्या प्रयोजन है? परीषहविजय से रहित चारित्र से क्या प्रयोजन है? सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान नहीं होता। खेद है कि सकल जगत् पाप के वश हो रहा है।

(अनुष्टुप् छन्दः)

चर्याशय्यानिषद्यासु, वान्यतमाऽस्तु चैकदा।
शीतोष्णयोर्भवेत्तद्व, दागमानुभवादिति ॥९८॥

अन्वयार्थ— (चर्याशय्यानिषद्यासु) चर्या, शय्या और निषद्या परीषह में **(एकदा च)** एक समय में **(अन्यतमा वा)** तीनों में एक परीषह **(अस्तु)** होती है तथा **(शीतोष्णयोः)** शीत और उष्ण के मध्य **(तद् वत्)** एक समय में एक **(भवेत्)** होती है। **(इति)** ऐसा **(आगमानुभवात्)** आगम के अनुभव से सिद्ध है।

भावार्थ—एक समय चर्या, शय्या और निषद्या में से कोई एक तथा शीत और उष्ण में से कोई एक परीषह होता है। यह आगम और अनुभव से सिद्ध है।

दुष्कर तप से नहीं प्रयोजन संयम से यदि रहित रहा,
परिषहजय बिन नहीं सफलता यद्यपि व्रत से सहित रहा।
यम-दम-शम-सम सकल व्यर्थ हैं समदर्शन यदि ना होता,
पाप पंक से लिपा कलंकित जीवन मौलिक नहिं, थोथा ॥९७॥
शीत परीषह, उष्ण परीषह एक समय में कभी न हों,
चर्य्या, शय्या तथा निषद्या एक साथ ये सभी न हों।
ऐसा जिनवर का आगम है हम सबको यह बता रहा,
अनुभव कहता, स्ववश परीषह सहो सही, फिर व्यथा कहाँ ॥९८॥

दशपरीषहकाश्च नवाधिका, इति भवन्तु समं विधिबाधका:।
द्व्यधिकविंशतिका जिनसेविता, मम तु सन्त्वखिलास्तपसेहिता:॥९९॥

अन्वयार्थ–(इति) इस प्रकार **(विधिबाधका:)** मोक्षमार्ग की मुनिचर्या में बाधा डालने वाले **(नवाधिका:)** नव अधिक **(दशपरीषहका: च)** दस परीषह **(समं)** एक साथ **(भवन्तु)** हो सकते हैं **(द्व्यधिक-विंशतिका:)** द्वाविंशति–बाईस परीषह **(जिनसेविता:)** जिनवर ने भी मुनिचर्या के काल में सेवन की–सहन की हैं। जिनेन्द्र केवली भगवान के एकादश परीषह होते हैं, वे भी मोहकर्म के अभाव में अकिंचित्कर–अप्रभावी होते हैं। **(तु)** किन्तु **(मम)** मेरे **(तपसे)** तप के अनुष्ठान में **(अहिता:)** बाधा करने वाले **(अखिला:)** सम्पूर्ण परीषह **(सन्तु)** हैं।

भावार्थ–ऊपर लिखे अनुसार मुनिचर्या में बाधा डालने वाले उन्नीस परीषह एक साथ हो सकते हैं। मुनि अवस्था में जिनेन्द्रदेव को भी बाईस परीषह सहन करने पड़े हैं। मेरे भी तप में बाधक सभी परीषह हैं।

वै विषमयीमविद्यां विहाय ज्ञानसागरजां विद्याम्।
सुधामेम्यात्मविद्यां, नेच्छामि सुकृतजां भुवि द्याम् ॥१००॥

अन्वयार्थ–(भुवि) इस वसुन्धरा पर **[अहं]** मैं **(आत्मवित्)** आत्मज्ञानी **(सुकृतजां)** पुण्यरूप सत्कर्मों से उत्पन्न **(यां)** इस **(द्यां)** स्वर्ग को **(न इच्छामि)** नहीं चाहता **(वै)** निश्चय से **(विषमयीं)** विषमयी **(अविद्यां)** अज्ञान को **(विहाय)** त्यागकर **(ज्ञानसागरजां)** गुरु ज्ञानसागर से उत्पन्न **(सुधां)** अमृतरूप **(विद्यां)** विद्या को **(एमि)** प्राप्त करता हूँ। यहाँ श्लेषालंकार द्वारा ज्ञानसागर शब्द से–१. ज्ञान का सागर, २. दीक्षा गुरु आचार्य ज्ञानसागरजी का उल्लेख किया है।

भावार्थ–मैं निश्चय से विषरूप अविद्या को छोड़कर ज्ञानरूप सागर से समुत्पन्न (पक्ष में ज्ञानसागर गुरु से उत्पन्न) आत्मविद्यारूपी सुधा–अमृत को प्राप्त करता हूँ। पृथ्वी पर पुण्योदय से प्राप्त स्वर्ग की इच्छा नहीं करता हूँ।

एक साथ उन्नीस परीषह मुनि जीवन में हो सकते,
समता से यदि सहो साधु हो विधिमल पल में धो सकते।
सन्त साधुओं तीर्थकरों ने सहे परीषह सिद्ध हुए,
सहूँ निरन्तर उन्नत तप हो समझूँ निज गुण शुद्ध हुए ॥९९॥
पुण्य-पाक है सुरपद संपद सुख की मन में आस नहीं,
आतम का नित अवलोकन हो दीर्घ काल से प्यास रही।
तन से, मन से और वचन से तजूँ अविद्या हाला है,
'ज्ञान-सिन्धु' को मथकर पीऊँ समरस 'विद्या', प्याला है ॥१००॥

मंगलकामना

विभावतः सुदूराणां, सन्ततिर्जयतात् तराम्।
द्यामेत्य पुनरागत्य, स्वानुभूतेः शिवं व्रजेत् ॥१॥

अन्वयार्थ–(विभावतः) विभाव से **(सुदूराणां)** दूर रहने वाली **(संततिः)** परम्परा **(जयतात् तरां)** जयवंत रहे। जो **(द्यां)** स्वर्ग को **(एत्य)** जाकर **(पुनः)** पश्चात् **(आगत्य)** आकर **(स्वानुभूतेः)** निजानुभूति से **(शिवं)** मोक्ष को **(व्रजेत्)** प्राप्त करेगी।

भावार्थ–विकारभाव से अत्यन्त दूर रहने वाले साधुओं की परम्परा अत्यधिक जयवंत रहे। वह स्वर्ग जाकर पश्चात् वहाँ से आकर स्वानुभूति से मोक्ष को प्राप्त करे।

साधुता सा पदं ह्येतु, भूपतौ च जने-जने।
गवि सर्वत्र शान्तिः स्यात्, मदीया भावना सदा ॥२॥

अन्वयार्थ– (सा) वह **(साधुता)** सज्जनता **(भूपतौ)** राजाओं में **(च)** और **(जने जने)** जन-जन में **(पदं)** स्थान को **(एतु)** प्राप्त करे तथा **(हि)** इसी प्रकार **(गवि)** पृथ्वी पर **(सर्वत्र)** सब जगह **(सदा)** नित्य **(शान्तिः स्यात्)** शान्ति हो ऐसी **(मदीया)** मेरी **(भावना)** भावना है।

भावार्थ–वह प्रसिद्ध सज्जनता राजा और प्रत्येक मनुष्य में स्थान को प्राप्त हो तथा पृथ्वी में सर्वत्र शान्ति रहे, सदा ऐसी भावना रहती है।

रेपवृत्तिं परित्यज्य, ना नवनीत मार्दवम्।
णलाभायं भजेद् भव्यो, भक्त्या साकं भृशं सदा ॥३॥

अन्वयार्थ– (भव्यः) हे भव्य! **(ना)** पुरुष **(णलाभाय)** ण–ज्ञान, लाभाय–प्राप्ति के लिए **(रेपवृत्तिं)** हिंसादि पाप प्रवृत्ति को **(परित्यज्य)** छोड़कर **(भृशं)** अत्यधिक **(भक्त्या साकं)** भक्ति के साथ **(सदा)** हमेशा **(नवनीतमार्दवं)** नवनीत के समान मृदुता को **(भजेत्)** प्राप्त करे।

भावार्थ–भव्य मनुष्य, ज्ञानलाभ के लिए भक्ति के साथ सदा क्रूर व्यवहार को छोड़कर मक्खन के समान कोमलता को प्राप्त करे।

विद्याब्धिना सुशिष्येण, ज्ञानोदधेरलङ्कृतम्।
रसेनाध्यात्मपूर्णेन, शतकं शिवदं शुभम् ॥४॥

अन्वयार्थ– (ज्ञानोदधेः) आचार्य ज्ञानसागर के **(सुशिष्येण)** सुशिष्य **(विद्याब्धिना)** विद्यासागर मुनि द्वारा **(अध्यात्मपूर्णेन)** अध्यात्म से परिपूर्ण **(रसेन)** शान्तरस के द्वारा **(शुभं)** शुभ **(शिवदं)** कल्याण स्वरूप मोक्ष को देने वाली **(शतकं)** सौ पद्यों वाली श्रमण शतक की **(अलंकृतं)** रचना की गयी है।

भावार्थ–ज्ञानसागर गुरु के सुशिष्य विद्यासागर ने अध्यात्मपूर्ण रस से अलंकृत शुभ तथा

कल्याणप्रद शतक की रचना की है।

चित्ताकर्षि तथापि ज्ञैः, पठनीयं विशोध्य तैः।
तं मन्ये पण्डितं योऽत्र, गुणान्वेषी भवेद् भवे ॥५॥

अन्वयार्थ—यद्यपि यह शतक **(चित्ताकर्षि)** चित्त को आकर्षित करने वाली है **(तथापि)** तो भी **(ज्ञैः)** ज्ञानीजनों के द्वारा **(पठनीयं)** पढ़ने योग्य है **(तैः)** उन्हीं ज्ञानीजनों के द्वारा **(विशोध्य)** विशेषरूप से शोधन करने योग्य भी है किन्तु मैं **(तं)** उसे **(पण्डितं)** पंडित **(मन्ये)** मानता हूँ **(यः)** जो **(अत्र)** यहाँ **(भवे)** जगत् में **(गुणान्वेषी)** गुणों का अन्वेषण करने वाला **(भवेत्)** हो।

भावार्थ—यद्यपि यह शतक चित्तार्षक है तथापि विज्ञपाठकों द्वारा शुद्ध कर पढ़ने के योग्य है। इस संसार में मैं पण्डित उसे मानता हूँ जो गुणों का अन्वेषण करने वाला हो।

श्रीकुण्डलगिरौ क्षेत्रे भव्यैर्जनैः सुसेविते।
हरिणनदकूलस्थे भवाब्धिकूलदर्शिनि॥१॥
यामव्योमाघगन्धेऽदो वीरे सम्वत्सरे शुभे।
फाल्गुनपूर्णिमामीत्वेतीमामितिं मिति गतम्॥२॥

अन्वयार्थ— (भव्यैर्जनैः) भव्यजनों के द्वारा **(सुसेविते)** सेवित **(हरिणनदकूलस्थे)** हरिणनदी के तट पर स्थित **(भवाब्धिकूलदर्शिनि)** संसार सागर का किनारा दिखाने वाले **(श्रीकुण्डलगिरौ क्षेत्रे)** श्रीकुण्डलगिरि (कोनीजी) क्षेत्र में **(यामव्योमाघगन्धे)** याम–प्रहर ८, व्योम–आकाश ०, अघ–पाप ५, गन्ध–२, अंकों की विपरीत गति के अनुसार २५०८ **(शुभे)** शुभ **(वीरे)** वीर निर्वाण **(संवत्सरे)** वर्ष में **(फाल्गुनपूर्णिमां)** फाल्गुन मास की पूर्णिमा की **(इमां)** इस शुभ **(मितिं)** तिथि को **(ईत्वा)** प्राप्त की **(अदः)** यह परीषहजय शतक **(इतिं)** पूर्णता को **(गतं)** प्राप्त हुआ।

अर्थ—भव्यजनों से सेवित, हरिण नदी के तट पर स्थित तथा संसारसागर का तट दिखाने वाले कुण्डलगिरि क्षेत्र में २५०८ वीर निर्वाण सम्वत् में फाल्गुनपूर्णिमा मिति को पाकर यह परीषहजय शतक समाप्ति को प्राप्त हुआ।

❑ ❑ ❑

सुनीतिशतकम्

रचयिता
आचार्य विद्यासागर महाराज

सुनीतिशतकम्

'सुनीतिशतकम्'आचार्य श्री विद्यासागर महाराज के सप्तशतकों में पंचम संस्कृत शतक हैं, जिसमें शत वृत्त हैं। १ वसन्ततिलका वृत्त में गुरुस्मरण है एवं अन्त में पूर्व निरूपित शतकों की भाँति मंगलकामना के ४ श्लोक हैं और समापन में क्षेत्र एवं काल को २ श्लोकों में निर्दिष्ट किया गया है।

सम्मेदाचलपूजायां रतेसरीपुरे शुभे।
रस-ख-रूप-गन्धाब्दे, वीरे वीरोदयाह्निके॥
पूर्णीभूतमिदं श्राव्यं, काव्यं काव्यकलांकितम्।
पठनीयं समाशोध्य बुधैर्गुणोपजीवितम्॥

तीर्थराज सम्मेदशिखर की पूजा में रत नगर ईसरी (गिरि) बिहार प्रान्त में वीर निर्वाण संवत् २५०९, वि० सं० २०४०, चैत्र शुक्ल त्रयोदशी-महावीर जयन्ती, सोमवार, २५ अप्रैल, १९८३ ईस्वी को 'सुनीतिशतकम्' की रचना पूर्ण हुई। 'मंगलकामना' के ४ श्लोकों के प्रत्येक चरण के आद्य अक्षरों से विदित होता है कि यह शतक -''विद्यासागर रचित सुनीतिशतकमिति'' आचार्य विद्यासागर द्वारा रचित है।

संस्कृत के नीतिशतकों की भाँति इसके अधिकांश वृत्त स्वतंत्र भावयुक्त हैं। अन्तर केवल इतना है कि इसमें आध्यात्मिक नीति विषयक सूक्तियों का संग्रह है। यहाँ सांसारिक उदाहरण भी हैं, तो वे भी अध्यात्मपरक ही हैं। यह नीति विषयक अध्यात्म सम्बन्धी ग्रन्थ होते हुए भी अत्यन्त रोचक और आह्लादकारक है। कहीं-कहीं पर ऐसे मनोहारी और अदृष्टपूर्व उदाहरण दिये गये हैं कि मानस तरंगायित हुए बिना नहीं रहता, जिसका उल्लेख हम आगे करेंगे। इस शतक की निबन्धता उपजाति वृत्त में है, जिसकी रचना इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा छन्दों के मिश्रण से होती है।

इसके नाम से ही प्रतीत होता है कि इसमें सुन्दर नीति-वाक्य समाहित हैं।

'सुनीति' शब्द 'सु' उपसर्ग पूर्वक 'नी' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय लगाकर व्युत्पन्न हुआ है। इसका अर्थ है कि जिसके द्वारा सुष्ठु प्रकार से एक बात या भाव को व्यक्त किया जाता है, वह सुनीति है। संस्कृत साहित्य में अनेक नीतिशतक निर्मित हुए परन्तु सभी इस नाम से अभिहित नहीं हैं, केवल भर्तृहरि तथा के. भुजबली शास्त्री द्वारा रचित ही इस नाम से उपलब्ध हैं। शेष अन्य नामों से यथा-भल्लटशतकम्, चाणक्यशतकम्, उपदेशशतकम् इत्यादि हैं।

सुनीतिशतकम्

(उपजातिछन्दः)

वैराग्यमूर्तिः प्रणतिं सुनीता, चिदेकभूतिश्च शिवप्रसूतिः।
विरच्यतेऽदः शतकं सुनीतेरीतेरभावोऽस्तु ततो धरायाम् ॥१॥

अन्वयार्थ–(वैराग्यमूर्तिः) वीतरागता की प्रतिमा **(चिदेकभूतिः)** ज्ञानदर्शनमय चैतन्य की अद्वितीय विभूति **(च)** और **(शिवप्रसूतिः)** कल्याणस्वरूप मोक्ष को उत्पन्न करने वाली **[मया]** मेरे द्वारा **(प्रणतिं)** नमस्कार को **(सुनीता)** प्राप्त है। **(धरायां)** वसुधा पर **(ईतेः)** ईतियों का **(अभावः अस्तु)** अभाव हो। **(ततः)** इसलिए **[मया]** मेरे द्वारा **(सुनीतेः)** सुनीतियों का **(अदः)** यह **(शतकं)** सौ श्लोक प्रमाण शतक **(विरच्यते)** रचा जा रहा है।

भावार्थ–वीतराग, सर्वज्ञ और मोक्षमार्गोपदेशी–अर्हन्त परमेष्ठी को नमस्कार कर यह सुनीतिशतक रचा जा रहा है। इससे पृथ्वी पर ईतियों (अतिवृष्टि, अनावृष्टि, मूषक, शलभ–पतंगा, शुक–तोता और विरुद्ध राजाओं का सामने आना) का अभाव हो।

मूल्येन पुष्टं च मलेन जुष्टं, नवीनवस्त्रं न हि नीरपायि।
गुरूपदेशामृतरागहीनः, शास्त्रोपजीवी खलु धीधरोऽपि ॥२॥

अन्वयार्थ–(मूल्येन पुष्टं) मूल्यवान् **(च)** और **(मलेन जुष्टं)** मल से सहित **(नवीनवस्त्रं)** नूतन वस्त्र **(नीरपायि)** जल से भीगता **(न हि)** नहीं है तथा **(शास्त्रोपजीवी)** शास्त्रों से आजीविका करने वाला **(धीधरः अपि)** विद्वान् भी **(खलु)** यथार्थ में **(गुरूपदेशामृतरागहीनः)** गुरु के उपदेशरूपी अमृतपान के राग से रहित होता है।

भावार्थ–मूल्यवान, महार्घ और मलिन नवीन वस्त्र नीर का स्पर्श नहीं करता, उसी प्रकार विद्वान् भी यदि शास्त्रों से अपनी आजीविका चलाता है तो वह भी यथार्थतः गुरुओं के उपदेशामृत राग से हीन है–विद्वत्ता के फल से रहित है।

चिन्मय-धन के धनिक रहे हैं, शिवसुख के जो जनक बने।
विरागता के सदन जिन्हें हो, नमन सदा यह कनक बने॥
लिखी गई यह अल्प ज्ञान से, नीतिशतक की रचना है।
रोग शोक ना रहे धरा पर, ध्येय पाप से बचना है ॥१॥
नया वस्त्र हो मूल्यवान हो, मल से यदि वह समल रहा।
प्रथम बार तो छू नहिं सकता जल को, जल हो विमल अहा॥
उपदेशामृत सन्तों से सुन, करता आना कानी है।
शास्त्रों का व्यवसाय चल रहा जिसका, बुध जो मानी है ॥२॥

शरीरसम्बन्धिकुलादियोगा - न्मुनेर्मुनित्वं न मलत्वमेतु।
वर्णेन कृष्णास्तु भवन्तु गावः, कदापि कृष्णं न तु तत्पयोऽस्तु ॥३॥

अन्वयार्थ– (शरीरसम्बन्धिकुलादियोगात्) देहाश्रित कुल, जाति, परिवार आदि के निमित्त संयोग से **(मुनेः)** मुनि का **(मुनित्वं)** मुनिपना **(मलत्वं)** मलिनता को **(न एतु)** नहीं प्राप्त होवे **(तु)** तथा **(वर्णेन)** वर्ण की अपेक्षा **(गावः कृष्णाः)** गायें काली **(भवन्तु)** हों **(तु)** किन्तु **(तत् पयः)** उनका दूध **(कदापि)** कभी भी **(कृष्णं)** काला **(न अस्तु)** नहीं होता।

भावार्थ–शरीर सम्बन्धी कुल-गोत्रादि के योग से मुनि का मुनिपना मलिनता को प्राप्त न हो। जैसे गायें वर्ण से काली भले ही हों पर उनका दूध काला नहीं होता।

वाञ्छन्ति सन्धिं न यमेन सार्द्ध-,मक्षार्थमुग्धा वयसैव वृद्धाः।
विद्धि ध्रुवं तैश्चरणेन पुष्टे शैथिल्यभावाश्चरणे विशन्ति ॥४॥

अन्वयार्थ–(अक्षार्थमुग्धाः) इन्द्रिय विषयों में आसक्त और **(शैथिल्यभावाः)** चारित्रिक शिथिलता को प्राप्त **(वृद्धाः)** वृद्धजन **(यमेन)** संयम के **(सार्धं)** साथ **(सन्धिं न वाञ्छन्ति)** मिलना नहीं चाहते **(वयसा एव)** अवस्था से मात्र सन्धि करते हैं। **(तैः)** उनकी संगति से **(चरणेन पुष्टे)** चारित्र से पुष्ट संयमीजन, चरण-पैरों से पुष्ट युवा की तरह **(चरणे विशन्ति)** चारित्र में शिथिल होते हैं। शिथिलाचार वालों की संगति में श्रेष्ठ संयमी भी शिथिल हो सकते हैं अतः स्थिर चारित्रवानों की संगति करना चाहिए ऐसा **(ध्रुवं)** निश्चय से **(विद्धि)** जानो।

भावार्थ–इन्द्रिय विषयों में आसक्त रहने वाले जो मनुष्य संयम से सन्धि नहीं करते हैं वे अवस्था से वृद्ध हैं, ज्ञान और संयम से नहीं। चारित्र में शिथिलता रखने वालों की संगति में दृढ़ चारित्री भी शिथिल हो जाते हैं, जैसे वृद्ध की संगति से युवा चरण शिथिल हो जाते हैं।

शिवसुखकारक भवदुखहारक मुनि का मुनिपन विमल घना।
देहाश्रित कुल-जात पात से सुनो! कभी ना समल बना॥
यही समझ में सब को आता कृष्ण-वर्ण की गायें हों।
किन्तु दूध क्या? काला होता दूध धवल ही पायें ओ!॥३॥
यद्यपि वय से वृद्ध हुए हैं संयम से अति ऊब रहे।
विषयरसिक हैं विरति विमुख हैं विषयों में अति डूब रहे॥
उनकी संगति से शुचिचारित मुनियों का वह समल बने।
वृद्ध-साथ हो युवा चले यदि युवा चरण भी विकल बने ॥४॥

ज्ञानेन वृद्धो यदि पक्षपाती, निजान्यहाः स द्वयलोकशून्यः।
पयः पवित्रं परमार्थिपेयं, लावण्ययोगात् किमु किञ्चिदस्ति ॥५॥

अन्वयार्थ– **(ज्ञानेन वृद्धः)** ज्ञान वृद्ध मनुष्य **(यदि)** यदि **(पक्षपाती)** कदाग्रही है तो **(सः)** वह **(निजान्यहाः)** स्वपर का घातक होकर **(द्वयलोकशून्यः)** इस लोक और परलोक के हित में शून्य–भ्रष्ट होता है। **(पवित्रं पयः)** शुद्ध दुग्ध **(परमार्थिपेयं)** श्रेष्ठ जनों के द्वारा पीने योग्य होता है किन्तु **(लावण्ययोगात्)** लवण के संयोग से **(किमु)** क्या **(किञ्चित् अस्ति)** कुछ पीने योग्य बचता है? अर्थात् नहीं।

भावार्थ–ज्ञान वृद्ध मनुष्य यदि पक्षपाती है–एकान्तवादी है तो वह निज–पर का घातक और उभय लोक से भ्रष्ट होता है। पवित्र दूध परमार्थी जनों के द्वारा पीने योग्य होता है पर नमक के मिलने पर क्या कुछ रहता है? अर्थात् नहीं। अपेय हो जाता है।

अक्षार्थकास्ते हितका भवन्ति, धर्मोऽहितः पापवतां भवेऽस्ति।
तथ्यं च पथ्यं न हि रोचते तत्, सत्यां रुजायां विधिरोगिणेऽत्र॥६॥

अन्वयार्थ– **(भवे)** संसार में **(पापवतां)** पापी जनों को **(ते)** प्रसिद्ध **(अक्षार्थकाः)** इन्द्रिय विषय सम्बन्धी सुख **(हितकाः)** हितकारी **(भवन्ति)** लगते हैं, और **(धर्मः)** रत्नत्रयरूप धर्म **(अहितः अस्ति)** अहितकर लगता है जैसे **(रुजायां सत्यां)** रोग के होने पर **(तत्)** हितकारी **(पथ्यं)** पथ्य **(न हि रोचते)** नहीं रुचता है। तथा **(अत्र)** इस **(विधिरोगिणे)** कर्म के रोगी के लिए **(तथ्यं च)** सद्धर्म–यथार्थ सत्य नहीं रुचता है।

भावार्थ–जो मनुष्य अक्ष–आत्मसम्बन्धी कार्यों में सुख मानते हैं, वे इस संसार में हितकारी हैं। पापी मनुष्यों के लिए धर्म अहितकारी जान पड़ता है। उचित है–कर्मरूपी रोग से युक्त मनुष्य के लिए रोग होने पर पथ्य–हितकारी वस्तु अच्छी नहीं लगती, यह जो लोकप्रसिद्धि है वह सत्य ही है।

ज्ञानवृद्ध औ तपोवृद्ध यदि पक्षपात से सहित तना।
उभय लोक में सुख से वंचित निज पर का वह अहित बना॥
सज्जन पीते पेय रहा है पावन पय का प्याला है।
छोटी सी भी लवण-डली यदि गिरती, फिर क्या? हाला है॥५॥
पाप पंक में फंसे हुए हैं, विषय-राग को सुख जाने।
मोह पाश से कसे हुए हैं वीतराग को दुख माने॥
सत्य रहा यह, कर्म-योग से जिनको होता रोग यहाँ।
पथ्य कहाँ वह रुचता उनको अपथ्य रुचता भोग महा॥६॥

धनी तु मानाय धनं ददाति, धनाय मानाय धियं तु धीमान्।
प्रायः प्रभावोऽस्तु कलेः किलायं, दूरोऽस्तु धर्मो नियमाच्च ताभ्याम्॥७॥

अन्वयार्थ– **(धनी)** धनवान् मनुष्य **(तु)** तो **(मानाय)** सम्मान प्राप्ति के लिए **(धनं ददाति)** धन देता है **(तु)** और **(धीमान्)** बुद्धिमान् पुरुष **(धनाय)** धन के लिए और **(मानाय)** मान के लिए **(धियं)** बुद्धि को देता है। **(किल)** निश्चित ही **(धर्मः)** धर्म **(ताभ्यां च)** धनी और मानी से **(नियमात्)** नियम से **(दूरः अस्तु)** दूर रहता है। **(अयं)** यह **(प्रायः कलेः)** प्रायः–अधिकांश कलिकाल का **(प्रभावः अस्तु)** प्रभाव है।

भावार्थ–धनी मनुष्य अहंकार अथवा सम्मान के लिए धन देते हैं और विद्वान धन तथा सम्मान पाने के लिए अपनी बुद्धि का उपयोग करते हैं। यह प्रायः कलिकाल का प्रभाव है। परमार्थतः धर्म उन दोनों से दूर है।

व्रतं विदग्धं व्रतिनां धियां वा, लोभार्चिषा सारविधातृ पूतम्।
बाह्येन शेषं नहि चान्तरेण, गजेन भुक्तं तु कपित्थवत् तत्॥८॥

अन्वयार्थ– **(व्रतिनां)** व्रती जनों का **(वा)** अथवा **(धियां)** ज्ञानी जनों का **(सारविधातृ)** सारभूत **(पूतं)** पवित्र **(व्रतं)** व्रत यदि **(लोभार्चिषा)** लोभ रूपी अग्नि से **(विदग्धं)** जल गया हो तो वह व्रत **(बाह्येन शेषं)** मात्र बाह्य में शेष रहता है। **(न हि च अन्तरेण)** अन्तरंग में विशुद्ध में नहीं रहता। **(गजेन भुक्तं)** हाथी के द्वारा निगल ले गये **(कपित्थवत्)** कैंथ के समान **(तत्)** वह व्रत भीतर से सार रहित–खोखला हो जाता है।

भावार्थ–व्रतीजनों अथवा ज्ञानीजनों का सारपूर्ण, पवित्र व्रत यदि लोभानल से दग्ध होता है तो वह बाह्य में ही शेष रहता है, अन्तरंग में नहीं। जैसे हाथी के द्वारा निगला हुआ कैंथा बाहर में पूर्ण दिखता है पर भीतर सार से रहित होता है।

मानभूत के वशीभूत हो धनिक दान खुद करते हैं।
मान तथा धन की आशा से ज्ञान-दान बुध करते हैं॥
प्रायः ऐसा प्रभाव प्रचलित कलियुग का है विदित रहे।
वीतराग-मय पूज्य धर्म से इसीलिए ये स्खलित रहे॥७॥
काल रूप ले लोभ अनल वह जीवन में जब खिलता है।
सुधी जनों का व्रती जनों का अपनापन ही जलता है॥
भीतर में नहिं भले बाह्य में भेष-गात्र वह भार रहो।
निगला गज ने केंथ निकलता शेष मात्र बस बाहर ओ॥८॥

परिग्रहो विग्रहमूल-हेतुः, परिग्रहो विग्रहभाव-धाता।
परिग्रहो विग्रहराजमार्गः, परिग्रहोऽनेन विमुच्यते सः॥९॥

अन्वयार्थ—(परिग्रहः) धन-धान्यादि बाह्य परिग्रह, राग-द्वेषादि अन्तरंग परिग्रह **(विग्रह-मूलहेतुः)** विग्रह-द्वेष, क्लेश-कलह का मुख्य कारण है **(परिग्रहः)** परिग्रह **(विग्रहभावधाता)** भव-भव में विग्रह-शरीर को देने वाला है। **(परिग्रहः)** परिग्रह **(विग्रहराजमार्गः)** विग्रह-विविध ग्रहों का अथवा युद्ध का राजमार्ग-मुख्य मार्ग है अतः **(अनेन)** इस मुनि के द्वारा **(सः परिग्रहः)** वह परिग्रह **(विमुच्यते)** छोड़ा गया है, त्याग कर दिया गया है।

भावार्थ—परिग्रह विद्वेष का मूल कारण है, परिग्रह विद्वेषभाव को धारण अथवा उत्पन्न करने वाला है और परिग्रह युद्ध का प्रमुख मार्ग है अतः वह साधुओं के द्वारा छोड़ा जाता है।

असंयतानां विदुषामपीह, ज्ञाने स्वभावात् गुणता न भातु।
स्पार्श्यं न दृश्यं मृदुता न नव्यं, केशेषु घृष्टे र्भुवि मित्र! दृष्टम्॥१०॥

अन्वयार्थ— (मित्र!) हे सखे! **(इह भुवि)** इस भूमितल पर **(असंयतानां)** अव्रती जनों के **(विदुषाम् अपि)** विद्वानों के भी **(स्वभावात्)** स्वभाव से **(ज्ञाने)** ज्ञान के विषय में **(गुणता)** अप्रधानता-वस्तु के निरूपण में गौणता अथवा रत्नत्रयरूप सकल व देश संयम रूप गुणरूपता **(न भातु)** शोभित नहीं होती है यथा **(घृष्टेः)** शूकर के **(केशेषु)** केशों में **(न स्पार्श्यम्)** न स्पर्शनीय **(दृश्यं)** न दर्शनीय **(मृदुता)** न कोमलता **(न नव्यं)** न नवीनता **(दृष्टं)** देखी जाती है।

भावार्थ—असंयमी विद्वान् की भी स्वभाव से ज्ञान विषयक अप्रधानता सुशोभित न हो। जैसे कि पृथ्वी पर सूकर के बालों में न स्पर्श है, न मनोहरता है, न कोमलता है और न नूतनता है।

भव भव में नव तन का कारण यही परिग्रह माना है।
वैर-कलह का जनक रहा है यही परिग्रह बाना है॥
यही परिग्रह राजमार्ग है जिस पर शनि का विचरण हो।
अतः परिग्रह तजता यह मुनि जिससे इसका सुमरण हो ॥९॥
साक्षर होकर जीवन जिसका मोहादिक से शोभित है।
ज्ञान, ज्ञानपन से वंचित है संयम से नहिं शोधित है॥
शूकर के केशों को देखो कहाँ ललित है जटिल कहाँ?
स्पर्शनीय या दर्शनीय या कोमल-कोमल कुटिल कहाँ? ॥१०॥

सत्सन्निधाने पतितोऽसुमान्यः, श्रीकण्ठभावं ध्रुवमातनोति।
रसं गतं शुक्लदधीदमत्र, श्रीखण्डभावं किमु नाभ्युपैति?॥११॥

अन्वयार्थ–([यः] असुमान्) जो मनुष्य अथवा प्राणी **(सत्सन्निधाने)** सन्तों के सान्निध्य में **(पतितः)** पहुँचता है तो वह **(श्रीकण्ठभावं)** शिवत्व–प्रभुता–कल्याणमार्ग को **(ध्रुवं)** निश्चित **(आतनोति)** विस्तृत कर लेता है। **(अत्र)** लोक में **(इदं)** यह **(शुक्लदधि)** श्वेत दही **(रसं)** मधुर रस को **(गतं)** प्राप्त होकर **(किमु)** क्या **(श्रीखण्डभावं)** श्रीखण्डपने को–सुस्वादुता को **(न अभ्युपैति)** नहीं प्राप्त करता? करता है।

भावार्थ–जो मनुष्य सत्संगति में पहुँच जाता है वह निश्चित शिवत्व–शंकरत्व–श्रेष्ठत्व को प्राप्त हो जाता है। इस जगत् में यह शुक्ल दही मिश्री के संसर्ग से उत्पन्न मधुररस के साथ मिलकर क्या श्रीखण्डभाव–सुस्वादपेयता को प्राप्त नहीं हो जाता? अर्थात् हो जाता है।

तनूभृतां व्याधिसुमन्दिरं सा, तनुर्मनोऽप्याधिकमन्दिरं तत्।
सुसाधुदेहोऽचलमन्दरोऽस्तु, चेतः समाधेः शिवमन्दिरं तु ॥१२॥

अन्वयार्थ– (तनूभृतां) देहधारकों की **(सा तनुः)** वह देह **(व्याधिसुमन्दिरं)** व्याधियों का, शारीरिक पीड़ाओं का मन्दिर–घर है **(तत् मनः अपि)** और वह मन भी **(आधिकमन्दिरं)** मानसिक चिन्ताओं का मन्दिर–स्थान है **(सुसाधुदेहः)** श्रेष्ठ साधुओं की देह **(अचलमन्दरः)** अचल मेरु पर्वत के समान दृढ़ सहनशील है **(अस्तु)** हो **(तु)** तो **(चेतः)** मन **(समाधेः)** योग–ध्यानरूप समाधि का **(शिवमन्दिरं)** जीवित कल्याणकारी भवन है। ऐसा जानकर देह में राग परिणति नहीं करना चाहिए।

भावार्थ–प्राणियों का वह शरीर रोगों का घर है और वह मन मानसिक पीड़ाओं का स्थान है परन्तु सुसाधु का शरीर मेरु के समान स्थिर–परीषहविजयी और मन समाधि–ध्यान का उत्तम स्थान है।

पाप पंक में पतित हुआ हो साधु समागम यदि पाता।
प्रथम पुण्य से भव वैभव पा मुक्ति समागम पुनि पाता॥
मिश्री का यदि सुयोग पाता खट्टी हो वह यदपि दही।
इष्ट मिष्ट श्रीखण्ड बनेगा, मूढ़ चाहता तदपि नहीं ॥११॥
जग के जड़ जंगम जीवों का काय व्याधि का मन्दिर है।
दुस्सह दुख का मूल हेतु है चित्त आधि का मन्दिर है॥
साधु जनों का किन्तु काय वह अचलराज है, मन्दर है।
निज–पर सुख का कारण मन है जीवित शिव का मन्दिर है ॥१२॥

इता त्विर्ति केवलबोधशक्तिः, शक्तेर्विधेराभवताऽङ्गिनां सा।
यथोदिते व्योमनि भास्करेऽस्मिन्, दलोऽप्युडूनां न हि दृश्यतेऽयम् ॥१३॥

अन्वयार्थ— **(विधेः)** कर्म की **(शक्तेः)** शक्ति के कारण **(अङ्गिनां)** प्राणियों की **(सा)** वह **(केवलबोधशक्तिः)** केवलज्ञान की शक्ति **(आभवतः)** अनादिकाल से संसार में **(इतिं)** समाप्ति को **(तु)** तो **(इता)** प्राप्त हो गई है। **(यथा)** जैसे **(अस्मिन् व्योमनि)** इस आकाश में **(भास्करे उदिते)** सूर्य के उदित हो जाने पर **(उडूनां)** नक्षत्रों का **(अयं)** यह **(दलः)** समूह **(अपि)** भी **(न हि)** नहीं **(दृश्यते)** दिखाई देता है।

भावार्थ—कर्म की सामर्थ्य से जीवों की वह केवलज्ञान की शक्ति अनादि संसार से उस तरह समाप्ति को प्राप्त हो रही है जिस प्रकार कि इस आकाश में सूर्य के उदित होने पर नक्षत्रों का यह समूह नहीं दिखाई देता है।

धूम्रप्रसूतिर्ज्वलतो यथा स्या-दार्द्रेन्धनात् सा नियतेह दृष्टा।
विरागदृष्टे र्न हि पुष्टितुष्टी, स्यातां गृहे सा तु सरागदृष्टिः॥१४॥

अन्वयार्थ— **(इह)** इस भूमि पर **(यथा)** जिस प्रकार **(ज्वलतः)** अग्नि से **(धूम्रप्रसूतिः)** धूम की उत्पत्ति होती है **(सा नियता)** वह निश्चित ही **(आर्द्रेन्धनात्)** गीले ईंधन के संयोग से **(दृष्टा स्यात्)** देखी जाती है उसी प्रकार से **(गृहे)** गृह में **(विरागदृष्टेः)** वैराग्य दृष्टि की **(पुष्टितुष्टी)** पुष्टि और तुष्टि **(न हि)** नहीं **(स्यातां)** होती है **(सा)** वह **(सरागदृष्टिः)** सरागता की दृष्टि **(तु)** तो अवश्य होती है।

भावार्थ—जिस प्रकार जगत् में अग्नि से जो धूम की उत्पत्ति देखी जाती है वह गीले ईन्धन के संयोग से देखी गयी है। इसी प्रकार पोषण और संतोष सरागदृष्टि के होते हैं, विरागदृष्टि के नहीं। वह सरागदृष्टि घर में रहने वालों के होती है, गृहत्यागी मुनियों के नहीं।

केवल ज्ञानावरणादिक जड़ कर्मों का जब उदय रहा।
पूर्ण ज्ञान का उदय नहीं हो अनन्त सुख का निलय रहा॥
विशाल नभ मण्डल में जैसा उदित प्रभाकर लोहित हो।
तारक दल वह लुप्त-गुप्त हो शशि भी शीघ्र तिरोहित हो॥१३॥
गृहस्थ जब तक गृह में रहता विरागता का श्वास नहीं।
जैसा जीवन अनुभव वैसा सरागता का वास वहीं॥
सूखी लकड़ी जलती जिससे धूम्र नहीं वह उठता है।
गीली लकड़ी मन्द जलेगी धूम्र उठे, दम घुटता है॥१४॥

अध्यात्मशास्त्रं शमिने सुधा स्यात्, सङ्गात्मनेऽस्मिन् विषमं विषं तत्।
मीनस्य नीरं खलु जीवनं हा, मृत्युः परस्मै विदितं न केन?॥१५॥

अन्वयार्थ– (अध्यात्मशास्त्रं) अध्यात्मग्रन्थ **(शमिने)** मुनियों के लिए **(सुधा)** अमृतरूप **(स्यात्)** होता है किन्तु **(तत्)** वह **(अस्मिन्)** इन **(सङ्गात्मने)** परिग्रह सहित गृहस्थों के लिए **(विषमं)** तीव्र **(विषं)** विषरूप हो जाता है, **(मीनस्य)** मछली के लिए **(नीरं)** जल **(खलु)** निश्चित ही **(जीवनं)** जीवनदायी होता है किन्तु **(हा!)** खेद है! कि **(परस्मै)** अन्य जनों को वह नीर **(मृत्युः)** मरण के लिए कारण होता है। यह **(केन)** किसी के द्वारा **(विदितं)** जाना **(न)** नहीं है? जाना है।

भावार्थ–इस जगत् में अध्यात्मशास्त्र, शान्तपरिणामी-गृहत्यागी मुनि के लिए अमृतरूप होता है, परन्तु परिग्रही गृहस्थ के लिए तो विषम विषरूप होता है। जैसे निश्चयतः पानी मछली के लिए जीवन-प्राणदायक परन्तु दूसरे के लिए मृत्यु रूप है, यह कौन नहीं जानता?

स्वभाव-भुक्तिर्न विभावमुक्ति-स्तनूभृति त्यक्ततनौ यथा स्यात्।
प्रकाशशक्ति र्न हि गन्धभावो, दुग्धेऽमलत्वं तु घृते समस्तु॥१६॥

अन्वयार्थ–(त्यक्ततनौ) देह रहित में-सिद्धात्मा में यथा **(स्वभावभुक्तिः)** स्वभाव का संवेदन और **(विभावमुक्तिः)** वैभाविक भावों की मुक्ति होती है तथा **(न तनूभृति)** देहधारियों में नहीं होती। **(यथा)** जिस प्रकार **(दुग्धे)** दुग्ध में **(प्रकाशशक्तिः गंधभावः अमलत्वं न हि स्यात्)** न प्रकाश-पारदर्शिता की शक्ति है, न सुगन्ध भाव है, न निर्मलत्व है वैसा **(घृते)** घृत में तीनों का अभाव नहीं है **(तु)** किन्तु **(घृते)** घृत में **(समस्तु)** सभी कुछ श्रेष्ठ है।

भावार्थ–जिस प्रकार मृत प्राणी में न स्वभाव का संवेदन है और न विभाव का मोचन, उसी प्रकार प्रकाश की शक्ति और गन्ध का सद्भाव दूध में नहीं है किन्तु घृत में अच्छी तरह है। तात्पर्य यह है कि अशुद्ध दशा में शरीर का परित्याग-मरण होने पर भी आत्मस्वभाव का वेदन नहीं होता और न विकारी भावों का मोचन। किन्तु यह सब शुद्ध दशा होने पर होता है।

मुनियों को अध्यात्म शास्त्र वह प्रायः परमामृत प्याला।
विषयरसिक हैं गृही जनों को विषम-विषमतम है हाला॥
जीवन-दाता प्राण-प्रदाता नीर मीन को माना है।
औरों को तो मृत्यु रहा है यही योग्यता बाना है॥१५॥
तन से रीते शिव जिन जीते उनमें संभव हो भव ना।
स्वभावदर्शन विभावघर्षण तन-धारक में संभव ना॥
कहाँ दूध से प्रकाश मिलता तथा दूध में गन्ध कहाँ?
प्रकाश देता तथा महकता घृत से जल का बंध कहाँ?॥१६॥

भोगोपभोगेषु रतो न मानी, योगोपयोगेषु परः प्रमाणी।
नासाग्रदृष्टि र्न हि सान्यथा ते, विनेति मानेन मनोऽनुमन्ये॥१७॥

अन्वयार्थ—हे भगवन्! आप **(भोगोपभोगेषु)** भोग और उपभोग के योग्य पदार्थों में **(रतः न)** लीन नहीं हैं अतएव **(मानी)** स्वाभिमानी–ज्ञानी हो **(योगोपयोगेषु)** योग और उपयोग में रत होने से **(परः)** श्रेष्ठ **(प्रमाणी)** प्रकृष्ट मानी–प्रकृष्ट ज्ञानी हो **(अन्यथा)** ऐसा न हो तो **(ते)** आपकी **(सा)** वह **(नासाग्रदृष्टिः)** नासाग्रदृष्टि **(न हि)** नहीं हो सकती है। **(मानेन विना)** मान अथवा ज्ञान के बिना **(मनः)** मन अथवा अनुमान कहाँ रह सकता है? **(इति)** ऐसा मैं **(अनुमन्ये)** अनुमान करता हूँ।

भावार्थ—हे भगवन्! आप भोग और उपभोग में लीन नहीं है इसलिए स्वाभिमानी है तथा ध्यान और ज्ञानदर्शन में तत्पर है, इसलिए प्रकृष्ट मान से युक्त है। पक्ष में प्रमाण ज्ञान से सहित है। यदि ऐसा नहीं माना जाय तो आपकी नासाग्रदृष्टि नहीं हो सकती। मान के बिना मन कैसे रह सकता है, यह अनुमान करता हूँ।

भूत्वा नरोऽयं सुकृतान् सुसङ्गं, व्रतं कदं नोऽप्यकदं प्रयाति।
उदारदातारमगं सरिन्न, क्षारं च वार्धिं कृपणं समेति॥१८॥

अन्वयार्थ—(अयं) यह प्राणी **(सुकृतात्)** पुण्य से **(नरः)** मनुष्य **(भूत्वा)** होकर **(कदं)** सुखद **(व्रतं)** पापों के त्यागरूप व्रत को **(अपि)** भी **(नो)** नहीं **(प्रयाति)** प्राप्त करता अपितु **(अकदं)** दुःखद **(सुसङ्गं)** परिग्रह को प्राप्त करता है। **(सरित्)** जिस प्रकार नदी–निम्नगा **(उदारदातारं)** उदारदाता **(अगं)** पर्वत को **(न)** नहीं प्राप्त करती अपितु **(कृपणं)** कंजूस **(क्षारं वार्धिं च)** क्षार जल वाले समुद्र को **(समेति)** प्राप्त करती है। नदी नीचे को जाती है अतः उसका नाम निम्नगा सार्थक है।

भावार्थ—यह प्राणी पुण्य से मनुष्य होकर सुखदायक व्रत को प्राप्त नहीं होता किन्तु दुःखदायक परिग्रह को प्राप्त होता है। उचित ही है क्योंकि नदी उदारदानशील पर्वत अथवा वृक्ष को तो प्राप्त नहीं होती किन्तु खारे और कंजूस समुद्र के पास जाती है।

भोग और उपभोगों से तो विरत रहे हों मानी हो।
योग और उपयोगों में जो निरत रहे परमाणी हों॥
नासा पर फिर दृष्टि रही क्यों? ऐसा यदि भगवान नहीं,
मान बिना यह परिणति ना हो मेरा यह अनुमान सही॥१७॥
जीव पुण्य का उदय प्राप्तकर नर जीवन को पाकर भी।
सुखद चरित ना दुखद असंयम प्रायः पाले पामर ही॥
उदार उरवाले पर्वत पर मुड़कर भी नहिं हँसती है।
खारा सागर रहा कृपण है सरिता जिस में फँसती है॥१८॥

असंयते श्रीमति धीमतीह, विना प्रयत्नेन मदस्य भावः।
दृष्टेरभावात् किल तापसेऽपि, निद्रा निशायां समुपैति प्रायः॥१९॥

अन्वयार्थ—(इह) इस लोक में **(दृष्टेः अभावात्)** सम्यक्त्व का अभाव होने से **(असंयते)** असंयमी में, **(श्रीमति)** लक्ष्मी सम्पन्न में, **(धीमति)** बुद्धि युक्त में और **(तापसे अपि)** तपस्वी जनों में भी **(प्रयत्नेन विना)** बिना प्रयत्न के **(किल)** ही **(मदस्य भावः)** अहंकार का भाव **(प्रायः)** अधिकांश **(समुपैति)** उत्पन्न होता है, जिस प्रकार **(निशायां)** रात्रि में **(निद्रा)** निद्रा बिना प्रयास के आ जाती है।

भावार्थ—विवेकपूर्ण दृष्टि का अभाव होने से संयमहीन, श्रीमान्, धीमान् और तापसी में भी प्रयत्न के बिना ही गर्व का सद्भाव होता है यह ठीक है क्योंकि प्रायः रात्रि में निद्रा प्रयत्न के बिना ही आती है।

विनात्र रागेण वधूललाटो, विनोद्यमेनापि विभातु देशः।
दृष्ट्या विना सच्च मुनेर्न वृत्तं, रसेन शान्तेन कवेर्न वृत्तम्॥२०॥

अन्वयार्थ—(अत्र) भारतीय संस्कृति में **(रागेण विना)** कुंकुम के बिना **(वधूललाटः)** सपतिक–ललना जन का भाल, **(उद्यमेन विना)** व्यवसाय के बिना **(देशः)** जनपद, [देश/प्रदेश/राज्य/नगर/ग्राम/परिवार] **(अपि)** भी **(न विभातु)** शोभित नहीं होता उसी प्रकार **(दृष्ट्या विना)** सम्यग्दर्शन के बिना **(मुनेः सद्वृत्तं)** मुनि का सच्चारित्र तथा **(शान्तेन रसेन च)** शान्तरस के बिना **(कवेः वृत्तं)** कवि का काव्य–छन्द **(न)** शोभित नहीं होता है।

भावार्थ—इस पृथ्वी पर कुंकुम के बिना स्त्री का ललाट, व्यवसाय–उद्योग के बिना देश, सम्यग्दर्शन के बिना मुनि का सम्यक्चारित्र और शान्तरस के बिना कवि का छन्द सुशोभित न हो।

दृष्टि रहित हो घोर घोरतर तप तपता उस तापस में।
श्रीमन्तों में धीमन्तों में तथा असंयत मानस में॥
अनायास ही होता रहता मद जिससे बहु दोष पले।
निशाकाल में निद्रा जैसी प्रायः आती होश टले॥१९॥
लाल तिलक बिन ललना जनका ललाटतल ना ललित रहे।
उद्यम के बिन तथा जगत में देश ख्यात ना दलित रहे॥
परम शान्त रस बिना किसे वह भाती कवि की कविता है।
सम दर्शन के बिना कभी ना भाती मुनि की मुनिता है॥२०॥

आसन्नमृत्युर्विषयी कषायी, निष्क्रान्तकान्तिर्ननु दीप्तमोहः।
अत्यन्तवृद्धा गहनेऽम्लिकास्तु, तथापि वृद्धाम्लिकता न सास्तु॥२१॥

अन्वयार्थ–(आसन्नमृत्युः) जिसकी मृत्यु निकट है **(विषयी)** पंचेन्द्रिय के विषयों में आसक्त है **(कषायी)** क्रोधादिक से युक्त है **(निष्क्रान्तकान्तिः)** जिसकी देह की कान्ति निकल चुकी है ऐसा मनुष्य भी **(दीप्तमोहः)** तीव्र रागादि भावयुक्त देखा जाता है। **(गहने)** वन में **(अम्लिकाः)** इमली के ऐसे प्रसिद्ध वृक्ष हैं जो **(अत्यन्तवृद्धाः)** बहुत पुराने हैं **(तथापि)** जिनकी **(अम्लिकता)** खटास–खटाई **(वृद्धा)** वृद्ध **(नास्तु)** नहीं हुई अपितु **(ननु)** निश्चय से **(सा)** खटाई **(तु)** तो वही है।

भावार्थ–जिसकी मृत्यु निकट है तथा कान्ति निकल चुकी है ऐसा विषयकषाय से युक्त मनुष्य निश्चय से तीव्रमोह से युक्त देखा जाता है जैसे वन में इमली के वृक्ष पुराने तो होते हैं पर उनका खट्टापन क्या वही नहीं रहता?

शृङ्गार एवैकरसो रसेषु, न ज्ञाततत्त्वाः कवयो भणन्ति।
अध्यात्मशृङ्गं त्विति राति शान्तः, शृङ्गार एवेति ममाशयोऽस्ति॥२२॥

अन्वयार्थ–(रसेषु) रसों में **(शृङ्गारः एव)** शृंगाररस ही **(एकरसः)** प्रमुख रस है **(इति)** ऐसा **(न ज्ञाततत्त्वाः)** यथार्थ तत्त्व को नहीं जानने वाले **(कवयः)** कवि लोग **(भणन्ति)** कहते हैं **(तु)** किन्तु **(अध्यात्मशृङ्गं)** अध्यात्म के शिखर को **(राति)** लाता है **(इति)** ऐसी निरुक्ति के आधार पर **(शान्तः एव)** शान्तरस ही **(शृङ्गारः)** शृंगाररस है **(इति)** ऐसा **(ममाशयः अस्ति)** मेरा अभिप्राय है।

भावार्थ–''रसों में शृंगार रस ही प्रमुख है'' ऐसा यथार्थ तत्त्व को जानने वाले कवि नहीं कहते हैं। ''अध्यात्म के शृंग–शिखर–सर्वोच्च स्थान को जो देता है वह शृंगार है इस निरुक्ति से शान्तरस ही शृंगार रस है'' ऐसा मेरा अभिप्राय है।

जीर्ण-शीर्ण तन कान्तिहीन है पर भव भी अब निकट रहा।
मोही का पर विषयों पर ही झपट रहा मन निपट रहा॥
बहुत पुराना इमली का वह रहा वृक्ष अतिवृद्ध रहा।
किन्तु खटाई इमली की नहिं वृद्धा यह अविरुद्ध रहा॥२१॥
एक रहा शृंगार रसों में रस में डूबे रहते हैं।
तत्त्वज्ञान से विमुख रहे जो इस विध कुछ कवि कहते हैं॥
किन्तु सुनो! अध्यात्म शृंग तक पहुँचाता रस सार रहा।
परम-शान्त रस कवियों का वह सुखकर है शृंगार रहा॥२२॥

तीर्थङ्कराणां शिवकेशवानां, नामावली सा बलदेवकानाम्।
किं विस्मृता नो जगता मृता या-प्यस्मादृशां कास्तु कथेतरेषाम्॥२३॥

अन्वयार्थ—(तीर्थंकराणां) तीर्थंकरों की **(शिवकेशवानां)** रुद्रों और नारायणों की तथा **(बलदेवकानां)** बलभद्रों की **(या)** जो प्रसिद्ध **(नामावली)** नामों की पंक्ति है **(सा अपि)** वह भी **(किं)** क्या **(जगता)** जनमानस के द्वारा **(विस्मृता मृता)** विस्मृत मृत **(नो)** नहीं है? तब **(अस्मादृशां)** हमारे जैसे **(इतरेषां)** साधारण पुरुषों की **(का कथा अस्तु)** क्या कथा है? कोई नहीं जानेगा।

भावार्थ—तीर्थंकर, रुद्र, नारायण और बलभद्रों की भी नामावली मरने के बाद जब जगत् ने भुला दी तब हमारे जैसे साधारण पुरुषों की तो कथा ही क्या हो?

अर्थेन युक्तं नरजीवनं न, चार्थे नियुक्तं मुनिजीवनं चेत्।
खपुष्पशीलं च भुवीक्षुपुष्प-वदेव वन्द्यं न विदुर्विमानाः॥२४॥

अन्वयार्थ— (चेत्) यदि **(नरजीवनं)** गृहस्थ का जीवन **(अर्थेन युक्तं न)** धन से सहित नहीं है **(च)** और **(मुनिजीवनं)** मुनि का जीवन **(अर्थे)** धन में **(नियुक्तं)** संलग्न है तो वह जीवन **(भुवि च)** पृथ्वी पर **(खपुष्पशीलं)** आकाश के पुष्प के समान और **(इक्षुपुष्पवत्)** इक्षु के पुष्प के समान **(एव)** ही निष्फल है और **(न वन्द्यं)** आदरणीय भी नहीं है अर्थात् सही-सही पुरुषार्थ ही वन्दनीय है, ऐसा **(विमानाः)** वि-विशिष्ट, मानी-ज्ञानी **(विदुः)** कहते हैं।

भावार्थ—यदि गृहस्थ मनुष्य का जीवन धन से रहित है और मुनि का जीवन धन में संलग्न है तो वह पृथ्वी पर आकाश पुष्प और ईख के पुष्प के समान निष्फल है, अतः आदरणीय नहीं है, ऐसा ज्ञानी जन जानते हैं-कहते हैं।

नारायण प्रतिनारायण औ तीर्थंकर बलदेव धनी।
महापुरुष वे महामना वे कहाँ गये जिनदेव गणी?॥
काल-गाल में कवल हुए सब विस्मृत मृत हैं आज नहीं।
हम सम साधारण जन की क्या? कथा रही यह लाज रही॥२३॥
गृही बना पर उद्यम बिन हो धन से वंचित यदि रहता।
श्रमण बना श्रामण्य रहित हो धन में रंजित यदि रहता॥
ईख-पुष्प आकाश-पुष्पसम इनका जीवन व्यर्थ रहा।
सही-सही पुरुषार्थ वन्द्य है जिस बिन सब दुखगर्त रहा॥२४॥

संज्ञाततत्त्वोऽप्यधनी गृही स, लोकेऽत्र दृष्टो धनिकानुगामी।
श्वा स्वामिनं वीक्ष्य यथाशुदीनः, सुखाय संचालितलूमकोऽस्तु॥२५॥

अन्वयार्थ— (अत्र लोके) यहाँ लोक में **(दृष्टः)** देखा जाता है कि **(संज्ञाततत्त्वः अपि)** वस्तु स्वरूप-कर्म सिद्धान्त का ज्ञाता होकर भी **(सः)** वह **(गृही)** गृहस्थ यदि **(अधनी)** धन रहित है तो वह **(धनिकानुगामी)** धनिकों का अनुगामी होकर उनकी हाँ में हाँ मिलाता है, **(यथा)** जिस तरह **(श्वा)** श्वान **(स्वामिनं वीक्ष्य)** स्वामी को देखकर **(सुखाय)** सुख के लिए **(संचालितलूमकः)** पूँछ को हिलाता हुआ **(आशु)** शीघ्र **(दीनः अस्तु)** दीन हो जाता है। यह खेद की बात है।

भावार्थ—वस्तुतत्त्व का ज्ञाता होकर भी निर्धन गृहस्थ सुख प्राप्ति के लिए उस प्रकार धनिकों का अनुगमन उनकी हाँ में हाँ मिलाता हुआ देखा गया है जिस प्रकार कि मालिक को देखकर सुख पाने की इच्छा से पूँछ हिलाता हुआ कुत्ता शीघ्र दीन हो जाता है।

निश्रेयसोऽस्मै मुनये पथीह, संगोऽप्यणुः संचरतेऽस्ति विघ्नः।
वाताहतः पुच्छकमण्डलोऽपि, शिखण्डिने स्वस्य यथास्त्यरण्ये॥२६॥

अन्वयार्थ— (इह) यहाँ **(निश्रेयसः पथि)** मोक्ष के मार्ग में **(सञ्चरते)** संचरण करने वाले **(अस्मै)** इस **(मुनये)** मुनि के लिए **(अणुः अपि सङ्गः)** अणु मात्र भी परिग्रह **(विघ्नः अस्ति)** बाधक है। **(यथा)** जिस प्रकार **(वाताहतः)** वायु से प्रेरित **(स्वस्य)** स्वयं का **(पुच्छकमण्डलः)** पिच्छों का समूह **(अपि)** भी **(अरण्ये)** वन में **(सञ्चरते)** विचरण करने वाले **(शिखण्डिने अस्ति)** मयूर के लिए बाधक होता है।

भावार्थ—यहाँ मोक्षमार्ग में संचार करने वाले इस मुनि के लिए अल्प भी परिग्रह उस तरह विघ्न करने वाला है, जिस तरह कि वन में विचरने वाले मयूर के लिए वायु से ताड़ित उसके निजी पिच्छों का समूह।

तत्त्व-बोध को प्राप्त हुए पर धन से यश से यदि रीते।
प्रायः मानव धनी जनों की हाँ में हाँ भर कर जीते॥
श्वान चाहता सुखमय जीवन जग में सात्त्विक नामी हो।
पीछे-पीछे पूँछ हिलाता स्वामी के अनुगामी हो॥२५॥
मोक्षमार्ग में विचरण करता श्रमण बना है नगन रहा।
किन्तु परिग्रह यदि रखता है अणुभर भी सो विघन रहा॥
पवन वेग से मयूर का वह पुच्छ-भार जब ताड़ित हो।
मयूर समुचित चल ना सकता विचलित पद हो बाधित हो॥२६॥

सङ्गस्तु सङ्गोऽस्तु समाधिकाले, सङ्घस्य भारो यमिनेऽस्तु सङ्गः।
वृद्धाय वा भूषणकानि कानि, लघूनि वस्त्राणि गुरूणि सन्तु॥२७॥

अन्वयार्थ– **(यमिने)** दिगम्बर श्रमणों के लिए **(सङ्गः तु)** परिग्रह तो **(सङ्गः अस्तु)** परिग्रह है ही **(तु)** किन्तु **(समाधिकाले)** समाधि के काल में **(सङ्घस्य भारः)** शिष्य समुदाय का दायित्व रूप भार भी **(सङ्गः अस्तु)** परिग्रह हो जाता है **(वा)** जिस प्रकार **(वृद्धाय)** वृद्ध मनुष्य के लिए **(कानि)** सुखरूप **(लघूनि)** अल्प हल्के भी **(भूषणकानि)** आभूषण और **(वस्त्राणि)** वस्त्र भी **(गुरूणि सन्तु)** भारी लगते हैं।

भावार्थ–मुनि के लिए परिग्रह तो परिग्रह है ही परन्तु समाधि के समय संघ का भार-दायित्व भी परिग्रह हो जाता है। जैसे वृद्ध के लिए सुखदायक लघु आभूषण और वस्त्र भी भारी हो जाते हैं अथवा वृद्ध के लिए अल्प आभूषण क्या है, लघु वस्त्र भी भारी लगने लगते हैं।

कायेन वाचा तु गुरुः कठोरो, हितैषिणः स प्रति तान् विनेयान्।
तथा न चित्तेन मृदुर्दयैक-धामा लघुः श्रीफलवत् सदास्तु॥२८॥

अन्वयार्थ– **(हितैषिणः)** हित चाहने वाले **(तान्)** उन **(विनेयान्)** शिष्यों के **(प्रति)** प्रति **(सः गुरुः)** वह प्रसिद्ध आचार्य **(कायेन)** काय से और **(वाचा)** वचनों से **(तु)** तो **(कठोरः)** अनुशासनप्रिय होते हैं, **(तथा चित्तेन)** उस प्रकार मन से **(न)** नहीं होते। मन से तो **(श्रीफलवत्)** श्रीफल की तरह **(मृदुः)** कोमल **(दयैकधामा)** दया के अद्वितीय स्थान व **(लघुः)** प्राप्त करने योग्य **(सदा)** सर्वदा **(अस्तु)** होते हैं।

भावार्थ–हिताभिलाषी संघस्थ शिष्यों के प्रति गुरु काय और वचन के द्वारा कठोर भले ही हों परन्तु मन से नारियल के समान कोमल, दया का प्रमुख स्थान और सुगम्य सदा होते हैं।

बात संग की कहें कहाँ तक सुनो! संग तो संग रहा।
संघ-भार भी अन्त समय में संग रहा सुन दंग रहा॥
वस्त्राभरणाभूषण सारे बोझिल हो मणिहार तथा।
वृद्धावस्था में तो कोमल-मलमल भी अतिभार व्यथा॥२७॥
सुख चाहें उन शिष्यों के प्रति कठोरतर व्यवहार करें।
कभी-कभी गुरु रुष्ट हुए से वचनों का व्यापार करें॥
किन्तु हृदय से सदा सदय हो मार्दवतम हो लघुतम हो।
जैसा श्रीफल कठोर बाहर भीतर उज्ज्वल मृदुतम हो॥२८॥

पापाय पापैर्जिनवाक् श्रिता सा, पुण्याय पापातिगकैः पुनीता।
जलस्य धारा रसमिक्षुणा च , निम्बोरगाभ्यां कटुतां सुनीता॥२९॥

अन्वयार्थ—(पापैः) पापयुक्त जीवों द्वारा **(श्रिता)** गृहीत **(पुनीता)** पवित्र **(सा)** वह **(जिनवाक्)** जिनवाणी **(पापाय)** विषय-कषाय को पुष्ट करने रूप पाप के लिए होती है **(च)** और **(पापातिगकैः)** पापों से मुक्त मनुष्यों के द्वारा गृहीत पुनीत जिनभारती **(पुण्याय)** विषय-कषाय की निवृत्तिरूप पुण्य के लिए होती है। **(जलस्य धारा)** जल की धारा **(इक्षुणा)** इक्षु वृक्ष की संगति से **(रसं)** मधुरता को **(सुनीता)** प्राप्त होती है **[च]** और **(निम्बोरगाभ्यां)** निम्बवृक्ष की संगति से तथा सर्प के मुख में जाकर **(कटुतां)** कटुता को-जहर को प्राप्त होती है।

भावार्थ—पापी मनुष्यों ने पवित्र जिनवाणी का आश्रय पापकार्य-विषयकषाय की पुष्टि के लिए लिया है और निष्पाप-पापरहित मनुष्यों ने पुण्य के लिए। जैसे ईख जल की धारा को मधुररस प्राप्त कराती है और नीम तथा सर्प कड़वा रस।

यातोऽस्म्यहंकारविकारभावं, कायस्य नो तं ममकारभावम्।
यास्याम्यहं कायनिकायभावं, नात्मा भृशं यन्ममकारभावम्॥३०॥

अन्वयार्थ—(कायस्य) शरीर संबंधी **(अहंकारविभावभावं)** मिथ्यात्व के उदय से होने वाली पर पदार्थों में अहंबुद्धिरूप अहंकारमय विकारीभाव को **(तं)** उस देह सम्बन्धी **(ममकारभावं)** पर द्रव्य में मेरेपन के भावस्वरूप ममकारभाव को भी **(नो यातः अस्मि)** नहीं प्राप्त हुआ हूँ **(अहं)** प्रज्ञावान् **(कायनिकायभावं)** शरीर में निकाय-गृहभाव को **(यास्यामि)** प्राप्त करूँगा। **(यत्)** जिससे **(मम)** मेरी **(आत्मा)** निजात्मा **(भृशं)** अतिशयरूप से **(कारभावं)** कालभावरूप मरण को नहीं प्राप्त करेगी।

भावार्थ—मैं शरीर के विषय में अहंकारभाव को और प्रसिद्ध ममकारभाव को प्राप्त नहीं हुआ हूँ अर्थात् शरीर में मेरा अहंभाव और ममत्वभाव नहीं है। मैं शरीर में गृहभाव को प्राप्त होऊँगा अर्थात् शरीर को गृहरूप मानूँगा जिसके फलस्वरूप मेरा आत्मा मृत्यु को प्राप्त नहीं हो सकेगा।

पापात्मा का आश्रय पाकर सन्त वचन भी पाप बने।
पुण्यात्मा का आश्रय पाकर पुण्य बने भवताप हने॥
नभ से गिरती जल की धारा! इक्षु-दण्ड में मधुर सुधा।
कटुक नीम में अहि में विष हो अब तो मन तू सुधर मुधा॥२९॥
अहंकार की परिणति से मैं पूर्ण रूप से विरत रहूँ।
तथा काय की ममता तजकर समता में नित निरत रहूँ॥
यही नियति है बार-बार फिर तन का धारण नहीं बने।
कारण मिटता कार्य मिटेगा प्राण विदारण नहीं बने॥३०॥

पापेन पापं न लयं प्रयाति, पुनस्तु पुण्यं पुरुषं पुनातु।
मलं मलेनालमलं लयं तत्, विना विलम्बेन जलेन याति ॥३१॥

अन्वयार्थ— (पापेन पापं) पाप से पाप **(न लयं प्रयाति)** नष्ट नहीं होता **(पुनः तु)** किन्तु **(पुण्यं)** पुण्यभाव **(पुरुषं)** आत्मारूप पुरुष को **(पुनातु)** पवित्र करता है। **(तत्)** वह मल **(मलेन अलं अलं)** मल से नहीं-नहीं किन्तु **(जलेन)** जल से **(विना विलम्बेन)** बिना विलम्ब के **(लयं याति)** विनाश को प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ—पाप से पाप विनाश को प्राप्त नहीं होता किन्तु पुण्य मनुष्य को पवित्र करता है। जैसे मल से मल नाश को प्राप्त नहीं होता। अतः मल धोने के लिए मल बिल्कुल व्यर्थ है किन्तु जल के द्वारा वह मल शीघ्र ही नाश को प्राप्त हो जाता है।

विश्वस्य सारं प्रविहाय विज्ञः, कः स्वं त्वटेत् स्वं भुवि वीतमोहः।
निस्सारभूतं किमु तक्रमिष्टं, स्वादिष्ट आप्ते नवनीतसारे ॥३२॥

अन्वयार्थ— (भुवि) वसुधा पर **(वीतमोहः)** मोह रहित **(कः विज्ञः)** कौन विज्ञ पुरुष है जो **(विश्वस्य सारं)** विश्व की सारभूत श्रेष्ठ **(स्वं)** आत्मा को **(प्रविहाय)** छोड़कर **(स्वं)** धन को **(अटेत्)** प्राप्त करे? **(स्वादिष्टे)** स्वादिष्ट **(नवनीतसारे)** नवनीतस्वरूप सार के **(आप्ते)** प्राप्त होने पर **(निस्सारभूतं)** सार रहित **(तक्रं)** छाछ-मट्ठा **(किमु)** क्या **(इष्टं)** इष्ट होता है? नहीं।

भावार्थ—पृथ्वी पर ऐसा कौन निर्मोह ज्ञानी पुरुष है, जो सब पदार्थों में सारभूत अपने आत्मा को छोड़कर धन को प्राप्त करना चाहे। स्वादिष्ट मक्खनरूप सार के प्राप्त हो जाने पर क्या सारहीन छाछ इष्ट होती है अर्थात् नहीं।

प्रयास पूरा भले करो तुम पाप पाप से नहिं मिटता।
पाप पुण्य से पल में मिटता पुरुष पूत हो सुख मिलता॥
मल से लथपथ हुआ वस्त्र हो मल से कब वह धुल सकता?
विमल सलिल से धोलो पल में, मूल रूप से धुल सकता ॥३१॥
सब सारों का सार रहा है चेतन निधि को त्याग जिया।
रहा अचेतन दुख का केतन जड़ वैभव में राग किया॥
कौन रहा वह बुद्धिमान हो सारभूत नवनीत तजे।
क्षारभूत रसरीत छाछ में भूल कभी क्या? प्रीत सजे ॥३२॥

धनार्जनारक्षणयोर्विलीनो, विना सुखेनार्त्तमना मृतो ना।
मोहस्य शक्तिर्जगता न गम्या, व्यथां गता सा चमरी यथात्र॥३३॥

अन्वयार्थ—(धनार्जनारक्षणयोः) धन के अर्जन और संरक्षण में **(विलीनः)** संलग्न **(आर्त्तमनाः)** दुखित हृदय वाला **(ना)** पुरुष **(सुखेन विना)** सुख प्राप्त किए बिना ही **(मृतः)** मर जाता है **(अत्र)** लोक में **(यथा)** जिस प्रकार **(सा)** वह प्रसिद्ध **(चमरी)** बाल संरक्षण में तत्पर सुन्दर पूँछ युक्त गाय **(व्यथां)** कष्ट को **(गता)** प्राप्त होती है। **(मोहस्य शक्तिः)** मोह की शक्ति **(जगता)** संसारी जीवों के द्वारा **(गम्या)** जानने योग्य **(न)** नहीं है।

भावार्थ—धन के उपार्जन और संरक्षण में लगा मानव सुख के बिना दुःखी होता हुआ मर जाता है जैसे इस जगत् में सुरागाय पूँछ के बालों की रक्षा में संलग्न रह पीड़ा को प्राप्त होती है। अतः मोह की शक्ति-समर्थता जगत् के जानने योग्य नहीं है। परिग्रह में आसक्त मनुष्य धन के सुख का भोग किए बिना ही मर जाता है।

शस्ताः प्रजाः सन्तु विनात्र राज्ञा, राजा तथा नोऽस्तु विना प्रजाभिः।
को नाम सिन्धुः परतन्त्र एव, बिन्दुः स्वतन्त्रः किल सिन्धुहेतुः॥३४॥

अन्वयार्थ— (अत्र) धरा पर **(राज्ञा विना)** राजा के बिना **(शस्ताः)** उत्तम **(प्रजाः)** प्रजा **(सन्तु)** रह सकती है। **(तथा)** उस प्रकार **(प्रजाभिः विना)** प्रजा के बिना **(राजा नो अस्तु)** राजा नहीं रह सकता है। **(सिन्धुः कः नाम)** सिन्धु क्या वस्तु है? **(परतन्त्रः एव)** परतन्त्र ही है **(बिन्दुः स्वतन्त्रः)** बिन्दु स्वतन्त्र है, **(किल)** क्योंकि वह **(सिन्धुहेतुः)** समुद्र का कारण है।

भावार्थ—इस जगत् में राजा के बिना उत्तम प्रजा भले ही रह सकती है परन्तु प्रजा के बिना राजा नहीं हो सकता है, क्योंकि प्रजा के रहने पर ही प्रजापति-राजा संज्ञा प्राप्त होती है। अतः राजा प्रजा के अधीन होने से परतन्त्र है, प्रजा स्वतन्त्र है। पानी की बूँद सागर के बिना स्वतन्त्र रह सकती है परन्तु बूँदों के बिना सागर का अस्तित्व नहीं रह सकता, क्योंकि बूँदों का समूह ही सागर कहलाता है।

धन के अर्जन संवर्धन औ संरक्षण में लीन रहा।
बार-बार मर दुखी हुआ पर आत्मिक सुख से हीन रहा॥
मोह मल्ल की महा शक्ति है उसे जगत कब जान रहा।
पूँछ उलझती झाड़ी में है चमरी खोती जान अहा॥३३॥
जीवन को, जीवित रख सकती प्रजापाल के बिना प्रजा।
प्रजापाल पर कहाँ रहे ओ! कहाँ सुखी हो बिना प्रजा॥
निश्चित ही पर-आश्रित है वह स्वयं भला क्या सिन्धु रहा?
किन्तु बिन्दु निज आश्रित है यह सिन्धु हेतु है बिन्दु रहा॥३४॥

भोगानुवृत्तिर्विधिबन्धहेतु - र्योगानुवृत्तिर्भवसिन्धुसेतुः।
बीजानुसारं कलितं फलं तत्,किं निम्बवृक्षे फलितं रसालम्॥३५॥

अन्वयार्थ—(भोगानुवृत्तिः) पंचेन्द्रिय के विषयों को निरन्तर भोगने की वृत्ति **(विधिबन्धहेतुः)** कर्म के बंध का कारण है और **(योगानुवृत्तिः)** विषयों के त्यागरूप योग–ध्यान की निरन्तर वृत्ति **(भवसिन्धुसेतुः)** भव समुद्र के उस पार पहुँचने सेतु–पुल के समान है **(बीजानुसारं)** बीज के अनुसार ही **(तत् फलं)** उसका फल **(कलितं)** प्राप्त देखा जाता है। **(किं)** क्या **(निम्बवृक्षे)** नीम के वृक्ष पर **(रसालं)** आम्र **(फलितं)** फलता है? नहीं।

भावार्थ—भोगों का अनुगमन कर्मबन्धन का कारण है और योग का अनुगमन संसार–सागर का पुल है। जगत् में बीज के अनुसार ही फल प्राप्त होता है। क्या नीम के वृक्ष पर आम फलता है? अर्थात् नहीं।

त्यक्तस्तु संगो गतमोहभावै-स्तत्रानुभूतो न हि कष्टलेशः।
स्निग्धत्वहीनात् पलितं च पत्रं, तत् पादपात् वा पतितं स्वभावात्॥३६॥

अन्वयार्थ— (गतमोहभावैः) मोहभाव रहित मनुष्यों के द्वारा **(सङ्गः)** परिग्रह **(त्यक्तः तु)** छोड़ा जाता है **(च)** और **(तत्र)** उसके त्याग में उन निर्मोही मनुष्यों के द्वारा **(कष्टलेशः)** लेशमात्र कष्ट **(न हि अनुभूतः)** अनुभूत नहीं होता है। **(वा)** जैसे **(पलितं)** पक्व–पका हुआ **(पत्रं)** पर्ण–पत्ता **(स्निग्धत्वहीनात्)** स्निग्धता की हीनता होने से **(तत् पादपात्)** उस वृक्ष से **(स्वभावात्)** स्वभाव से **(पतितं)** पतित होता है–गिरता है।

भावार्थ—मोहभाव से रहित मनुष्यों के द्वारा जो परिग्रह छोड़ा गया है उसमें उन्होंने रंच मात्र भी दु:ख का अनुभव नहीं किया है। पका पत्र जैसे सरसता से रहित वृक्ष से टूट कर पड़ता है तो वह स्वभाव से पड़ता है।

भोगी बन कर भोग भोगना भव बन्धन का हेतु रहा।
योगी बन कर योग साधना भव-सागर का सेतु रहा॥
जैसा तुम बोओगे वैसा बीज फलेगा अहो! सखे।
निम्ब वृक्ष पर सरस आम्रफल कभी लगे क्या? कहो सखे!॥३५॥
मोह भाव से दूर हुआ है, साधु परिग्रह त्याग रहा।
समता से भरपूर हुआ है उसे कष्ट नहिं जाग रहा॥
चिकनाहट से रहित हुआ है पात पका है पलित हुआ।
सहज रूप से बाधा बिन ही पादप से वह पतित हुआ॥३६॥

अक्षार्थरागो भवदुःखदाता, धर्मानुरागो भवसौख्यदाता।
प्रभातरागे शृणु सान्ध्यरागे, किमन्तरं तत्र महन्न मित्र!॥३७॥

अन्वयार्थ– **(अक्षार्थरागः)** पंचेन्द्रिय सम्बन्धी विषयों का राग **(भवदुःखदाता)** जन्म-मरणरूप संसार दुखों को देने वाला है किन्तु **(धर्मानुरागः)** सहधर्मीजनों का और धर्म का अनुराग **(अभवसौख्यदाता)** संसार के दुःखों से मुक्त मोक्ष सुख को देने वाला है। **(मित्र!)** अये सुहृद्! **(शृणु!)** सुनो! **(तत्र)** उस **(प्रभातरागे)** प्रातःकाल की लाली में और **(सान्ध्यरागे)** सूर्यास्त की लाली में **(किं)** क्या **(महत्)** महान् **(अन्तरं)** अन्तर **(न)** नहीं है? अवश्य है।

भावार्थ–इन्द्रियविषय सम्बन्धी राग सांसारिक दुःख को देने वाला है और धर्मसम्बन्धी राग सांसारिक सुख को देने वाला है। सुनो मित्र! क्या प्रभात की लाली और संध्या की लाली में बड़ा अन्तर नहीं है ? अवश्य है।

उन्मत्तत्तोऽप्यत्र सुपीतमद्यात्, सुपीडितात् वृश्चिकदंशनेन।
कपेश्च चित्तं चपलं नराणां, धन्यो यमी यस्य लयं गतं तत्॥३८॥

अन्वयार्थ– **(अत्र)** इस संसार में **(नराणां)** मनुष्यों का **(चित्तं)** मन **(कपेः)** वानर से **(अपि)** भी अधिक **(चपलं)** चंचल है। बन्दर स्वभाव से ही चंचल होता है फिर **(सुपीतमद्यात्)** मद्य का पान कर लेने से और फिर **(वृश्चिकदंशनेन)** बिच्छू के डंक द्वारा **(सुपीडितात्)** और पीड़ित होने से **(च)** और फिर **(उन्मत्ततः)** पागल हो जाने से वह वानर अधिकाधिक चंचल हो जाता है। ऐसे बंदर से भी अधिक चंचल **(तत्)** वह मन **(यस्य)** जिसका **(लयं)** स्थिरता को **(गतं)** प्राप्त हो गया है वह **(यमी)** मुनि **(धन्यः)** प्रशंसनीय है।

भावार्थ–इस जगत् में मनुष्यों का चित्त उस वानर से भी अधिक चञ्चल है जो स्वभाव से चञ्चल है, जिसने मदिरा पी ली है और बिच्छू के काटने से अत्यन्त पीड़ित है। वह मनुष्य धन्य है जिसका कि चित्त विलीनता को प्राप्त है–स्थिर है।

विषयी का बस विषयराग ही भवदुख का वह कारण है।
भविकजनों का धरम राग ही शिवकारण दुखवारण है॥
सन्ध्या में भी लाली होती प्रभात में भी लाली है।
एक सुलाती एक जगाती कितने अन्तर वाली है॥३७॥
वैसा वानर चंचल होता मदिरा पीता पामर है।
बिच्छू ने फिर उसको काटा और हुआ वह पागल है॥
उससे भी मानव मन की अति चंचलता मानी जाती।
धन्य रहा वह विजितमना जो जिनवर की वाणी गाती॥३८॥

तथा प्रतीतिस्तु सुखस्य तत्र, सुखं न लेशं निजमोहभावात्।
अर्थेषु खानां जलमन्थनेन, फेनानुभावो हि तदाप्युदेति ॥३९॥

अन्वयार्थ–(निजमोहभावात्) स्वयं के मोह और अज्ञानभाव के कारण **(खानां)** इन्द्रियों के **(अर्थेषु)** विषयों में **(सुखस्य)** सुख का **(प्रतीतिः)** आभास होता है **(तु)** किन्तु **(तत्र)**विषयों में **[हि]** यथार्थ में **(लेशं सुखं न)** किञ्चित् मात्र भी सुख नहीं है। यह **(तथा)** उस प्रकार आभास होता है जिस प्रकार **(जलमन्थनेन)** जल के मन्थन से **(तदा)** उस समय **(अपि)** भी **(फेनानुभावः उदेति)** फेन का अनुभव होता है, जबकि उसमें नवनीत सदृश कोई सारभूत पदार्थ नहीं होता।

भावार्थ–आत्मविषयक अज्ञानभाव से इन्द्रियों के विषयों में सुखत्व की प्रतीति भले ही हो परन्तु उसमें सुख का लेश भी नहीं होता। जैसे जल के मन्थन–विलोलने से फेन की अनुभूति तो उस समय होती है परन्तु घी का अंश भी प्राप्त नहीं होता।

मार्गं स्मृतेर्यस्य गतो जिनेन्द्रोऽप्येनो गतं तस्य लयं समस्तम्।
नदादिनीरं मलिनं निरस्तं, वागस्त्ययोगे भवतात् पवित्रम् ॥४०॥

अन्वयार्थ– (जिनेन्द्रः) अष्टप्रातिहार्य संयुक्त अर्हत्परमेष्ठी **(यस्य स्मृतेः)** जिसके स्मरण के **(मार्गं)** पथ को **(गतः)** प्राप्त हुए हैं अर्थात् जिसके ध्यान में अर्हन्तदेव का स्मरण है **(तस्य)** उसके **(समस्तं)** सम्पूर्ण **(एनः)** पाप **(अपि)** भी **(लयं)** विनाश को **(गतं)** प्राप्त हो जाते हैं **(वा)** जिस प्रकार **(अगस्त्ययोगे)** अगस्त्य नाम के नक्षत्र के उदय होने पर **(नदादिनीरं)** नदी आदिक का जल **(मलिनं निरस्तं)** मलिनता से रहित होता हुआ **(पवित्रं)** निर्मल **(भवतात्)** हो जाता है।

भावार्थ–जिनेन्द्रदेव जिसके स्मरण पथ को प्राप्त हैं, जो जिनेन्द्रदेव का ध्यान करता है उसके समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं। जैसे नदी आदि का मलिन पानी शरद् ऋतु में निर्मल होता हुआ पवित्र हो जाता है।

पंचेन्द्रिय के विषयों में जो प्रतीति सुख की होती है।
मोह-भाव की परिणति है वह स्वरीति सुख की खोती है॥
जल का मन्थन करने वाला पाता नहिं नवनीत कभी।
किन्तु फेन का दर्शन पाता मति होती विपरीत तभी ॥३९॥
वीतरागमय जिनवर का वह जिसके मन में स्मरण हुआ।
ज्ञात रहे यह बात, उसी के पाप बाप का मरण हुआ॥
सावन में सरवर सरिता का मलिन रहे वह सलिल भले।
अगस्त्य का जब उदय हुआ बस! विमल बने जल, कलिल टले॥४०॥

अयत्नदृष्टान् श्रुतकान् परेषां, दोषान् दयाधाम-निवासिनस्ते।
स्वप्नेऽपि वाङ्मानसकाययोगै- र्नोद्घाटयन्ति प्रशमाश्च सन्तः॥४१॥

अन्वयार्थ— (दयाधामनिवासिनः) दयारूप भवन के निवासी **(च)** तथा **(प्रशमाः)** प्रशम गुण से युक्त **(ते)** वे प्रसिद्ध **(सन्तः)** सुधी साधुजन **(अयत्नदृष्टान्)** बिना प्रयत्न के देखे गये **(श्रुतकान्)** सुने गये **(परेषां)** दूसरों के **(दोषान्)** दोषों को **(स्वप्ने अपि)** स्वप्न में भी **(वाङ्मानसकाययोगैः)** वचन-मन-कायस्वरूप योगों से **(न उद्घाटयन्ति)** उद्घाटित नहीं करते हैं, प्रकाशित नहीं करते हैं।

भावार्थ—दयारूप घर के निवासी, शान्तपरिणामी सज्जन, स्वयं दृष्ट और सुने दूसरों के दोषों को मन-वचन-कायरूप योगों से स्वप्न में भी प्रकट नहीं करते हैं।

भवाभिमुक्ता न भवे विभावे, पुनश्च भीमेऽवतरन्ति दुःखे।
तैलं तिलं तच्च घृतं तु दुग्धं, पूर्वस्वरूपं न पुनः प्रयाति॥४२॥

अन्वयार्थ— (भवाभिमुक्ताः) संसार से मुक्त दूर पहुँचे सिद्ध परमेष्ठी **(पुनश्च)** पुनः फिर से **(विभावे)** विभाव स्वरूप **(भवे)** संसार की पर्याय में **[च]** और **(भीमे)** भयंकर **(दुःखे)** दुख में **(न अवतरन्ति)** नहीं उतरेंगे—नहीं जन्म लेंगे। **(तैलं)** तेल **(तिलं)** तिलरूप अवस्था को **(च)** और **(तत् घृतं)** वह घृत **(तु)** तो **(पूर्वस्वरूपं)** पूर्वस्वरूप **(दुग्धं)** दुग्धरूप पर्याय को **(पुनः)** फिर से **(न प्रयाति)** प्राप्त नहीं होता है। इसी प्रकार जन्म-मरण से मुक्त सिद्ध भगवान् पुनः संसार में नहीं आते हैं।

भावार्थ—संसार से मुक्त सिद्धपरमेष्ठी अशुद्ध संसार अथवा पर्याय और भयंकर दुःख में पुनः नहीं आते। जैसे तेल अपने पूर्वरूप तिल को और घी अपने पूर्व रूप दूध को प्राप्त नहीं होता।

किसी पुरुष के दोष कभी भी होश बिना जो किए गये।
अनायास ही सुधीजनों से सुने गये हो लखे गये॥
तन मन वच से कहें न पर को जग में वे जयवन्त रहें।
सदा दया के निलय बने जो शान्तमना हैं सन्त रहें॥४१॥
महा भयानक दुस्सह दुखमय-भवसागर के पार गहें।
स्वभाव तज कर विभाव-भव में जिनवर नहिं अवतार गहें॥
तेल निकलता है तिल से, घृत तथा दूध से वह निकले।
किन्तु तेल तिल में नहिं बदले, नहीं दूध में घृत बदले॥४२॥

लुब्धः स मुग्धो विषयेष्वघात्मा, सम्प्राप्तदृष्टिस्तु ततोऽस्तु भिन्नः।
करोतु नृत्यं मृदुमोदकान् वा, खादन् स बालोऽत्र तथा न वृद्धः॥४३॥

अन्वयार्थ—(विषयेषु) इन्द्रिय-विषयों में **(लुब्धः)** आसक्त **(सः)** वह **(मुग्धः)** मूढ़ **(अघात्मा)** पापात्मा **(अस्तु)** है **(तु)** किन्तु **(सम्प्राप्तदृष्टिः)** विवेक दृष्टि वाला सम्यग्दृष्टि **(ततः भिन्नः)** उससे भिन्न है। **(वा)** जिस प्रकार **(अत्र)** लोक में **(बालः)** बालक **(मृदुमोदकान्)** कोमल लड्डुओं को **(खादन्)** खाता हुआ **(नृत्यं करोतु)** नृत्य करे **(तथा)** उस प्रकार **(सः वृद्धः)** वह वृद्ध आदमी **(न)** नहीं करता।

भावार्थ—विषयों में लुभाया मोही मनुष्य पापी है परन्तु सम्यग्दृष्टि उससे भिन्न हो। जैसे कोमल लड्डुओं को खाता बालक नृत्य करता है वृद्ध नहीं।

न नाग्न्यमात्रं भवमुक्तिहेतु-श्चित्तस्य नैर्ग्रन्थ्यमपीति शास्त्रम्।
गवादयो ये पशवोऽपि नग्ना-स्त्रस्ताः कथं स्युः शिवमन्यथा स्यात् ॥४४॥

अन्वयार्थ— (नाग्न्यमात्रं) मात्र नग्नता **(भवमुक्तिहेतुः)** संसार से मुक्ति का कारण **(न)** नहीं है **(चित्तस्य)** मन की-अन्तःकरण की **(नैर्ग्रन्थ्यम् अपि)** निर्ग्रन्थता भी कारण है **(इति शास्त्रं)** ऐसा आगम है, **(अन्यथा)** यदि ऐसा नहीं है तो **(ये गवादयः पशवः अपि)** ये गाय आदिक पशु भी तो **(नग्नाः)** नग्न हैं **(कथं त्रस्ताः स्युः)** कैसे दुखी हैं? उनका भी **(शिवं स्यात्)** कल्याण हो जावे, किन्तु मात्र वस्त्र त्यागने से मोक्ष नहीं होता। इसके साथ अन्तरंग-परिग्रह का त्याग करना भी अनिवार्य है।

भावार्थ—केवल नग्नता ही मोक्ष का कारण नहीं है किन्तु मन की निर्ग्रन्थता भी उसके साथ कारण है, ऐसा शास्त्र में कहा है। यदि ऐसा न हो तो जो बैल आदि पशु नग्न हैं वे दुःखी क्यों हैं? उन्हें भी कल्याण अथवा मोक्ष प्राप्त होना चाहिए।

लुब्ध हुआ है विषयों में अति मुग्ध कुधी वृषरीत रहे।
ज्ञानी की तुम बात पूछते जग से वह विपरीत रहे॥
बालक को जब मोदक मिलता खाता खाता नृत्य करे।
किन्तु वृद्ध वह यद्यपि खाता नृत्य करे ना तथ्य अरे !॥४३॥
नग्न दिगम्बर तन से होना केवल यह पर्याप्त नहीं।
किन्तु विमलता साथ रहे वह मन की, कहते आप्त सही॥
ऐसा यदि ना, श्वान सिंह पशु नग्न सदा हैं सुखित बनें।
किन्तु कहाँ? वे सुखित बने हैं रहें निरन्तर दुखित घने॥४४॥

गन्तुं लयं स्वात्मनि तेऽस्ति वाञ्छा, त्वयार्जवं चेतसि संश्रितं स्यात्।
वक्रागतिर्यद्यपि सोरगाणां, बिलप्रवेशे सरलैव दृष्टा ॥४५॥

अन्वयार्थ—हे भव्य! यदि **(ते)** तेरी **(स्वात्मनि)** निजात्मा में **(लयं गन्तुं)** लय–लीन–स्थिर होने की **(वाञ्छा अस्ति)** इच्छा है तो **(त्वया)** तुझे **(चेतसि)** चित्त में **(आर्जवं)** ऋजुता का **(संश्रितं स्यात्)** आश्रय लेना चाहिए। **(यद्यपि)** यद्यपि **(वक्रागतिः)** कुटिल चाल **(उरगाणां)** सर्पों की **(सा)** वह प्रसिद्ध है तथापि **(बिलप्रवेशे)** बिल में प्रवेश करते समय वह चाल **(सरला एव)** सरल–सीधी ही **(दृष्टा)** देखी जाती है।

भावार्थ—हे भव्य! यदि तुझे स्वकीय आत्मा में लीनता प्राप्त करने की इच्छा है तो चित्त में सरलता का सेवन करना चाहिए। जैसे सांपों की वह प्रसिद्ध गति यद्यपि कुटिल है तथापि बिल में प्रवेश करते समय सीधी ही देखी गयी है।

अब्धि र्नदैश्चानल इन्धनौघै-स्तृप्तः सुधाशीलमटेद्विषोऽपि।
आरोहितोऽसौ भुवि पङ्गुनाद्रि-र्योगान्न तृप्तोऽस्ति धनेन लोभी ॥४६॥

अन्वयार्थ— (अब्धिः) सागर **(नदैः)** नदियों से **(च)** और **(अनलः)** अग्नि **(इन्धनौघैः)** ईंधन समूह से **(तृप्तः)** संतुष्ट हो सकती है **(विषः अपि)** विष भी **(सुधाशीलं)** अमृत स्वभाव को **(अटेत्)** प्राप्त हो सकता है **(भुवि)** पृथ्वी पर **(योगात्)** दैवयोग से **(पङ्गुना)** पंगु के द्वारा **(असौ)** प्रसिद्ध **(अद्रिः)** पर्वत भी **(आरोहितः)** चढ़ा जा सकता है किन्तु **(धनेन)** धन के द्वारा **(लोभी)** लोभी व्यक्ति **(तृप्तः न अस्ति)** संतुष्ट नहीं हो सकता है।

भावार्थ—समुद्र नदियों से और आग ईंधन के समूहों से संतुष्ट हो सकती है। विष अमृत के स्वभाव को प्राप्त हो सकता है और पृथ्वी पर लूले मनुष्य के द्वारा पर्वत चढ़ा जा सकता है परन्तु लोभी मनुष्य धन के योग से संतुष्ट नहीं हो सकता।

परम शान्त निज आतम में यदि जा बसने की चाह रही।
भक्ति-भाव से भजो सरलता तजो कुटिलता 'राह-यही॥
कुटिल-चाल से चलता है अहि बाहर में यह उचित रहा।
बिल में प्रवेश जब करता है 'सरल चाल हो, विदित रहा॥४५॥
हो सकता है जलधि तृप्त वह शत-शत सरिता नदियन से।
तथा जहर भी सुधा सरस हो अनल तृप्त हो ईन्धन से॥
पंगू भी वह दैवयोग से गिरि चढ़ सकता संभव है।
किन्तु तृप्ति लोभी की धन से कभी न होना सम्भव है॥४६॥

मनोबलं तद् गुरु मुक्तिमार्गे, वचोबलं वापि ततो लघु स्यात्।
लघिष्ठमस्त्यङ्गबलं, धनं धिक्, तद् वस्तुतोऽस्मिन् न हि किंचिदस्ति ॥४७॥

अन्वयार्थ– **(मुक्तिमार्गे)** मोक्षमार्ग में **(तत्)** वह दुर्लभ **(मनोबलं)** चित्त का बल **(गुरु)** सर्वश्रेष्ठ है **(ततः)** उससे **(लघु)** हीन **(वचोबलं)** वचनों का बल **(स्यात्)** है **(वा अपि)** और भी उससे **(लघिष्ठं)** अत्यन्त लघु **(अङ्गबलं)** शरीर का बल **(अस्ति)** है परन्तु **(धनं धिक्)** धन बल को धिक्कार है **(हि)** क्योंकि **(वस्तुतः)** परमार्थ से **(तत्)** वह धनबल **(अस्मिन्)** इस मोक्षमार्ग में **(किञ्चित्)** कुछ भी **(न अस्ति)** नहीं है।

भावार्थ–मोक्षमार्ग में मनोबल श्रेष्ठ है, वचन बल भी उससे कुछ कम श्रेष्ठ है और शरीर बल सबसे लघु है परन्तु धन को धिक्कार है क्योंकि वह यथार्थतः मोक्षमार्ग में कुछ भी नहीं है।

पापं वपुर्जं त्वणुकप्रमाणं, वाक्कायजं यच्च ततोऽधिकं वा।
चित्तस्य कार्यं तु सुमेरुमानं, पापान्मनोऽतोस्तु सदा सुदूरम् ॥४८॥

अन्वयार्थ–(वपुर्जं) शरीर के निमित्त से उत्पन्न **(पापं तु)** पाप तो **(अणुकप्रमाणं)** अणु प्रमाण–सबसे लघु है **(यत् च)** और जो **(वाक्कायजं)** काय और वचन से उत्पन्न पाप **(ततः अधिकं)** तन से उत्पन्न पाप से अधिक है **(वा तु)** किन्तु **(चित्तस्य)** मन सम्बन्धी **(कार्यं)** कार्यरूप वह पाप **(सुमेरुमानं)** सुमेरु प्रमाण सर्वाधिक होता है। **(अतः)** इस कारण **(मनः)** मन **(तु)** तो **(सदा)** नित्य काल **(पापात्)** पाप से **(सुदूरं)** दूर ही **(अस्तु)** रहे।

भावार्थ–शरीर से होने वाला पाप अणुप्रमाण है, वचन और शरीर से होने वाला पाप उससे अधिक है और मन से होने वाला पाप सुमेरुप्रमाण है–सबसे अधिक है इसलिए पाप से मन सदा दूर रहे।

रहा मनोबल मुक्ति-मार्ग में साधकतम है गुरु तम है।
तथा वचन बल तरतमता से आवश्यक है कुछ कम है॥
तन बल तो बस रहा सहायक निश्चय के वह साथ सही।
किन्तु सुनो! तुम मुक्तिमार्ग में धनबल का कुछ हाथ नहीं॥४७॥
पापार्जन तन मन वच से हो पाप तनक ही तन से हो।
विदित रहे यह सब को, तनसे पाप अधिक वाचन से हो॥
कहूँ कहाँ तक मन की स्थिति मैं पाप मेरु सम मन से हो।
करें नियंत्रण मन का हम सब धर्म कार्य बस! मन से हो॥४८॥

दानेन भोगी भुवि शोभते स, ध्यानेन शस्तेन तथा स योगी।
निःसंग-पात्रस्तु निरीहवृत्त्या, चेहा प्रतोली नरकस्य वोक्ता ॥४९॥

अन्वयार्थ—(भोगी) भोगवान् गृहस्थ **(दानेन)** प्रशस्त दान से **(भुवि)** पृथ्वी पर **(शोभते)** शोभित होता है **(तथा)** तथा **(सः)** प्रसिद्ध **(योगी)** मुनि **(शस्तेन ध्यानेन)** प्रशंसनीय ध्यान से शोभित होता है **(तु)** किन्तु **(निःसङ्गपात्रः)** निर्ग्रन्थ मुनि **(निरीहवृत्त्या)** निस्पृह वृत्ति–चर्या से शोभित होता है। **(च ईहा)** और आकांक्षा **(नरकस्य)** नरक की **(प्रतोली)** प्रमुख द्वार के **(वा)** समान **(उक्ता)** कही है।

भावार्थ—पृथ्वी पर भोगी मनुष्य दान से, योगी प्रशस्त ध्यान से और निर्ग्रन्थ मुनि निःस्पृहवृत्ति से सुशोभित होता है, क्योंकि स्पृहा–वाञ्छा नरक के प्रमुख द्वार के समान कही गई है।

सागारको वाप्यनगारको वा, कर्मक्षयार्थं निरतोऽस्तु धर्मे।
करोतु कार्यं कृषकः स कार्ष्यं, धान्याय शस्यं न तृणाय हास्यम् ॥५०॥

अन्वयार्थ—(सागारकः) अगार–गृह सहित सागार गृहस्थ **(वा)** अथवा **(अनगारकः अपि वा)** अनगार मुनि **(कर्मक्षयार्थं)** कर्मक्षय के लिए **(धर्मे)** वीतराग सर्वज्ञ प्रणीत धर्म में **(निरतः अस्तु)** लीन रहें। **(सः)** वह प्रसिद्ध **(कृषकः)** किसान **(कार्ष्यम्)** कृषि सम्बन्धी **(कार्यं)** कार्य को **(धान्याय)** धान्य के लिए **(करोतु)** करता है तो वह **(शस्यं)** प्रशंसनीय है। **(तृणाय)** तृण व घास के निमित्त से **(न)** नहीं करता है, यदि घास के निमित्त करता है तो वह **(हास्यं)** हास्य का स्थान होता है।

भावार्थ—सागार हो चाहे अनगार, उसे कर्मक्षय के लिए ही धर्म में लीन होना चाहिए (भोगोपभोग प्राप्ति के लिए नहीं) क्योंकि किसान खेती का कार्य अन्न के लिए करता है तो प्रशस्त है और घास के लिए करता है तो हास–उपहास का पात्र होता है।

दान धर्म में रत होने से शोभा पाता वह भोगी।
ध्यान कर्म में रत होने से शोभा पाता यह योगी॥
पात्र बना है निरीह बनना गुण माना है जिनवर ने।
नरक द्वार है इच्छा-ज्वाला हमें कहा है ऋषिवर ने ॥४९॥
कृषक कृषी का कार्य करे वह ध्येय धान्य का लाभ रहा।
किन्तु घास का ध्येय रहा तो हास्य पात्र वह आप रहा॥
संग सहित-सागारी हो या संग रहित-अनगारी हो।
भवक्षय करने धर्मनिरत हो शिवसुख के अधिकारी हो ॥५०॥

पात्राय देयं विधिना प्रदाय, फलं प्रति स्याद् यदि यो निरीहः।
सदा स दातास्तु सतां मतोऽस्ति, सुखाय वै भागुभयत्र कीर्तेः॥५१॥

अन्वयार्थ—(पात्राय) योग्य पात्र के लिए **(विधिना)** नवधाभक्ति और सप्तगुणरूप विधि से **(देयं)** देने योग्य आहारादिक वस्तु **(प्रदाय)** देकर **(यः फलं प्रति यदि निरीहः स्यात्)** जो फल के प्रति यदि निस्पृह रहता है तो **(सः)** वह **(दाता)** दाता **(सदा)** नित्य **(तु)** ही **(सतां)** सज्जनों का **(मतः)** मान्य/समादृत **(अस्ति)** होता है, **(वै)** निश्चय से वह ऐसा दान तथा ऐसा दाता **(सुखाय)** सुख के लिए होता है और **(उभयत्र)** दोनों लोक में **(कीर्तेः)** यशःकीर्ति का **(भाक्)** भाजन होता है।

भावार्थ—योग्य पात्र के लिए विधिपूर्वक दान देना चाहिए और देकर यदि फल के प्रति निःस्पृह रहता है तो वह दाता सत्पुरुषों के समादृत होता है, उसका वह दान सुख के लिए होता है और वह दाता दोनों लोकों में कीर्ति का भाजन होता है।

दानं प्रशस्तं विनयेन साकं, नम्रो हि दाता बुधसेवितोऽस्तु।
सुपीतदुग्धं स वमन् सुतोऽपि, जनीं समानां न मुदा प्रपश्येत् ॥५२॥

अन्वयार्थ— (विनयेन साकं) विनय के साथ **(दानं)** दिया गया दान **(प्रशस्तं)** कल्याणकारक होता है **(हि)** क्योंकि **(नम्रः दाता)** विनयशील दाता **(बुधसेवितः)** ज्ञानीजनों में समादृत–आदर को प्राप्त **(अस्तु)** होता है **(सुपीतदुग्धं)** अच्छी तरह से पिये दूध को **(वमन्)** उगलता हुआ **(सः)** मातृप्रिय **(सुतः अपि)** शिशु भी **(समानां)** मानयुक्त **(जनीं)** माता को **(मुदा)** हर्ष से **(न प्रपश्येत्)** नहीं देखता है।

भावार्थ—विनय के साथ दिया हुआ दान अच्छा होता है, क्योंकि विनम्र दाता ज्ञानिजनों से सेवित होता है, अच्छी तरह पिये दूध को उगलता हुआ शिशु भी मानिनी माता को हर्ष से नहीं देखता है।

यथाशक्ति औ तथाभक्ति से दान पात्र को दे दाता।
फल के प्रति यदि किसी तरह भी मन में लालच नहिं लाता॥
वही रहा है प्रशस्त दाता, बुध-मत हमको बतलाता।
कीर्ति फैलती जग में उसकी सुख पाता शाश्वत साता॥५१॥
सही दान बस वही कहाता विनय-भाव से घुला हुआ।
दाता पूजित बुध जन से हो नम्र-भाव में ढला हुआ॥
दुग्ध पान करके भी बालक तुरत वमन वह कर लेता।
मानवती माता के मुख को मुड़कर भी नहिं लख देता॥५२॥

चिन्तातुरोऽजस्रमयं ह्यगारी, द्विवल्लभो हा मरणं तथास्तु।
परस्परं धारितवैरभावैः, शिष्यैर्गुरुः संयतकस्तथास्तु ॥५३॥

अन्वयार्थ—(हि) निश्चय से **(अयं)** यह **(अगारी)** गृहस्थ **(अजस्रं)** सतत **(चिन्तातुरः)** चिन्ताओं से दुःखी रहता है फिर **(द्विवल्लभः)** दो पत्नी वाला हो तो **(मरणं अस्तु)** मरण के समान कष्ट होता है **(तथा)** उसी प्रकार **(परस्परं धारितवैरभावैः)** आपस में वैर-भाव रखने वाले **(शिष्यैः)** शिष्यों के द्वारा **(संयतकः)** संयमी **(गुरुः)** आचार्य परमेष्ठी भी कभी-कभी **(तथा)** उसी प्रकार चिन्ता युक्त **(अस्तु)** होते हैं **(हा!)** खेद की बात है।

भावार्थ—निश्चय से यह गृहस्थ निरन्तर चिन्ता से दुःखी रहता है। फिर दो पत्नी वाला गृहस्थ हो तो उसका मानो मरण ही है। इसी प्रकार परस्पर वैर रखने वाले शिष्यों से संयमी गुरु भी निरन्तर चिन्ता से चिन्तित रहता है।

व्रतेषु शीलं च दमो दमेषु, खानां वरोऽयं रसनेन्द्रियस्य।
दानं तु दानेष्वभयाह्वयं वै, धर्मेषु धर्मो गदितोऽप्यहिंसा ॥५४॥

अन्वयार्थ— (व्रतेषु) व्रतों में **(शीलं)** ब्रह्मचर्य व्रत **(च)** और **(दमेषु)** दमनों में **(खानां)** इन्द्रियों का **(दमः)** दमन **(वरः)** श्रेष्ठ है। **(खानां)** इन्द्रियों में भी **(रसनेन्द्रियस्य)** रसना इन्द्रिय का **(अयं)** यह **(वरः)** दमन श्रेष्ठ है **(तु)** किन्तु **(दानेषु)** दानों में **(अभयाह्वयं)** अभय नाम का **(दानं)** दान श्रेष्ठ है। **(धर्मेषु)** धर्मों में **(वै)** निश्चय से **(अहिंसाधर्मः)** अहिंसाधर्म **(गदितः)** कहा गया है। अपि शब्द समुच्चयार्थ है।

भावार्थ—व्रतों में ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ है, दमन में इन्द्रियों का दमन, उसमें भी रसनेन्द्रिय का दमन श्रेष्ठ है, दानों में अभयदान श्रेष्ठ है और धर्मों में अहिंसाधर्म श्रेष्ठ कहा गया है।

चिन्ताओं से घिरा रहेगा आजीवन दिन रैन वही।
दो दो नारी जिसकी होती गृही जिसे सुख-चैन नहीं।
लगभग वैसा गुरु संयत भी चिंतित रहता खेद रहा।
जिसके शिष्यों में आपस में वैर भाव मन-भेद रहा॥५३॥
महाव्रतों में महा रहा है मुनियों का व्रत शील रहा।
इन्द्रियविषयों में रसना का विजय मुख्य सुखझील रहा॥
सब दानों में अभय-दान ही श्रेष्ठ रहा वरदान रहा।
सब धर्मों में धर्म-अहिंसा मान्य रहा मन मान रहा॥५४॥

ध्यानेषु शुक्लं च तपस्सु सत्सु, ध्यानं निधानं स्वनिधेः प्रधानम्।
विसर्जनं तद् मधुरस्य सद्भिः, श्लाघ्यं रसेषु प्रथमं प्रणीतम्॥५५॥

अन्वयार्थ– **(सत्सु)** श्रेष्ठ–समीचीन **(तपस्सु)** तपों में **(ध्यानं प्रधानं)** ध्यान प्रधान है **(च)** और **(ध्यानेषु)** ध्यानों में **(शुक्लं)** शुक्लध्यान **(स्वनिधेः)** आत्म निधि का **(निधानं)** कोष–खजाना है। **(रसेषु)** रसों में **(तत्)** वह प्रसिद्ध **(मधुरस्य)** मधुर रस–नमक और मीठा का **(विसर्जनं)** त्याग **(सद्भिः)** साधुओं के द्वारा **(श्लाघ्यं)** प्रशंसनीय **(प्रथमं)** प्रमुख **(प्रणीतं)** कहा गया है।

भावार्थ–ध्यानों में शुक्लध्यान, अन्तरंग तपों में ध्यान आत्मनिधि का निधान कहा गया है तथा रसों में मधुर रस का (लवण+शर्करादि) त्याग सत्पुरुषों के द्वारा प्रशंसनीय प्रमुख त्याग कहा गया है।

जिनागमेऽन्योन्यविरुद्धधर्मा, नया न मानाय तदंशतोऽतः।
परस्परं तत् प्रतिकूलमास्तां, कूलद्वयं वै सरितेऽनुकूलम्॥५६॥

अन्वयार्थ–जिस प्रकार **(तत्)** वह प्रसिद्ध **(कूलद्वयं)** नदी के दोनों तट **(परस्परं)** एक–दूसरे को **(प्रतिकूलं)** प्रतिकूल **(आस्तां)** भले हैं किन्तु **(सरिते)** नदी के लिए वे दोनों कूल–किनारे **(वै)** निश्चित ही **(अनुकूलं)** अनुकूल होते हैं, उसी प्रकार **(जिनागमे)** जिनदर्शन में **(तत्)** उस सामान्य–विशेषात्मक–अनेकान्तात्मक वस्तु के परस्पर विरुद्ध–नित्य अनित्य, एक अनेक, सत् असत्‌रूप अनंत युगल धर्मों को **(अंशतः)** एक–एक अंश को जानने वाले **(नयाः)** नय समूह **(अन्योन्य-विरुद्धधर्माः)** परस्पर में विरुद्ध स्वभाव वाले हैं किन्तु **(मानाय)** वस्तु के समग्र अंश को जानने वाले प्रमाण के लिए **(प्रतिकूलं)** प्रतिकूल **(न)** नहीं हैं **(अतः)** वस्तु के प्रतिपादन में परस्पर विरुद्ध नय भी सार्थक अनुकूल है।

भावार्थ–जैन सिद्धान्त में परस्पर विरुद्ध नय सम्मान के लिए नहीं माने गये हैं क्योंकि वे वस्तु के एक अंश को ग्रहण करते हैं परन्तु वस्तु का पूर्ण स्वरूप कहने के लिए दोनों आवश्यक हैं जैसे नदी के दो तट परस्पर विरुद्ध रहते हुए भी नदी के लिए अनुकूल होते हैं।

प्रशस्त ध्यानों में सुखदाता शुक्ल-ध्यान वह श्रेष्ठ रहा।
प्रधान तप में ध्यान रहा निज-निधि का निधान जेष्ठ रहा॥
सभी रसों में मधुर त्याग ही प्रथम रहा बुध श्लाघ्य रहा।
विज्ञ कहें बस यही साध्य है मुनियों का आराध्य रहा॥५५॥
प्रमाण के अनुचर हो चलते जिनशासन के नय सारे।
भिन्न स्वभावी रहें परस्पर किन्तु लड़ें नहीं दृग-धारें॥
भले नदी के एक कूल को अन्य कूल प्रतिकूल रहे।
किन्तु नदी को कुल दोनों मिल कूल सदा अनुकूल रहे॥५६॥

दुःखस्य मूलं तनुधारणं वा, दुःखेषु दुःखं तु मनोगतं तत्।
तत्रापि दुःखं च पराभवाद्धि, स्वस्यावबोधे न हि दुःखमस्ति॥५७॥

अन्वयार्थ– **(दुःखस्य)** असाता का **(मूलं)** प्रमुख कारण **(तनुधारणम् अस्ति)** देह का धारण करना है **(दुःखेषु दुःखं)** समस्त दुःखों में प्रमुख दुःख **(तत्)** वह प्रसिद्ध **(मनोगतं)** मानसिक दुःख है **(तत्रापि)** उसमें भी **(पराभवात्)** पराभव–अपमान से होने वाला दुःख पूर्व दुःख से अधिक है **(तु च)** किन्तु **(स्वस्य)** स्वकीय शुद्धात्मा का **(अवबोधे)** ज्ञान होने पर **(दुःखं हि नहि अस्ति)** दुःख ही नहीं है।

भावार्थ–दुःख का मूल कारण शरीर का धारण करना है। दुःखों में भी मानसिक दुःख सबसे प्रबल है, उसमें भी पराभव से जो होता है वह अधिक प्रबल है। स्वकीय शुद्ध आत्मा के ज्ञान होने पर निश्चय से दुःख नहीं है।

विमुक्तसंगा मनसा रमन्ते, तत्रैव चेद् ये न शिवीभवन्ति।
मुञ्चन्ति ये यद्यपि कञ्चुकं वै, नो पन्नगा निर्गरलीभवन्ति॥५८॥

अन्वयार्थ– **(ये)** जो **(विमुक्तसंगाः)** परिग्रह का त्याग करने वाले साधु हैं **(चेत्)** यदि वे **(मनसा)** मन से **(तत्रैव)** उसी परिग्रह में **(रमन्ते)** रमते हैं–लीन रहते हैं तो वे **(न शिवीभवन्ति)** मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकते हैं। **(यद्यपि)** यद्यपि **(ये पन्नगाः)** जो सर्प **(कञ्चुकं वै)** काँचुली को तो **(मुञ्चन्ति)** छोड़ देते हैं किन्तु वे सर्प **(नो निर्गरलीभवन्ति)** विष रहित नहीं हो जाते।

भावार्थ–परिग्रह का त्याग करने वाले जो मनुष्य मन से उसी परिग्रह में रमण करते हैं, लीन रहते हैं वे कल्याण के भाजन नहीं होते। जैसे सांप कांचुली तो छोड़ देते हैं परन्तु विष से रहित नहीं होते।

मूढ़ सुनो तुम तन धारण ही दुस्सह दुख का मूल रहा।
सब दुःखों में दुःख वही है मन को जो प्रतिकूल रहा॥
उसमें भी है महा भयानक दुःख पराभव का होता।
आत्मबोध हो फिर क्या दुख है अभाव भव-भव का होता॥५७॥
बाहर से तो छोड़ दिया है धन मणि कंचन सकल अहा।
किन्तु उन्हीं में जाकर जिसका मन रमने को मचल रहा॥
शिवसुख उसको मिल नहिं सकता उसे तत्त्व क्या? खबर नहीं।
सर्प कांचली भले छोड़ता किन्तु छोड़ता जहर नहीं॥५८॥

सुखं सुखेषूत्तममात्मजं तत्, या पञ्चमी सा गतिरुत्तमास्तु।
प्रभासु सर्वासु मणिप्रभेव, ज्ञानेषु विज्ञानमदोऽक्षयं स्यात् ॥५९॥

अन्वयार्थ– **(सुखेषु)** सुखों में **(उत्तमं सुखं)** श्रेष्ठ सुख **(तत्)** वह प्रसिद्ध **(आत्मजं)** आत्मा से उत्पन्न सुख है **(या उत्तमा गतिः)** जो श्रेष्ठ गति है **(सा)** वह **(पञ्चमी अस्तु)** पंचम गति–सिद्धगति है। **(सर्वासु प्रभासु)** समस्त प्रभाओं में **(मणिप्रभेव)** मणि की प्रभा उत्तम है, उसी प्रकार **(ज्ञानेषु)** ज्ञानों में **(अदः)** वह दुर्लभ **(अक्षयं)** अविनाशी **(विज्ञानं)** वीतराग विज्ञान उत्तम **(स्यात्)** है।

भावार्थ–सुखों में आत्मा से उत्पन्न होने वाला सुख उत्तम है। गतियों में पञ्चमगति–सिद्धगति उत्तम है, सब प्रभाओं में मणि की प्रभा उत्तम है। इसी प्रकार सब ज्ञानों में वह अविनाशी केवलज्ञान उत्तम है।

यथामतिः स्याच्च तथागतिः सा, यथागतिः स्याच्च तथामतिः सा।
मतेरभावात्तु गतेरभावो, द्वयोरभावात् स्थितिराशु शैवे ॥६०॥

अन्वयार्थ– **(यथा)** जैसी शुभाशुभ **(मतिः स्यात्)** मति होती है **(तथा)** वैसी शुभाशुभ **(सा गतिः स्यात्)** वह गति होती है **(च)** और **(यथा गतिः स्यात्)** जैसी गति होती है **(तथा मतिः सा)** वैसी मति होती है। **(मतेः अभावात्)** मति के अभाव से **(तु)** तो **(गतेः अभावः)** गति का अभाव होता है **(च)** और **(द्वयोः अभावात्)** गति, मति दोनों के अभाव से **(आशु)** शीघ्र **(शैवे)** मोक्ष में **(स्थितिः)** स्वाभाविक स्थिति होती है।

भावार्थ–जैसी मति होती है वैसी गति होती है, जैसी गति होती है वैसी मति होती है, मति के अभाव से गति का अभाव होता है और गति–मति दोनों का अभाव होने से शीघ्र ही मोक्ष में स्थिति होती है।

सभी सुखों में आत्मिक सुख ही उत्तम है श्रुति गाती है।
सब गतियों में पंचम गति ही उत्तम मानी जाती है॥
सब आभाओं में मणि–आभा मानव मन को भाती है।
सब ज्ञानों में अक्षय केवल–ज्ञान ज्योति सुख लाती है ॥५९॥
जैसी मति होती है वैसी नियम रूप से गति होती।
जैसी गति होती है वैसी सुनो नियम से मति होती॥
अभाव मति का जब होता है गति का अभाव तब होता।
अभाव मति गति का होने से प्रकटित स्वभाव अब होता ॥६०॥

जलाश्रिता मञ्जुलवीचिमाला, स्तम्भाश्रितं तद् भवनं यथास्तु।
ज्ञानादयो ये विनयाश्रिताः स्यु-र्गुणास्तथा तेऽपि वृथान्यथा स्युः॥६१॥

अन्वयार्थ—(जलाश्रिता) जल के आश्रित **(यथा)** जिस प्रकार **(मञ्जुलवीचिमाला)** मनोहर तरंगों की संतति होती है **(स्तम्भाश्रितं)** स्तंभों के आश्रित **(तत्)** वह प्रसिद्ध **(भवनं)** प्रासाद **(अस्तु)** होता है **(तथा ये ज्ञानादयः गुणाः)** उसी प्रकार जो ज्ञानादिक गुण हैं **(ते अपि)** वे सभी **(विनयाश्रिताः)** विनय के आश्रित **(स्युः)** होते हैं **(अन्यथा)** अन्य प्रकार से सभी गुण **(वृथा स्युः)** व्यर्थ हो जाते हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार मनोहर तरंगों की सन्तति जल के आश्रित है, उसी प्रकार वह प्रसिद्ध प्रासाद खम्भों के आश्रित है। इसी प्रकार जो ज्ञानादि गुण हैं, वे विनय के आश्रित रहें, अन्यथा वे गुण नहीं हैं।

अजेयसेनापि विना न राज्ञा, राजा किरीटेन विना न भातु।
न्यूना गुणास्ते विनयेन सर्वे, न भान्तु तस्माद्विनयः सताप्तः॥६२॥

अन्वयार्थ— (अजेयसेना अपि) अजेय सेना भी **(राज्ञा विना)** राजा के बिना **(न)** शोभित नहीं होती **(राजा)** भूपति **(किरीटेन विना)** मुकुट के बिना **(न भातु)** शोभित नहीं होता तथा **(विनयेन न्यूनाः)** विनय से रहित **(ते)** प्रसिद्ध **(सर्वे गुणाः)** समस्त गुण **(न भान्तु)** शोभित नहीं होते **(तस्मात्)** इस कारण से **(सता)** सज्जन संतों के द्वारा **(विनयः आप्तः)** विनय प्राप्त किया जाता है।

भावार्थ—अजेय सेना भी राजा के बिना सुशोभित नहीं होती है, मुकुट के बिना राजा सुशोभित नहीं होता और विनय से रहित गुण भी सुशोभित नहीं होते। इसीलिए सत्पुरुषों ने विनय को प्राप्त किया।

जल बिन कब हो जल में उठतीं लहरें जल के आश्रित हो।
गगन चूमता भवन बना है स्तम्भों पर आधारित हो॥
उत्तम तम गुण ज्ञानादिक भी विनयाश्रित हैं शोभित हैं।
बिना विनय के वृथा सभी गुण इस विध मुनि संबोधित हैं॥६१॥
शक्ति-शालिनी सेना की भी राजा से ही शोभा है।
मस्तक पर वर मुकुट शोभता राजा की भी शोभा है॥
नहीं शोभता बिना विनय के गुणगण का जो निलय बना।
इसीलिए बस सुधी जनों से पूजा जाता विनय घना॥६२॥

अक्षप्रवृत्तेर्विषयोपलब्धि,स्ततः कषायाश्च ततोऽस्तु बन्धः।
विधेर्गतिः स्याद् गतितोऽङ्गभारोऽ,-प्यक्षाणि तत्र प्रकटीभवन्ति॥६३॥

अन्वयार्थ— **(अक्षप्रवृत्तेः)** इन्द्रियों की प्रवृत्ति होने से **(विषयोपलब्धिः)** विषयों की प्राप्ति होती है **(च)** और **(ततः)** उससे **(कषायाः)** क्रोधादि कषायें उत्पन्न होतीं हैं **(ततः)** और उससे **(बन्धः अस्तु)** कर्मबन्ध होता है **(विधेः)** कर्मबन्ध होने से **(गतिः स्यात्)** गति मिलती है **(गतितः)** गति से **(अङ्गभारः)** देह को धारण करना पड़ता है **(तत्रापि)** उस देह में भी **(अक्षाणि)** इन्द्रियाँ **(प्रकटी-भवन्ति)** प्रकट होतीं हैं।

भावार्थ—इन्द्रियों में प्रवृत्ति होने से विषयों की प्राप्ति होती है, उससे कषाय उत्पन्न होते हैं, कषायों से कर्मबन्ध होता है, कर्म से गति होती है, गति से शरीर धारण करना पड़ता है और शरीर से पुनः इन्द्रियाँ प्रकट होती हैं।

पूर्वानुवृत्तिस्तु पुनश्चिरेयं, परम्परा वा तरु-बीजवृत्तिः।
बीजे विदग्धे न तरोः प्रसूति-, र्दान्तेषु खेषु स्वत आत्मसिद्धिः॥६४॥

अन्वयार्थ— **(पुनः)** फिर **(इयं)** यह **(चिरा)** चिरकाल से आयी **(पूर्वानुवृत्तिः)** पूर्व का अनुसरण करने वाली **(परम्परा)** परिपाटी **(तरुबीजवृत्तिः वा)** वृक्ष बीजवृत्ति के समान है **(तु)** किन्तु **(बीजे विदग्धे)** बीज के जल जाने पर **(तरोः प्रसूतिः न)** वृक्ष की उत्पत्ति नहीं होती। इसी तरह **(खेषु)** इन्द्रियों को **(दान्तेषु)** वश में कर लेने पर **(आत्मसिद्धिः)** आत्मा की उपलब्धिस्वरूप सिद्धि **(स्वतः)** स्वयं ही हो जाती है।

भावार्थ—पूर्व-पूर्व कारणों का अनुसरण करने वाली यह चिरकालीन परम्परा वृक्ष और बीज के समान है अर्थात् वृक्ष से बीज होता है। बीज के जल जाने पर वृक्ष की उत्पत्ति नहीं होती। इन्द्रियों का दमन होने पर आत्मा की सिद्धि स्वयं हो जाती है।

ज्यों ही इन्द्रिय सचेत होती विषयों का बस ग्रहण हुआ।
कषाय जगती क्रोधाधिक फिर विधि-बन्धन का वरण हुआ॥
विधि बन्धन से गति मिलती है गति से काया मिलती है।
काया में फिर नई इन्द्रियाँ नई खिड़कियाँ खुलती हैं ॥६३॥
फिर क्या पूछो वही-वही फिर चलती रहती चिर से है।
परम्परा है बीज वृक्ष से वृक्ष बीज से फिर से है॥
किन्तु बीज को दग्ध करो तो वृक्ष कहाँ फिर जीयेगा।
जीती, इन्द्रिय यदि तुमने तो शान्ति सुधा चिर पीयेगा ॥६४॥

जितेन्द्रियः संयमधारकः स, ध्याने विलीनः सहजं सदास्तु।
दुग्धे द्रुतं सा किल शर्करेव, दम्यानि सद्भिः करणानि तस्मात् ॥६५॥

अन्वयार्थ— **(जितेन्द्रियः)** इन्द्रियों को जीतने वाला **(सः)** वह विख्यात साधु **(संयमधारकः)** संयम को धारण करने वाला **(सहजं)** सहजता से **(ध्याने)** धर्मशुक्लध्यान में **(सदा)** सर्वदा **(दुग्धे)** दूध में **(सा)** प्रसिद्ध **(शर्करा इव)** शक्कर के समान **(द्रुतं)** शीघ्र **(किल)** निश्चय से **(विलीनः अस्तु)** विलीन–निमग्न हो जाता है। **(तस्मात्)** उस कारण से **(सद्भिः)** साधु श्रमणों द्वारा **(करणानि)** इन्द्रियाँ **(दम्यानि)** वश में कर ली जातीं हैं।

भावार्थ—इन्द्रियों को जीतने वाला साधु सरलता से ध्यान में उस तरह विलीन रहे जिस तरह दूध में शीघ्र ही शक्कर विलीन हो जाती है। इसलिए सत्पुरुषों के द्वारा इन्द्रियाँ दमन करने के योग्य हैं।

ज्ञानान्न वृत्तान्न च भावनायाः, सद्ध्यानशक्तेस्तु निजात्मशुद्धिः।
पृथक् कृतं किं पयसो घृतं तत्, विनाऽग्निना वोपलतो हिरण्यम्॥६६॥

अन्वयार्थ— **(निजात्मशुद्धिः)** स्वात्मा की पवित्रता **(न ज्ञानात्)** न मात्र शास्त्र ज्ञान से होती है **(न च वृत्तात्)** न केवल चारित्र से होती है **(न भावनायाः)** न मात्र भावना से होती है **(तु)** किन्तु **(सद्ध्यानशक्तेः)** समीचीन शुभ शुचि ध्यान की शक्ति से होती है, **(किं)** क्या **(अग्निना विना)** अग्नि के बिना **(पयसः)** दूध से **(तत्)** प्रसिद्ध **(घृतं पृथक्कृतं)** घृत पृथक् किया जाता है? **(वा)** अथवा **(उपलतः)** स्वर्ण पाषाण से **(हिरण्यं)** स्वर्ण पृथक् किया जा सकता है? नहीं अर्थात् कर्मक्षय के लिए रत्नत्रय के साथ भावना, तप और ध्यान का होना अनिवार्य है।

भावार्थ—स्वकीय आत्मा की शुद्धि न मात्र ज्ञान से होती, न मात्र चारित्र से होती और न केवल भावना से होती अपितु ध्यान से होती है। क्या अग्नि के बिना दूध से घी और पाषाण से स्वर्ण को पृथक् किया गया है? अर्थात् नहीं। कर्मक्षय के लिए ज्ञान, चारित्र और भावना के साथ ध्यान का होना आवश्यक है।

जीत इन्द्रियाँ विजितमना है यम संयम ले संयत है।
आत्म-ध्यान में सहज रूप से वही लीन हो संगत है॥
यथा-शीघ्र ही घुल मिल जाती सुनो दूध में शक्कर है।
जीतो इन्द्रिय इसीलिए तुम विषयों का तो चक्कर है ॥६५॥
ज्ञान मात्र से मात्र चरित से मात्र भावना के बल से।
सिद्धि नहीं हो, होती शुचितम ध्यान साधना के बल से॥
समुचित है यह बिना तपाये नहीं दूध से घृत मिलता।
अनल योग पा, तप-तप कर ही कनक खरा भास्वत खिलता॥६६॥

विशेषसामान्यचितं सदस्तु, चितिद्वयेनाकलितं समं वै।
एकेन पक्षेण न पक्षिणस्ते, समुत्पतन्तोऽत्र कदापि दृष्टाः॥६७॥

अन्वयार्थ– **(सत्)** द्रव्य **(विशेषसामान्यचितं)** सामान्य और विशेष से व्याप्त **(अस्तु)** है। विशेष-पर्याय रूप, सामान्य-द्रव्यरूप विवक्षित है। **(अत्र)** द्रव्य के विषय में सत्-आत्मतत्त्व **(वै)** निश्चय से **(चितिद्वयेन)** ज्ञान चेतना और दर्शन चेतना युगल के **(समं)** साथ **(आकलितं)** युक्त है। **(ते पक्षिणः)** प्रसिद्ध पक्षी **(एकेन पक्षेण)** एक पक्ष-पाँख-पंख से **(समुत्पतन्तः)** उड़ते हुए **[अत्र]** यहाँ **(कदापि)** कभी भी **(दृष्टाः)** देखे जाते हैं? **(न)** नहीं।

भावार्थ—वस्तु सामान्य और विशेष से तन्मय है अर्थात् द्रव्य-पर्याय से युक्त है। आत्मतत्त्व भी दर्शनचेतना और ज्ञानचेतना-दोनों से एक साथ तन्मयीभाव को प्राप्त है। इस लोक में पक्षी क्या कभी एक पक्ष से उड़ते देखे गये हैं? नहीं।

हिताहिते ते निहिते हि ते स्तो, निजात्मनि भ्रातरियं सदुक्तिः।
परप्रयोगोऽत्र निमित्तमात्रः, फलं ह्युपादानसमं सदास्तु॥६८॥

अन्वयार्थ– **(भ्रातः)** हे भ्रात! **(ते)** प्रसिद्ध **(हिताहिते)** हितरूप और अहितरूप परिणाम **(हि)** निश्चय से **(ते)** आपके **(निजात्मनि)** निजात्मा में **(निहिते स्तः)** विद्यमान हैं **(इयं सदुक्तिः)** यह सत्पुरुषों की उक्ति है अथवा समीचीन उक्ति-कथन है। **(अत्र)** हित-अहित के विषय में **(परप्रयोगः)** पर पदार्थों का प्रयोग **(निमित्तमात्रः)** निमित्त मात्र है, **(हि)** क्योंकि **(फलं)** कार्य **(सदा)** सतत **(उपादानसमम् अस्तु)** उपादान के समान होता है। जो कार्यरूप परिणत होता है वह उपादान है और इसमें जो सहायक होता है वह निमित्त है।

भावार्थ—हे भाई! तेरे हित और अहित तेरी ही निजात्मा में निहित हैं यह सूक्ति अथवा सत्पुरुषों का कथन प्रसिद्ध है। परपदार्थ का प्रयोग तो इसमें निमित्तमात्र है फल तो सदा उपादान के समान ही होता है।

विशेष औ सामान्य गुणों से सहित वस्तु है शाश्वत है।
प्रभु के दोनों उपयोगों में एक साथ जो भास्वत है॥
फैला-फैला कर पंखों को पंछी नभ में उड़ता ओ।
किन्तु कभी ना दिखा किसी को एक पंख से उड़ता हो ॥६७॥
हित हो अथवा अहित रहा हो निज आतम में निहित रहे।
सन्तों के ये वचन रहे हैं तुम सब को भी विदित रहे॥
पर का इस में हाथ रहा हो निमित्त भर वह कहलाता।
उपादान में फल लगता है सुनो! गीत तुम यह गाता ॥६८॥

माने तु मेयस्य सुखस्य दुःखे, बन्धे हि मुक्ते र्धनिनो दरिद्रे।
पात्रे तु दातुः पथिके पथोऽपि, मुख्यस्य गौणे सुदृशोऽपि चान्धे॥६९॥
विज्ञस्य चाज्ञेऽप्यहिते हितस्य, क्षुधाभिवृद्धौ भुवि भोजनस्य।
यथात्र देशे दिनरात्रियुक्ते, दिवाकरेन्द्वोः शृणु मूल्यमस्ति ॥७०॥ युगलं॥

अन्वयार्थ– हे भाई! **(माने)** ज्ञान के होने पर **(तु)** तो **(मेयस्य)** ज्ञेय का, **(दुःखे)** दुःख के होने पर **(सुखस्य)** सुख का, **(बन्धे)** बन्ध के होने पर **(हि मुक्तेः)** ही मुक्ति का, **(दरिद्रे)** दरिद्र के होने पर **(धनिनः)** धनिक का, **(पात्रे)** पात्र के होने पर **(तु)** तो **(दातुः)** दाता का **(पथिके)** पथिक के होने पर **(पथः)** पथ का, **(अपि)** भी **(गौणे)** गौण-अमुख्य के होने पर **(मुख्यस्य)** मुख्य का, **(च)** और मुख्य के होने पर गौण का, **(अन्धे)** अन्धे व्यक्ति के होने पर **(सुदृशः)** दृष्टि का **(अपि)** भी **(च)** और **(अज्ञे)** अज्ञानी के होने पर **(विज्ञस्य)** ज्ञानी का, **(अहिते)** अहित के होने पर **(अपि)** भी **(हितस्य)** हित का **(भुवि)** पृथ्वी पर **(क्षुधाभिवृद्धौ)** क्षुधा की वृद्धि होने पर **(भोजनस्य)** भोजन का मूल्य है, **(दिनरात्रियुक्ते अत्र देशे)** दिन और रात्रि से युक्त इस देश में **(यथा)** जैसे **(दिवाकरेन्द्वोः)** सूर्य और चन्द्रमा का, **(शृणु!)** सुनो! **(मूल्यमस्ति)** महत्त्व है।

भावार्थ–सुनो! मान के रहते हुए मेय-पदार्थ का, दुःख के रहते सुख का, बन्ध के रहते हुए मुक्ति का, दरिद्र के रहते हुए धनी का, पात्र के रहते हुए दाता का, पथिक के रहते हुए पथ का, गौण-अप्रधान के रहते हुए मुख्य का, अन्धे के रहते हुए सुलोचन का, अज्ञानी के रहते हुए ज्ञानी का, अहित के रहते हुए हित का, क्षुधा के रहते हुए भोजन का और दिन रात से युक्त इस देश में सूर्य चन्द्रमा का मूल्य है।

ज्ञेय-मूल्य भी ज्ञान बिना नहिं दुख ही सुख का मूल्य रहा।
बन्ध बिना नहिं मुक्ति रुचेगी निर्धन धन का मूल्य रहा॥
कौन पूछता दाता को बिन पात्र, पथिक बिन पन्था को।
गौण हुए बिन मुख्य कौन हो लोचन-मालिक, अन्धा हो॥६९॥
अज्ञ रहा तब मूल्य विज्ञ का बढ़ा अन्यथा वृथा कथा।
शत्रु मित्र की याद दिलाता क्षुधा बिना है अन्न वृथा॥
उचित रहा यह जहाँ निशा हो तथा दिवस भी रहे वहाँ।
मूल्य निशाकर तथा दिवाकर का होता बुध कहें यहाँ॥७०॥

विवाहितः संश्च वरो गृही सोऽ-, विवाहिताद्धा व्यभिचारिणोऽपि।
पापस्य हानिश्च वृषे मतिः स्यात्, तथेतराद् यत् शृणु पापमेव॥७१॥

अन्वयार्थ—(हा) खेद है कि **(सः)** प्रसिद्ध **(गृही)** स्वदारसन्तोष व्रतधारी गृहस्थ **(विवाहितः सन् च)** विवाहित हुआ भी **(अविवाहितात्)** अविवाहित **(व्यभिचारिणः)** व्यभिचारी से **(अपि)** भी **(वरः)** श्रेष्ठ है **(यत्)** क्योंकि अणुव्रती गृहस्थ के **(पापस्य हानिः च)** स्थूलपाप की हानि है और **(वृषे)** धर्म में **(मतिः स्यात्)** बुद्धि है **(तथा इतरात्)** इससे भिन्न व्यक्ति के **(पापम् एव)** पाप ही है। **(शृणु)** सुनो!

भावार्थ—व्यभिचारी अविवाहित मनुष्य की अपेक्षा विवाहित-स्वदारसंतोषी गृहस्थ श्रेष्ठ है। उसकी श्रेष्ठता का कारण पाप की हानि और धर्म में रुचि है। इससे विपरीत कारणों-पाप की वृद्धि और धर्म में अरुचि से पाप ही होता है। यह तत्त्व की बात सुन।

दाता दयालुः परदुःखवैरी, स श्रेष्ठिनः स्यात् कृपणात् प्रशस्तः।
अन्यायवित्तं ददतस्तु दातु-,र्वरोऽप्यदाता नयमार्गगामी॥७२॥

अन्वयार्थ—(परदुःखवैरी) पर के दुःखों का नाश करने के लिए जो वैरी के समान है ऐसा **(दयालुः)** दया करने वाला **(सः)** वह प्रसिद्ध **(दाता)** दानकर्त्ता **(कृपणात् श्रेष्ठिनः)** कृपण धनी से **(प्रशस्तः)** प्रशंसनीय **(स्यात्)** है **(तु)** किन्तु **(अन्यायवित्तं)** अन्याय से अर्जित धन को **(ददतः)** देने वाले **(दातुः)** दाता की अपेक्षा **(नयमार्गगामी)** न्यायमार्ग का अनुसरण करने वाला **(अदाता अपि)** दान नहीं करने वाला भी **(वरः)** श्रेष्ठ है।

भावार्थ—पर के दुःख को दूर करने वाला दयालु दाता कंजूस सेठ से अच्छा है और दूसरे लोगों के धन-वस्तु को देने वाले दाता की अपेक्षा नीतिमार्ग पर चलने वाला अदाता श्रेष्ठ है।

अविवाहित हो जीवन जीता व्यभिचारी भी बना हुआ।
गृही विवाहित उससे वर है शुभ आचारी बना हुआ॥
एक पाप को पल पल ढोता दुर्मति से दुर्गति होती।
एक पाप को नियमित धोता धर्म कार्यरत मति होती॥७१॥
कृपण सेठ से श्रेष्ठ रहा वह साधारण जीवन जीता।
दयालु दाता पर के दुख का वैरी उद्यम-जल पीता॥
प्रशस्त-दाता किन्तु नहीं जो अनीति-धन का दान करे।
दान बिना भी मान्य रहा वह नीति निपुण गुणवान अरे ! ॥७२॥

कनीयसा मे मनसा धृतो योऽ-, मूर्तश्च विश्वैकगुरुर्विरागः।
श्रद्धादृशा वाधिगतोऽप्यतोऽहं, भक्तोऽपि धन्यो भगवांस्तु धन्यः ॥७३॥

अन्वयार्थ– (अमूर्त्तः) स्पर्शादिक से रहित **(विरागः)** वीतराग **(च)** और **(विश्वैकगुरुः)** विश्व के अद्वितीय गुरु **(यः)** जो **(मे)** मेरे **(कनीयसा)** अणु सदृश **(मनसा)** हृदय के द्वारा **(धृतः)** धारण किए गए हैं **(वा)** और **(श्रद्धादृशा)** श्रद्धा की आँखों से **(अधिगतः)** जाने गए **(अपि)** भी हैं **(अतः)** इस कारण से **(अहं भक्तः अपि)** मैं भक्त भी **(धन्यः)** धन्य हूँ **(भगवान्)** अर्हत्परमेष्ठी **(तु)** तो **(धन्यः)** धन्य हैं ही।

भावार्थ–अमूर्तिक, वीतराग और विश्व के अद्वितीय गुरु जो मेरे तुच्छ हृदय के द्वारा धारण किए गये हैं अतः मैं भी धन्य हूँ, भगवान् तो धन्य हैं ही।

योग्यो विनेयो गुरुणा श्रमेण, नीतो गुरुत्वं किमु विस्मयोऽत्र।
पाषाणखण्डेऽपि विरागता सा, दिव्योदिता किं न हि शिल्पिनापि ॥७४॥

अन्वयार्थ– (योग्यः) ग्रहण, धारण, स्मरण की शक्ति युक्त **(विनेयः)** शिष्य **(गुरुणा श्रमेण)** महान् परिश्रम से **(गुरुत्वं)** गुरुता को **(नीतः)** प्राप्त कराया जाता है। **(अत्र)** इस विषय में **(किमु)** क्या **(विस्मयः)** आश्चर्य है? **(पाषाणखण्डे)** पाषाण के खण्ड में **(अपि)** भी **(शिल्पिना अपि)** शिल्पी के द्वारा भी **(सा)** वह प्रसिद्ध **(दिव्या)** अलौकिक **(विरागता)** वीतरागता **(किं)** क्या **(नहि)** नहीं **(उदिता)** प्रकट की जाती है? अर्थात् प्रकट की जाती है।

भावार्थ–योग्य शिष्य यदि गुरु के द्वारा परिश्रम पूर्वक गुरुता को प्राप्त करा दिया है तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है? क्योंकि पाषाणखण्ड में भी शिल्पी के द्वारा क्या वह अलौकिक वीतरागता प्रकट नहीं की जाती।

श्रद्धा की मम आँखों में प्रभु किसविध आ अवतार लिया।
कणभर होकर मन यह मेरा गुरु तम तुमको धार लिया॥
विराग हो तुम अमूर्त भी हो मूर्त रहा यह अन्य रहा।
धन्य रहे हो भगवन् तुम तो किन्तु भक्त भी धन्य रहा ॥७३॥
महा विचक्षण योग्य शिष्य हो विनयी हो श्रमशील तना।
योग, योग्य गुरु का पा गुरु हो विस्मय क्या समझील बना॥
शिल्पी की वह शिल्पकला है जड़ भी चेतन हो जाता।
कठिन-कठिन पाषाण-खण्ड भी विराग केतन हो जाता ॥७४॥

विवेकयुक्ता अलिवच्चरन्ति, सदावृता ये विषयैर्विचित्रैः।
हिताहितज्ञानविविक्तचित्ताः, कफे मृतास्ते खलु मक्षिकावत्॥७५॥

अन्वयार्थ—(विचित्रैः) विविध **(विषयैः)** पंचेन्द्रिय के विषयों से **(ये)** जो **(सदा)** सतत **(आवृताः)** वेष्टित-घिरे हैं किन्तु **(विवेकयुक्ताः)** विवेक से युक्त हैं **(ते अलिवत् चरन्ति)** वे भ्रमर के समान योग्य हितकारी निर्दोष भोगों स्वरूप सौरभ का सेवन करते हैं, सदोष का नहीं और जो **(हिताहितज्ञानविविक्तचित्ताः)** हित-अहित के ज्ञान से शून्य चित्त वाले हैं वे **(खलु)** निश्चय से **(कफे)** कफ में पड़ी **(मक्षिकावत्)** मक्खी के समान सदोष अहितकारी विषयों का सेवन करते हुए **(मृताः)** मरण को प्राप्त हो जाते हैं।

भावार्थ—विविध भोग सामग्रियों से सदा घिरे रहने वाले जो लोग विवेक सहित हैं वे भ्रमरों के समान योग्य विषयों का ही सेवन करते हैं और जो हिताहित के विवेक के शून्य चित्त वाले हैं वे कफ में फँसी मक्खियों के समान निश्चय से मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

दैवेऽनुकूले मुदितं जगद्वा, पापोदये दुःखितमेव भावात्।
आतापतस्तस्य रवेर्लता सा, या छायिकाऽऽरादतिमूर्च्छिता स्यात्॥७६॥

अन्वयार्थ— (दैवे) भाग्य के **(अनुकूले)** अनुकूल होने पर **(जगत्)** लोक **(मुदितं)** सुखित होता है **(वा)** और **(पापोदये)** पाप के उदय में **(भावात्)** स्वभाव से **(दुःखितम् एव)** दुःखित ही होता है। जैसे **(या)** जो **(छायिका)** छाया में पलने वाली भी **(लता)** बेल है **(सा)** वह **(आरात्)** दूर रहने वाले **(तस्य)** उस प्रसिद्ध **(रवेः)** सूर्य के **(आतापतः)** आताप से **(अतिमूर्च्छिता स्यात्)** अत्यन्त म्लान हो जाती है।

भावार्थ—भाग्य के अनुकूल रहते हुए जगत् स्वभाव से प्रसन्न होता है और पापोदय के रहते हुए स्वभाव से दुःखी रहता है। जैसे छाया में उत्पन्न हुई लता दूरवर्तिनी होने पर भी सूर्य के संताप से अत्यधिक म्लान हो जाती है।

चमक दमक है जिनके चारों ओर विषय ये परे हुए।
निज में रमते सदा भ्रमर से बुधजन भ्रम से परे हुए॥
किन्तु हिताहित नहीं जानते पर में रत जड़ मरते हैं।
जैसे कफ में मक्खी फँसती क्यों न विषय से डरते हैं? ॥७५॥
भाग्य खुला तो मुख खिलता है प्रायः जग यह मुदित दिखे।
पाप उदय में आता है तब मुख न मुदित हो दुखित दिखे॥
तपन ताप से नभ मण्डल औ धरती जब यह तप जाती।
पली छाव में मृदुल लता जो मूर्च्छित होती अकुलाती ॥७६॥

संप्राप्य चारित्रसुशीलयोगं, ज्ञानं स्वयं याति सुपूर्णतां तत्।
सुशाणयोगाद्धि मणेश्च मूल्यं, काष्ठां गतं सज्जनकण्ठभागम्॥७७॥

अन्वयार्थ– **(तत्)** वह प्रसिद्ध **(ज्ञानं)** सम्यग्ज्ञान **(चारित्रसुशीलयोगं)** चारित्र और शील का संयोग **(संप्राप्य)** प्राप्त कर **(स्वयं सुपूर्णतां)** स्वतः पूर्णता को **(याति)** प्राप्त हो जाता है। **(हि)** जिस तरह **(सुशाणयोगात्)** उत्तम शाण–कसौटी के योग से **(मणेश्च)** माणिक्य का **(मूल्यं)** मूल्य **(काष्ठां गतं)** सर्वोच्चदशा को प्राप्त हुआ **(सज्जनकण्ठभागं)** सज्जनों के कण्ठभाग को प्राप्त करता है।

भावार्थ–चारित्र और शील का संयोग पाकर साधारण ज्ञान भी पूर्णता को प्राप्त हो जाता है। जैसे उत्तम कसौटी का संयोग पाकर मणि का मूल्य इतना बढ़ जाता है कि वह सज्जनों के कण्ठप्रदेश को प्राप्त हो जाता है।

विद्वेषभावोऽपि समं स्वजात्या, कृतज्ञता सा शुनि जन्मतोऽस्तु।
अत्यल्पनिद्रापि विधेर्विपाको, विचित्र एवं गदितं सुविज्ञैः॥७८॥

अन्वयार्थ– **(शुनि)** श्वान में **(स्वजात्या समं)** श्वान जाति के साथ **(विद्वेष भावोऽपि)** वैर परिणाम और **(सा)** वह प्रसिद्ध **(कृतज्ञता)** स्वामी के प्रति उपकारभाव तथा **(अत्यल्पनिद्रा अपि)** अत्यल्प–स्वल्प निद्रा भी **(जन्मतः)** जन्म से ही **(अस्तु)** होती है। **(एवं)** ऐसा सारमेय–श्वान का **(विधेः)** कर्म का **(विचित्रः)** आश्चर्यजनक **(विपाकः)** फल–उदय **(सुविज्ञैः)** बुधजनों ने **(गदितं)** कहा है।

भावार्थ–कुत्ता में जन्म से ही अपनी जाति के साथ विद्वेष भाव भी है, उसके कृतज्ञता गुण है और अल्पनिद्रा भी है। विद्वज्जनों ने कहा है कि उसका यह कर्म का विचित्र ही योग है।

चरित–शरण में जब आता है शील–छाँव में पलता है।
ज्ञान स्वयं यह अविनश्वर शुचि पूर्ण–ज्ञान में ढलता है।
उचित शाण पर उचित समय तक अनगढ़ हीरा जब चढ़ता।
सुजनों के वह कण्ठहार हो मूल्य चरम तक तब बढ़ता ॥७७॥
नहीं भूलता उपकारक को कृतज्ञता गुण धरता है।
श्वान सन्त सम कम सोता है निद्रा से अति डरता है॥
किन्तु द्वेष रखता है निशिदिन निजी जाति से खेद यही।
खेल खेलता कर्म कहाँ कब किस विध खुलता भेद नहीं ॥७८॥

सिद्धे स्वकार्ये सति कारणानि, बाह्येतराणीति तृणीभवन्ति।
सोपानमालापि विमोचिता सा, प्रारोहितात्मोन्नत - सौधकेन॥७९॥

अन्वयार्थ— (स्वकार्ये सिद्धे सति) निज कार्य के सिद्ध हो जाने पर **(बाह्येतराणि)** बाह्य और अंतरंग **(कारणानि)** कारण समूह **(इति)** इस प्रकार **(तृणीभवन्ति)** तृण के समान निष्प्रयोजनवान् हो जाते हैं, जिस प्रकार **(प्रारोहितात्मोन्नतसौधकेन)** आत्म उन्नति का, सौधकेन-प्रासाद, प्रारोहित-आरोहण करने वाले व्यक्ति के द्वारा **(सा सोपानमाला)** वह सीढ़ियों की पंक्ति **(अपि)** भी **(विमोचिता)** छोड़ दी जाती है।

भावार्थ—अपना कार्य सिद्ध हो जाने पर बाह्य और अन्तरंग-दोनों प्रकार के कारण तृण के समान तुच्छ हो जाते हैं। जैसे अपने ऊँचे महल पर चढ़ चुकने वाले पुरुष के द्वारा सीढ़ियों की पंक्ति छोड़ दी जाती है।

रागादिकं चात्मभवं दहेत् तत्, ध्यानं शुभं चात्मभवं समन्तात्।
वनोद्भवो वातसुदीप्तदावो, भस्मीकरोतीह वनं समस्तम्॥८०॥

अन्वयार्थ—(आत्मभवं) आत्मा से उत्पन्न **(शुभं ध्यानं)** शुभ-शुचि ध्यान **(तत् च)** प्रसिद्ध **(रागादिकं)** राग-द्वेषादि विभाव भावों को **(समन्तात्)** सब ओर से-पूर्ण तरह से **(दहेत्)** जला देता है। **(इह)** लोक में **(वनोद्भवः)** वन में उत्पन्न **(वातसुदीप्तदावः)** वायु से प्रदीप्त दावानल **(समस्तं वनं)** सम्पूर्ण वन को **(भस्मीकरोति)** भस्म कर देता है।

भावार्थ—आत्म में उत्पन्न हुआ शुभध्यान अपने आप में होने वाले रागादिक भावों को सब ओर से जला देता है-नष्ट कर देता है। जैसे कि वन में उत्पन्न और वायु से प्रचण्डता को प्राप्त दावानल समस्त वन को भस्म कर देता है।

उपादान हो निमित्त हो या गौण मुख्य की शर्त नहीं।
कार्य पूर्ण हो जाने पर फिर कारण से कुछ अर्थ नहीं॥
बढ़ते बढ़ते ऊपर चढ़ते अंतिम मंजिल वह आती।
एक एक कर क्रमशः पीछे सभी सीढ़ियाँ रह जाती॥७९॥
अशुभ-भाव से जनित भयंकर कर्मों का वह नाश करे।
शुभ भावों में वास कर रहे ध्यान सही जिन दास ! अरे !
पवन योग पा उद्दीपित वह होता दावानल वन में।
पूर्ण जलाता राख बनाता पूरण वन को वह क्षण में॥८०॥

आद्या विरागा द्वितीया सरागा, दृष्टिर्जनानां स्खलितात्मभावा।
अभ्राश्रिता सा विमला ततश्चेत् मलाभिभूता पतिताम्बुधारा ॥८१॥

अन्वयार्थ– **(जनानां)** मनुष्यों की **(दृष्टि:)** दृष्टि **(आद्या)** प्रथम **(विरागा)** राग प्रपञ्च से रहित **(द्वितीया)** दूसरे समय आदि की दृष्टि **(स्खलितात्मभावा)** स्खलित आत्मस्वभाव वाली **(सरागा)** सराग-राग प्रपंच से युक्त होती है। उक्त दोनों दृष्टियों में **(चेत्)** यदि प्रथमादृष्टि **(अभ्राश्रिता)** मेघों के आश्रित **(सा)** वह प्रसिद्ध जलधारा के समान **(विमला)** निर्मल होती है तो **(ततः)** प्रथम से भिन्न द्वितीय दृष्टि **(पतिता)** पृथ्वी पर पड़ी **(अम्बुधारा)** जलधारा के समान **(मलाभिभूता)** मल से युक्त होती है।

भावार्थ–मनुष्य की दो दृष्टियाँ हैं एक विराग और दूसरी आत्मभाव से च्युत करने वाली सराग। विराग दृष्टि मेघाश्रित जलधारा के समान निर्मल है और दूसरी पृथ्वी पर पड़ी जल धारा के समान मलिन है।

यथा पृथिव्यां करिणो नरा वा, दृष्टिं गताः श्रीफलमत्तुमीशाः।
हंसा हि मुक्ताफलभोजिनः स्युः, सिताः समित्या युतका ह्यनाशाः ॥८२॥

अन्वयार्थ– **(यथा)** जिस प्रकार **(पृथिव्यां)** पृथ्वी पर **(दृष्टिं गताः)** देखने की दृष्टि-शक्ति को प्राप्त **(करिणः)** हाथी **(वा)** और **(नराः)** मनुष्य **(श्रीफलं)** श्रीफल **(अत्तुं)** खाने के लिए **(ईशाः)** समर्थ हैं। **(सिताः हंसाः)** श्वेत हंस **(हि)** निश्चय से **(मुक्ताफलभोजिनः स्युः)** मोती चुगने-खाने वाले होते हैं और विवेक-दृष्टि चारित्र को प्राप्त सन्त मनुष्य **(हि)** ही **(अनाशाः)** आशा रहित **(समित्या)** समिति से-समता से **(युतकाः)** युक्त मोक्षफल का भोग करने वाले **(सिताः)** उज्ज्वल भाव से युक्त होते हैं।

भावार्थ–जिस प्रकार पृथ्वी में दृष्टि-देखने की शक्ति को प्राप्त हाथी और दृष्टि-विचारशक्ति को प्राप्त मनुष्य श्रीफल-नारियल (पक्ष में लक्ष्मी का फल) खाने में समर्थ हैं उसी प्रकार सफेद हंस और समताभाव से युक्त आत्मा वाले अनाश-आशरहित साधु, मुक्ताफलभोजी होते हैं। हंस मोती चुगते हैं और साधु मुक्तिरूपी फल का अनुभव करते हैं।

यदपि मनुज की मोह भाव से सुप्त चेतना होती है।
विराग पहली दृष्टि दूसरी राग रंगिनी होती है॥
बादल दल से गिरती धारा प्रथम समय में विमला हो।
ज्यों ही धरती को आ छूती धूमिल पंकिल समला हो॥८१॥
ऐसा देखा जाता जग में सभी नहीं श्रीफल खाते।
मनुज तोड़ कर खाता हाथी गिरे हुए श्रीफल खाते॥
आशा के तो दास नहीं हैं समता धन के धनी बने।
मुक्ता खाता हंस मोक्षफल खाता है मुनि गुणी बने॥८२॥

प्रत्येकभावे निजपर्यया वै, प्रतिक्षणं ये प्रलयं प्रयान्ति।
मुहुर्मुहु र्या तरलेव भूत्वा, तरङ्ग-माला क्षणिका तडागे॥८३॥

अन्वयार्थ– **(प्रत्येकभावे)** प्रत्येक पदार्थ में **(ये)** जो **(निजपर्यया)** स्वकीय पर्यायें हैं वे **(प्रतिक्षणं)** प्रतिसमय **(वै)** निश्चय से **(प्रलयं)** विनाश को **(प्रयान्ति)** प्राप्त होतीं हैं। जिस प्रकार **(तडागे)** सरोवर में **(या)** जो **(तरङ्गमाला)** तरंगमाला-लहरों की आवली है **[सा]** वह **(मुहुर्मुहुः)** बार-बार **(तरला इव)** चंचल-सी **(भूत्वा)** होकर **(क्षणिका)** नश्वरी-क्षण में विनष्ट हो जाती है।

भावार्थ–प्रत्येक पदार्थ में अपनी पर्यायें हैं वे प्रतिक्षण विलय को प्राप्त होती हैं। जैसे तालाब में जो तरंग की संतति है वह बार-बार चञ्चल सी होकर विनष्ट हो जाती है।

काले न कालेन न काचन श्रीः, सा चात्मतत्त्वं तु ततोऽस्तु तत्र।
समुद्यमोऽतोस्तु सदैव सद्भिः, कर्तव्य एवात्महिताय तत्त्वे॥८४॥

अन्वयार्थ– **(काचन)** कोई **(श्रीः)** सुख-सम्पत्ति आदि विभूति **(न काले)** न अतीत-अनागत व वर्तमानकाल में होती है, **(न च कालेन)** और न प्रातः, मध्याह्न, अपराह्नकाल के द्वारा **(अस्तु)** होती है **(सा)** वह प्रसिद्ध **(आत्मतत्त्वं)** आत्म तत्त्वरूप लक्ष्मी **(ततः)** उस कारण से **(तत्र)** आत्मतत्त्व में **(अस्तु)** होती है। **(अतः)** इस कारण से **(सद्भिः)** सज्जनों के द्वारा **(आत्महिताय)** आत्महित के लिए **(सदैव)** सदा ही **(तत्त्वे एव)** आत्म तत्त्व में ही **(समुद्यमः)** सम्यक् प्रकार से पुरुषार्थ **(कर्त्तव्यः)** किया जाना चाहिए।

भावार्थ–कोई भी सुखादिक लक्ष्मी न किसी काल में और न किसी काल के द्वारा होती है क्योंकि वह आत्मतत्त्व है अतः आत्मा में ही हो सकती है। अतः सत्पुरुषों को आत्महित के लिए आत्म तत्त्व में ही सदा उद्योग करना चाहिए।

पल-पल में प्रति पदार्थ-दल में अपनी अपनी पर्यायें।
नई-नई छवि लेकर उठती मिटती रहती क्षणिकायें॥
तरंगमाला तरल छबीली पवन चले तब जल में है।
झिलमिल, झिलमिल करती उठती और समाती पल में है॥८३॥
नहीं काल में नहीं काल से सुख मिल सकता ज्ञात रहे।
सुख तो निर्मल गुण है अपना आत्म तत्त्व के साथ रहे॥
हित चाहो तो मन वच तन से निज आतम में लीन रहो।
यही प्रथम कर्तव्य रहा है भूल कभी मत दीन रहो॥८४॥

ध्येयो न सेव्यो न हि चाप्युपेयो, ज्ञेयोऽपि कालो नियतोऽपि हेयः।
ध्येयः प्रमेयो निजशुद्धभावो, प्युपेयको योऽत्र सुधासुपेयः॥८५॥

अन्वयार्थ– (कालः) कालद्रव्य **(न ध्येयः)** न ध्यान करने योग्य है **(न सेव्यः)** न सेवन-आश्रय लेने योग्य है **(न हि च अपि उपेयः)** और न प्राप्ति के भी योग्य है **(ज्ञेयः अपि)** ज्ञान का विषय होकर भी **(नियतः)** निश्चित रूप से **(अपि)** भी **(हेयः)** त्यागने योग्य है। **(अत्र)** लोक में **(यः)** जो **(निजशुद्धभावः)** स्वकीय शुद्ध आत्मा है वही **(ध्येयः)** ध्येय है–ध्यान योग्य है **(प्रमेयः)** प्रमेय है वह ही **(उपेयकःअपि)** प्राप्ति के योग्य भी है और **(सुधासुपेयः)** अमृतरूप उत्तम पेय भी है।

भावार्थ–कालद्रव्य ध्येय नहीं है, सेव्य नहीं है, उपेय भी नहीं है, ज्ञेय होकर भी निश्चित ही हेय है। इस जगत् में जो निजशुद्धभाव है वह ध्येय है, प्रमेय है, उपेय है और सुधा के समान सुपेय है।

त्यक्तुं न हीशा विषयान् विमूढा, वदन्ति मुक्तिर्भवतोऽस्तु कालान्।
कषायभीमग्रहलुप्तबोधाः, कुर्वन्ति किं किं न विनिन्द्यपापम्॥८६॥

अन्वयार्थ–(विषयान्) पंचेन्द्रिय के विषयों को **(हि)** बिल्कुल ही **(त्यक्तुं)** त्यागने को **(ईशाः)** समर्थ **(न)** नहीं हैं, **[इत्थं]** ऐसा **(विमूढाः)** मोही जन **(वदन्ति)** कहते हैं। **(भवतः)** संसार से **(मुक्तिः)** मोक्ष **(कालात्)** काल से समय पर स्वयमेव-स्वयं ही **(अस्तु)** होगा ऐसे कहने वाले **(कषायभीमग्रहलुप्तबोधाः)** कषायरूपी भयंकर ग्रहों से लुप्त बोध वाले मनुष्य **(किं किं)** क्या-क्या **(विनिन्द्यपापं)** विनिन्दनीय पाप को **(न कुर्वन्ति)** नहीं करते हैं? करते ही हैं।

भावार्थ–जो विषयों को छोड़ने के लिए समर्थ नहीं हैं, ऐसे मोही मनुष्य कहते हैं कि संसार से मुक्ति काल आने पर स्वयं हो जायेगी। ठीक ही है, कषायरूपी भयंकर पिशाच के द्वारा जिनका ज्ञान लुप्त हो गया है ऐसे मनुष्य कौन-कौन निन्दनीय पाप नहीं करते हैं?

विज्ञ जनों के सेव्य नहीं है रहा काल यह ध्येय नहीं।
ज्ञेय भले हो नियत रहा हो किन्तु नियम से हेय सही॥
मोक्षमार्ग में शुचि चेतन ही सेव्य रहा है ध्येय रहा।
अमेय भी है उपेय भी है शान्त सुधासम पेय रहा॥८५॥
विषय त्याग से डरते हैं जो मूढ़ रहे वे भूल रहे।
मुक्ति समय पर मिलती इस विध कहते हैं प्रतिकूल रहे॥
मोह-भूत के वशीभूत हो आत्म-बोध से रहित हुए।
कषाय-वश नर क्या नहिं करता पाप पंक में पतित हुए॥८६॥

स्वजातिवात्सल्यगुणं दधानः, संभोगकार्ये न दिवा रतोऽस्तु।
तथापि काको जगतादृतो नो, मन्येऽत्र रूढिर्न हि चान्यहेतुः ॥८७॥

अन्वयार्थ— यद्यपि **(काकः)** कौआ **(स्वजातिवात्सल्यगुणं)** अपनी जाति में स्नेह गुण को **(दधानः)** धारण करता है और **(दिवा)** दिन में **(संभोगकार्ये)** रतिक्रिया में **(रतः)** लीन **(न अस्तु)** नहीं होता है तथापि **(जगता)** जग जन के द्वारा **(आदृतः)** आदर को प्राप्त **(नो)** नहीं होता। **(अत्र)** इसमें **(न च अन्य हेतुः)** कोई अन्य हेतु नहीं है। **(हि)** निश्चय से **(रूढिः)** रूढ़ि ही कारण है ऐसा **(मन्ये)** मैं मानता हूँ।

भावार्थ—यद्यपि कौआ जाति के साथ वात्सल्यरूप गुण को धारण करता और दिन में रतिक्रिया में तत्पर नहीं रहता तथापि वह जगत् के द्वारा आदर को प्राप्त नहीं होता। इसमें रूढ़ि ही कारण है ऐसा मैं मानता हूँ। अन्य कारण नहीं।

आम्रादिवृक्षो फलभारनम्रो गन्धान्वितं यस्य न मंजुपुष्पम्।
सेव्योऽत्र मिष्टेन रसेन सर्वै- रुद्दण्ड-इक्षोर्ननु दण्डकोऽपि ॥८८॥

अन्वयार्थ—(ननु) वास्तव में **(इक्षोः)** इक्षु-ईख का **(दण्डकः)** दण्ड यद्यपि **(आम्रादिवृक्षः)** आम्र आदि वृक्षों के समान **(फलभारनम्रः)** फलों के भार से नम्र **(न)** नहीं होता और **(यस्य)** जिसके **(मञ्जुपुष्पं)** सुन्दर पुष्प **(गन्धान्वितं)** सुगन्धि से युक्त **(अपि)** भी नहीं हैं, प्रकृति से **(उद्दण्डः)** उद्दण्ड है-अविनीत खड़ा है तथापि **(मिष्टेन रसेन)** मिष्ट-मधुर रस के कारण **(अत्र)** जगत् में **(सर्वैः)** सभी आबाल वृद्धों के द्वारा **(सेव्यः)** सेवनीय है।

भावार्थ—ईख का दण्ड यद्यपि आम्रादि वृक्षों के समान फलों के भार से नम्र नहीं होता और न जिसका सुन्दर फूल सुगन्ध से सहित है प्रकृति से उद्दण्ड-दण्ड रूप में खड़ा है (पक्ष में अविनीत) तथापि मिष्ट रस के कारण जगत् में सबके द्वारा सेवनीय है।

निजी जाति के प्रति ईर्ष्या नहिं काक सदा अनुराग धरे।
दिन में तो सम्भोग-कार्य में ना रत हो ना राग करे॥
तदपि कहाँ है काक समादृत कारण का कुछ पता नहीं।
लगता इसमें रुढ़ि रही हो नीति हमें यह बता रही॥८७॥
आम्रादिक तरु सम जो होता सरस फलों से भरा नहीं।
फूल फूलता यद्यपि जिसमें गन्ध नहीं है हरा नहीं।
इक्षु दण्ड उद्दण्ड रहा है किन्तु रहा वह सरस महा।
इसीलिए आ-बाल वृद्ध सब जिसे चाहते हरस रहा॥८८॥

गुणीभवन्तीह यतेर्जरायां तपांसि सर्वाणि च तान्विकानि।
अयत्नमुक्तं वृषमिष्टमन्नं मन्दाग्निना वाऽकृतभोजनेन ॥८९॥

अन्वयार्थ–(इह) इस जगत् में **(जरायां)** वृद्धावस्था में **(यतेः)** साधु के **(तान्विकानि)** तनु-शरीर सम्बन्धी-देहाश्रित **(सर्वाणि च)** सर्व **(तपांसि)** तपश्चरण **(गुणीभवन्ति)** गौण हो जाते हैं, **(वा)** जिस प्रकार **(मन्दाग्निना)** मन्दाग्नि के कारण **(अकृतभोजनेन)** भोजन नहीं कर सकने के कारण व नहीं पचने के कारण **(वृषं)** गरिष्ठ **(इष्टं)** इच्छित **(अन्नं)** अन्नादि पदार्थ **(अयत्नमुक्तं)** बिना प्रयत्न के छूट जाते हैं।

भावार्थ–इस जगत् में वृद्धावस्था के समय साधु के शारीरिक तप गौण हो जाते हैं और मन्दाग्नि के कारण भोजन न कर सकने के कारण गरिष्ठ इष्ट भोजन बिना प्रयत्न के ही छूट जाता है।

सुशास्तृयोगाद्धि जगत् सुखि स्यात्, स्याद्दुःखि भूरीतरतोऽप्यवश्यम्।
तानाश्रितान्नौर्नयतेऽब्धितीरं, छिद्रान्विता घोररसातलं चेत् ॥९०॥

अन्वयार्थ– (जगत्) यह जगत् **(सुशास्तृयोगात्)** उत्तम शासक के योग से **(हि)** ही **(सुखि स्यात्)** सुखी होता है **(इतरतः)** कुशासक के संयोग से **(अवश्यं)** नियम से **(भूरि)** अत्यधिक **(दुःखि स्यात्)** दुःखी होता है। जिस प्रकार **(नौः)** तरणि **(आश्रितान् तान्)** आश्रित-जनों को **(अब्धितीरं)** समुद्र तट तक **(नयते)** पहुँचा देती है, **(चेत्)** यदि वह **(छिद्रान्विता)** छिद्रसहित है तो **(घोररसातलं)** भयंकर रसातल में ले जाती है।

भावार्थ–जगत् उत्तम शासक के योग से सुखी होता है और कुशासक के योग से अत्यधिक दुःखी होता है। जैसे नाव आश्रितजनों को समुद्र के तट पर पहुँचा देती है, यदि वही नाव छिद्र सहित है तो भयंकर रसातल में पहुँचाती है। ऐसा योगी मेरे द्वारा पूजा जाता है।

तन के आश्रित जितने तप हैं गौण सभी तब होते हैं।
जरा दशा में साधक मुनिजन मौन शमी जब होते हैं॥
जिसे रोग मंदाग्नि हुआ या जिसने भोजन पाया है।
इष्ट मिष्ट भोजन से अब ना अर्थ रहा प्रभु गाया है॥८९॥
उचित नाव के आश्रित जन को शीघ्र नदी का तीर मिले।
छिद्र सहित यदि नाव मिली तो घोर रसातल पीर मिले॥
शासक शासन उचित चलाता सबका वह संताप हरे।
अनुचित सो अभिशाप रहा है आप, पाप परिताप करे॥९०॥

ज्ञातोऽनुभूतो यदि नात्मभाव-, श्चेत्तस्य चर्चां कुरुते तपस्वी।
पित्तज्वरार्तं पवनार्दितं वा, प्रलापयन्तं मनुते मनस्वी ॥९१॥

अन्वयार्थ– जिसने **(आत्मभावः)** शुद्धात्मा का स्वरूप **(न ज्ञातः)** न जाना है **(अनुभूतः)** न अनुभूति में लाया है तथापि ऐसा **(तपस्वी चेत्)** साधु यदि **(तस्य)** उस शुद्धात्मा के स्वरूप की **(चर्चां कुरुते)** चर्चा करता है तो **(मनस्वी)** शुद्धात्मज्ञान सम्पन्न साधु अथवा विचारशील मनुष्य **(तं)** उस तपस्वी को **(प्रलापयन्तं)** प्रलाप करने वाला **(पित्तज्वरार्त्तं)** पित्तज्वर से पीड़ित **(वा)** अथवा **(पवनार्दितं)** वायुरोग से पीड़ित **(मनुते)** मानते हैं।

भावार्थ–यद्यपि आत्मपदार्थ को न जाना है, न उसका अनुभव किया है तथापि साधु यदि उसकी चर्चा करता है तो विचारशील मनुष्य उसे बकवाद करने वाला पित्तज्वर अथवा वात से पीड़ित मानता है।

गौश्चर्यया पापततौ च मौनोऽ-, पृष्टोऽप्यमौनो निजधर्महानौ।
भीतोऽस्ति लोकैषणतोऽप्यभीतो, दुःखोपसर्गेषु विविक्तधर्मैः ॥९२॥

अन्वयार्थ– जो **(चर्यया)** सामान्यचर्या से अथवा आहारचर्या से **(गौः)** धेनु के समान प्राप्त में सन्तोषी है **(च)** और **(पापततौ)** पापसमूह में **(मौनः)** पाप के समर्थन से रहित है **(निजधर्महानौ)** आत्मधर्म अथवा जिनधर्म की हानि का प्रसंग हो तो **(अपृष्टः अपि)** बिना पूछे ही **(अमौनः)** मौन रहित निर्भय होकर बोलने वाला है **(लोकैषणतः)** लोकैषणा-ख्याति पूजा के भाव से **(भीतः अस्ति)** भयभीत है किन्तु **(विविक्तधर्मैः)** अधर्मीजनों कृत **(दुःखोपसर्गेषु)** दुःखदायक-उपसर्गों के आने पर **(अपि)** भी **(अभीतः)** अभीत है। ऐसा योगी **(मया)** मेरे द्वारा **(अञ्च्यते)** पूजा जाता है।

भावार्थ–जो चर्या से गाय है, पाप समूह में मौन है, निजधर्म की हानि में बिना पूछे भी प्रतिकार करने वाला है, लौकिक ख्याति से भयभीत होने पर भी अधार्मिक मनुष्यों के द्वारा कृत दुःखदायक उपसर्गों में अभीत है।

बिन करनी कथनी में रत है तापस का भ्रम-भाव रहा।
ज्ञात नहीं अनुभूत नहिं क्या? शुचितम आतम-भाव रहा॥
पित्तकोप से ज्वर पीड़ित या सन्निपात का वह रोगी।
जैसा प्रलाप करता रहता उसे मानते बुध योगी ॥९१॥
जिस की चर्या गो सम होती पाप कार्य में मौन रहा।
बिन पूछे निर्भीक बोलता धर्म कार्य हो गौण रहा॥
गवेषणा में डूब रहा है लोकेषण से भीत रहा।
दुर्जन द्वारा दिये गये दुख उपसर्गों को जीत रहा ॥९२॥

परोपकारी तरुवन्निरीह- स्तथोद्यमी यो रविचन्द्रशीलः।
सिंहोऽस्तिवृत्त्याऽनिलवद् विसङ्गो, योगेन मेरुः क्षमया धरास्ति॥९३॥

अन्वयार्थ– (परोपकारी) परोपकारी होकर भी **(तरुवत् निरीहः)** वृक्ष के समान प्रतिफल की इच्छा से रहित है **(तथा)** और **(यः)** जो **(रविचन्द्रशीलः)** सूर्य और चन्द्रमा के समान नित्य **(उद्यमी)** पुरुषार्थशील है **(वृत्त्या)** वृत्ति से–प्रवृत्ति से **(सिंहः)** सिंह के समान निर्भीक एवं पराक्रमी **(अस्ति)** है, **(अनिलवत्)** वायु की तरह **(विसङ्गः)** परिग्रह रहित है **(योगेन मेरुः)** त्रिकाल योग में अचल/अकंप/सुदृढ़ होने से मेरु है **(क्षमया)** सहनशील–क्षमाशील होने से **(धरा)** सर्वंसहा–धरा **(अस्ति)** है। ऐसा योगी मेरे द्वारा पूजा जाता है।

भावार्थ–परोपकारी होकर भी वृक्ष के समान प्रत्युपकार की इच्छा से रहित है, सूर्यचन्द्रमा के समान उद्यमी है, वृत्ति से सिंह के सामन निर्भय है, वायु के समान निष्परिग्रही है, ध्यान में मेरु के समान निश्चल है, क्षमा में पृथ्वी के समान सहिष्णु है।

सत्यैकजिह्वो ऽप्यहिवद् विवासः, सुसंवृतात्मा भुवि कूर्मवद्वा।
सुदृष्टलक्ष्योऽपि नदप्रवाहो, मयाञ्च्यते संजयतात् स योगी॥९४॥

अन्वयार्थ– (सत्यैकजिह्वः) एक सत्य ही जिसकी जिह्वा में है–ऐसा सत्यवादी है **(अपि)** तो भी **(अहिवत्)** सर्प के समान **(विवासः)** अनियत निवास स्थान है जिसका, न स्वयं का निश्चित स्थान है न स्वयंकृत स्थान है ऐसा अनियत स्थानी है **(वा)** अथवा **(भुवि)** भूमि पर **(कूर्मवत्)** कछुवे के समान **(सुसंवृतात्मा)** संवृतेन्द्रिय है **(सुदृष्टलक्ष्यः)** निश्चित लक्ष्य को साधने पर **(अपि)** भी **(नदप्रवाहः)** नदी के प्रवाह के समान गतिशील है **(सः)** वह विख्यात **(योगी)** मुनिराज **(मया)** मेरे द्वारा **(अञ्च्यते)** पूजा जाता है **(सः संजयतात्)** वह योगी सदा जयवन्त रहे।

भावार्थ–सत्यैकजिह्व है–सत्यवादी है, सर्प के समान निश्चित निवास स्थान से रहित है, पृथ्वी पर कछुवे के समान अपने आपको संवृत करने वाला है और निश्चित लक्ष्य से सहित हो लक्ष्य की प्राप्ति के लिए नदी के प्रवाह के समान गतिशील है, वह साधु मेरे द्वारा पूजा जाता है, वह सदा जयवन्त रहे।

शरणागत के शरण प्रदाता निरीह तरु सम उपकारी।
नियमित उद्यम में रत रहता रवि शशि सम है तमहारी॥
सिंह वृत्ति का धारक भी है संग रहित है हवा समा।
योगों में तो अचल मेरु है धरा बना है धार क्षमा॥९३॥
अहि सम जिसका खुद का घर नहिं सत्य बोलता इक रसना।
जिसके तन मन सर्व-इन्द्रियाँ स्ववश कूर्म सम, परवश ना॥
देख चुका गन्तव्य स्थान को किन्तु नदी सम भाग रहा।
योगी वह जयवन्त रहे नित भजूँ उसे मन जाग रहा॥९४॥

अज्ञाः सुदूरा ननु तेऽपि विज्ञाः, स्वं नापि पश्यन्ति चलोपयोगाः।
स्वच्छेऽपि नीरे न मुखं सुदृष्टं, वातेन लोले बुधभारतीयम्॥९५॥

अन्वयार्थ– **(ननु)** वास्तव में **(अज्ञाः)** अज्ञ जन तो आत्महित से **(सुदूराः)** अतिदूर हैं ही किन्तु **(चलोपयोगाः)** चपलचित्त वाले जो **(विज्ञाः)** द्रव्यश्रुत से आत्म स्वभाव को जानने वाले होकर भी **(स्वं)** आत्म स्वभाव को **(नापि पश्यन्ति)** नहीं देखते–नहीं अनुभव करते **(ते अपि)** वे भी स्वहित से **(सुदूराः)** बहुत दूर है। **(वातेन)** वायु से **(लोले)** चञ्चल **(स्वच्छे अपि)** स्वच्छ होने पर भी **(नीरे)** जल में **(मुखं)** वदन **(न)** नहीं **(सुदृष्टं)** देखा जाता, **(इयं)** यह **(बुधभारती)** ज्ञानियों की वाणी है।

भावार्थ–अज्ञानी जन तो निश्चयतः आत्महित से अतिदूर हैं ही परन्तु चंचल उपयोग वाले जो ज्ञानी भी स्वकीय आत्म तत्त्व को नहीं जानते हैं–नहीं अनुभवते हैं वे भी बहुत दूर हैं क्योंकि वायु से चंचल स्वच्छ जल में भी मुख अच्छी तरह नहीं देखा गया है, ऐसा ज्ञानी जनों का कहना है।

जन्या सुतस्ताडितको रुदन् सन्, सनीरनेत्रः सहसा हसन् सः।
दृष्टोऽनिमेषोऽप्रतिशोधभावो, यथा यथाजातयतिः स्थिरीस्यात्॥९६॥

अन्वयार्थ–(जन्या) माता के द्वारा **(ताडितकः)** ताड़ित–डाँटा गया **(सः सुतः)** वह पुत्र **(रुदन् सन्)** रोता हुआ **(सनीरनेत्रः)** सजल नयन होकर भी **(सहसा)** झटिति–शीघ्र **(हसन्)** हसता हुआ **(दृष्टः)** देखा जाता है। **(यथा)** जैसे ऐसे बालक में **(अनिमेषः)** स्पष्ट है कि **(अप्रतिशोधभावः)** बदला लेने का भाव नहीं देखा जाता है उसी प्रकार **(यथाजातयतिः)** दिगम्बर साधु भी **(स्थिरीस्यात्)** प्रतिशोध भाव से रहित–स्थिर रहता है।

भावार्थ–माता के द्वारा ताडित पुत्र रोता है, आँसू बहाता है पर शीघ्र ही खिल उठता है उसमें स्पष्ट ही बदला न लेने का भाव जैसा देखा गया है वैसा ही निर्ग्रन्थ साधु में भी देखा जाना चाहिए, उसे भी स्थिर रहना चाहिए।

विज्ञों का उपयोग चपल यदि निज को निहार नहिं पाते।
अज्ञों की क्या बात रही फिर पर में विहार कर जाते॥
सलिल स्वच्छ हो सरवर का पर मुख उसमें नहिं दिख सकता।
जहाँ पवन से लहर उठ रहीं वहाँ नेत्र क्या? टिक सकता॥९५॥
जननी सुत को ताडित करती नेत्र सजल हो सुत रोता।
माँ सहलाती, भूल तुरत सब हँसमुख सुत प्रत्युत होता॥
नेत्र रहे प्रतिशोध-भाव बिन अपलक बालक जैसा हो।
महाभाग्य वह यथाजात यति व्रत का पालक वैसा हो॥९६॥

वर्णस्य पात्रं किल विश्वशास्त्रं मलस्य पात्रं तव रूपिगात्रम्।
चिद्वस्तुमात्रं हि सुखस्य पात्रं, सर्वं ह्यपात्रं स्मर चेतसाऽत्र ॥९७॥

अन्वयार्थ– **(विश्वशास्त्रं)** समस्त शास्त्र **(किल)** वास्तव में **(वर्णस्य पात्रं)** वर्णों–अक्षरों के पात्र है **(तव)** तेरा **(रूपि गात्रं)** सुन्दर शरीर **(मलस्य पात्रं)** मल का पात्र है **(हि)** किन्तु निश्चय से **(चिद्वस्तु मात्रं)** चैतन्यमय आत्म द्रव्य **(हि)** ही **(सुखस्य पात्रं)** सुख का पात्र है। इस आत्मा से भिन्न **(सर्वं)** समस्त पदार्थ **(सुखस्य)** सुख के **(अपात्रं)** अपात्र **(हि)** ही हैं। ऐसा हे भव्य! तू **(चेतसा)** मन से **(अत्र)** इस लोक में **(स्मर)** स्मरण कर।

भावार्थ–समस्त शास्त्र वर्ण–अक्षरों के पात्र हैं, तेरा सुन्दर शरीर मल का पात्र है। एक चैतन्य वस्तु ही सुख का पात्र है इसके बिना सभी सुख के अपात्र हैं, ऐसा तू मन से स्मरण कर।

(आर्याछन्दः)

या दृष्टा स्त्री प्रकृतिः, साऽमूर्तो यो नियमतः स पुरुषः।
दृष्टौ स्त्रीपुरुषौ तु, व्यवहारेणात्र समयोक्तौ ॥९८॥

अन्वयार्थ–(या दृष्टा) जो देखी जाती है **(सा स्त्री)** वह स्त्रीरूप **(प्रकृतिः)** प्रकृति है। और **(यो)** जो **(अमूर्त्तः)** दृष्टिगोचर नहीं होता है **(सः)** वह **(नियमतः)** नियम से **(पुरुषः)** पुरुष है ऐसे **(समयोक्तौ)** शास्त्रों में कहे गए **(स्त्रीपुरुषौ)** स्त्री पुरुष **(व्यवहारेण)** व्यवहार से मेरे द्वारा **(दृष्टौ)** देखे जाते हैं। **(अत्र)** यहाँ **[समये]** सांख्यदर्शन में **[यौ प्रकृतिपुरुषौ]** जो प्रकृति और पुरुष **[प्रोक्तौ]** कहे गए हैं, **[तौ]** वे मात्र **[व्यवहारेण]** व्यवहार से कहे गए हैं।

भावार्थ–जो देखी गई है वह स्त्रीरूप प्रकृति है और जो अमूर्त है–दृष्टिगोचर नहीं है वह पुरुष है। शास्त्र में कहे गये जो स्त्री पुरुष हैं वे व्यवहार से ही कहे गये हैं।

शब्दों के तो पात्र रहे हैं जग के सारे शास्त्र महा।
मल का कोई पात्र यहाँ है तेरा जड़मय गात्र रहा॥
सुख का पावन पात्र रहा तो शुचितम चेतन मात्र रहा।
ऐसा मन में चिंतन कर लो अपात्र सब सर्वत्र रहा॥९७॥
जो भी देखी जाती हमसे वही प्रकृति स्त्री कहलाती।
अमूर्त जो है पुरुष रहा वह ऐसी कविता यह गाती॥
मूर्त रूप से देखा जाता स्त्री पुरुषों का अभिनय जो।
केवल यह व्यवहार रहा है भीतर निश्चय अतिशय हो॥९८॥

क्षुद्रोऽस्मि बोधेन बलेन वीर, त्वदाश्रयात् स्याद् विभुता ध्रुवात्र।
स्यादुद्गमे सा नदिका लघिष्ठा, नदीपतिं प्राप्य विमानपात्रा॥९९॥

अन्वयार्थ– **(वीर!)** हे वर्द्धमान! मैं **(बोधेन)** ज्ञान से और **(बलेन)** शक्ति से **(क्षुद्रः अस्मि)** हीन हूँ **(त्वत् आश्रयात्)** आपके आश्रय से **(अत्र)** मुझ में **(ध्रुवा)** निश्चित **(विभुता)** विशालता **(स्यात्)** हो सकती है। **(सा नदिका)** जैसे वह प्रसिद्ध नदी **(उद्गमे)** उद्गम स्थान पर **(लघिष्ठा)** अत्यन्त लघु **(स्यात्)** होती है किन्तु **(नदीपतिं)** सागर को **(प्राप्य)** प्राप्तकर **(विमानपात्रा)** वि– विशिष्ट–विशाल, मान–प्रमाण की पात्र हो जाती है।

भावार्थ–हे वीर! मैं ज्ञान और बल से क्षुद्र हूँ–हीन हूँ, परन्तु आपके आश्रय से मुझमें निश्चित ही विभुता–विशालता हो सकती है। जैसे कि नदी उद्गम स्थान पर अत्यन्त लघु होती है, परन्तु समुद्र को पाकर वह विशाल प्रमाण का पात्र हो जाती है।

नीतेः प्रणेता शिवपन्थनेता, नीत्यै मया यः प्रणतिं सुनीतः।
धनाप्तये निर्धनिभिर्धनी किं, सेव्यो न वा पृच्छति नीतिरेषा॥१००॥

अन्वयार्थ– **(यः)** जो **(नीतेः)** नीति के **(प्रणेता)** रचयिता हैं तथा **(शिवपन्थनेता)** मोक्षमार्ग के नेता हैं आप **[वीरः]** महावीर भगवान् **(मया)** मेरे द्वारा **(अत्र)** यहाँ **(नीत्यै)** सुनीतिशतक की पूर्णता के लिए **(प्रणतिं)** नमस्कार को **(सुनीतः)** प्राप्त किए गये हैं। **(निर्धनिभिः)** निर्धनों के द्वारा **(किं)** क्या **(धनाप्तये)** धन प्राप्ति के लिए **(धनी)** धनवान् **(सेव्यः)** सेवनीय अनुकरणीय **(न)** नहीं होता है? इस प्रकार हे प्रभो! आपको **(एषा नीतिः)** यह नीति **(पृच्छति)** पूछती है।

भावार्थ–जो नीति के रचयिता हैं तथा मोक्षमार्ग के नेता हैं ऐसे महावीर भगवान् को ही मैंने नीतिशतक की पूर्ति के लिए नमस्कार किया है। क्या निर्धन मनुष्यों के द्वारा धन प्राप्ति के लिए धनी पुरुष सेवनीय नहीं है? यह नीति आपसे पूछती है।

बल में बालक हूँ किस लायक बोध कहाँ मुझ में स्वामी।
तव गुणगण की स्तुति करने से पूर्ण बनूँ तुम सा नामी॥
गिरि से गिरती सरिता पहले पतली सी ही चलती है।
किन्तु अन्त में रूप बदलती सागर में जा ढलती है॥९९॥
रहे नीति के वीर प्रणेता शिवपथ के जो नेता हो!
नीति प्राप्त हो तुम्हें भजूँ मैं सकल तत्त्व के वेत्ता हो॥
क्यों न निर्धनी करे धनिक की सेवा धन से प्रीति रही।
रीति नीति हम कभी न भूलें गीत गा रही नीति यही॥१००॥

गुरुस्तुतिः

श्रीज्ञानसागरसुमन्थनजातविद्याम्
पीत्वा सुनीतिशतकं लिखितं मयेदम्।
द्यां मे न मन्दमतिरिच्छति लोकपूजाम्,
विद्यादिसागरतनुर्लघुना यतःस्याम् ॥१०१॥

अन्वयार्थ–(श्रीज्ञानसागर-सुमन्थनजातविद्यां) आचार्य ज्ञानसागर गुरु के ज्ञान समुद्र के मन्थन से, जात–उत्पन्न विद्या को **(पीत्वा)** पीकर–आत्मसात् करके **(मया)** मेरे द्वारा **(इदं)** यह **(सुनीतिशतकं)** सुनीति नामक शतक **(लिखितं)** लिखा गया **(यतः)** जिससे **(मे)** मेरी **(मन्दमतिः)** अल्पबुद्धि **(लोकपूजां)** जनसमुदाय से प्रतिष्ठा और **(द्यां)** स्वर्ग की **(न इच्छति)** कामना नहीं करती अपितु भावना है कि मैं **(विद्यादिसागरतनुः)** विद्यासागर–विद्या का सागर [केवलज्ञानी] **(स्याम्)** हो जाऊँ।

मंगलकामना

विभावानामभावेऽस्मिन्, ध्यानयोगेन भाविता।
साक्षात्शान्तिर्नमस्तस्मै, गताय स्वं चिदात्मने ॥१॥

अन्वयार्थ– (विभावानां) विभावों के **(अभावे)** अभाव होने पर **(ध्यानयोगेन)** ध्यान के योग से **(अस्मिन्)** इस आत्मा में **(भाविता)** प्राप्तव्य–प्राप्त करने योग्य जो **(शान्तिः)** शान्ति है ऐसे **(तस्मै)** उस **(स्वंगताय)** स्वयं को प्राप्त **(चिदात्मने)** चैतन्य आत्मा के लिए मेरा **(साक्षात्)** प्रत्यक्ष **(नमः)** नमस्कार है।

रतो भव निजद्रव्ये, रतिर्दुःखं निजेतरे।
चिरं कार्यं कृतं त्वन्यत्, तस्मात् कुरु परेतरम् ॥२॥

अन्वयार्थ–हे आत्मन्! **(निजद्रव्ये)** निजात्मद्रव्य में **(रतः)** लीन **(भव)** हो, **(निजेतरे)** निजस्वभाव से भिन्न द्रव्य में **(रतिः)** राग **(दुःखं)** दुःखरूप है। **(चिरं)** चिरकाल से **(अन्यत्)** आत्महित से भिन्न **(कार्यंकृतं)** कार्य किया है **(तस्मात्)** इसलिए **(परेतरं)** पर से भिन्न निजकार्य को **(कुरु)** करो।

सुखे दुःखे विधेर्जाते नीतिविदां कथं मनः।
तिरःपुरस्कृतं केन शतधैव तमःकृतम् ॥३॥

अन्वयार्थ–(विधेः) कर्म से **(जाते)** उत्पन्न **(सुखे दुःखे)** सुख–दुःख में **(नीतिविदां)** नीति के जानकार विद्वानों का **(मनः)** मन **(कथं)** कैसे जा सकता है कि **(केन)** किसने **(तिरस्पुरस्कृतं)** तिरस्कार किया है, किसने पुरस्कार किया है और किसने **(शतधा एव)** सौ प्रकार से ही **(तमःकृतं)** अज्ञानमय किया है।

तत्वदादीनि चैतानि, कस्यापि स्युर्न चेतसि।
तिथिमितिगतीमानि, तिष्ठेत् सन्मात्रमेव हि ॥४॥

अन्वयार्थ– (तत् वत् आदीनि) उपर्युक्त उन सदृश विकल्पों को आदि कर **(एतानि)** ये विकल्प **(कस्यापि)** किसी के भी **(चेतसि)** मन में **(न स्यु:)** नहीं हों **(च)** और **(तिथिमितिगति-इमानि)** ये तिथि मिति गति सब विकल्प **(तिष्ठेत्)** दूर रहें। यदि रहें तो **(हि)** निश्चय से **(सन्मात्रम् एव)** वस्तु स्वरूप के रूप में सत् मात्र ही रहें।

रचनाकाल एवं स्थान परिचय

सम्मेदाचलपूजायां, रतेसरीपुरे शुभे।
रस-ख-रूप-गन्धाब्दे, वीरे वीरोदयाह्निके ॥५॥
पूर्णीकृतमिदं श्राव्यं, काव्यं काव्यकाङ्क्तिम्।
पठनीयं समाशोध्य, बुधैर्गुणोपजीविभिः ॥६॥

अन्वयार्थ– (सम्मेदाचलपूजायां) सम्मेदाचल की पूजा में **(रत:)** लीन **(शुभे)** शुभ नाम **(ईसरीपुरे)** ईसरी नगर, गिरिडीह विहार में **(रस)** पाँच **(ख)** शून्य **(रूप)** पाँच **(गंध)** दो **(अब्दे)** वर्ष **(वीरे)** वीर निर्वाण संवत् अंकों के विपरीत क्रम के अनुसार २५०९ को **(इदं)** यह **(श्राव्यं)** श्रवण योग्य **(काव्यं)** काव्य **(काव्याङ्क्तिं)** काव्यरूप से अंकित-प्रमाणित सुनीति शतक **(वीरोदयाह्निके)** वीर के उदय अर्थात् जन्म दिवस पर **(पूर्णीकृतं)** पूर्ण किया गया है। **(गुणोपजीविभिः)** गुणों के आधार से जीवन जीने वाले **(बुधैः)** विद्वानों के द्वारा समाशोध्य सम्यक् प्रकार से शोधन करके **(पठनीयं)** पढ़ने योग्य है।

दिगम्बर जैनाचार्य श्री १०८ ज्ञानसागरजी महाराज के शिष्य संतशिरोमणि आचार्य श्री विद्यासागर महाराज के द्वारा यह सुनीतिशतकम् संस्कृत भाषा में तीर्थराज श्री सम्मेदशिखर के पादप्रान्त में अवस्थित ईसरी नगर (गिरिडीह) बिहार, में रस=९, ख=आकाश=०, रूप= ५, गन्ध=२, यानि ९०५२, अंकानां वामतो गति के अनुसार वीर निर्वाण संवत् २५०९ (विक्रम संवत् २०४०, शक संवत् १९०५) के महावीरजयन्ती दिवस-चैत्र शुक्ल त्रयोदशी, सोमवार, २५ अप्रैल, १९८३ के दिन पूर्ण हुआ।

❑ ❑ ❑

चैतन्यचन्द्रोदयशतकम्

रचयिता
आचार्य विद्यासागर महाराज

चैतन्यचन्द्रोदयशतकम्

प्रस्तुत चैतन्य चन्द्रोदय संस्कृत छन्दोबद्ध शतक है। यह शतक ११४ पद्य प्रमाण उपजाति छन्द में निबद्ध हैं। इसमें आचार्यश्री ने चेतना के जागरण हेतु अपने भाव सुमन अर्पित किये हैं। यह अशुभोपयोग से हटाकर शुभोपयोग और शुद्धोपयोग की यात्रा कराकर मोक्ष पद पर पहुँचाने वाला अनूठा काव्य है। यह विद्वत् वर्ग और श्रमण समुदाय के लिए औषधि है, साथ ही साथ जन्म, जरा और मरण के रोग को मिटाने वाला है। इस काव्य में आचार्यश्री समन्तभद्र और आचार्यश्री पूज्यपाद की स्तुतियों जैसी आगम और आध्यात्म की लहरें हैं, किन्तु वर्णित विषय बिल्कुल भिन्न एवं मौलिक है।

चित्त का भाव चैतन्य कहलाता है, समस्त प्राणियों को आह्लाद करने वाला होने से तथा मनोहर किरणों के समूह का प्रसार होने से वह चैतन्य चन्द्रमा के समान है। उस चैतन्य चन्द्रमा की समस्त ज्ञान कलाओं का प्रकट होना उसका उदय है–

चैतन्यचन्द्रोदयचन्द्रिकायै शस्तां मतिं वास्मि नतिं दधानः।
भव्याम्बुराशौ भविकत्वजातिः पन्थाः प्रशस्तस्तमसोऽस्तु हानिः॥

मंगलाचरण करके स्वरूप लाभ के लिए ग्रन्थकार ने प्रतिज्ञा की है। उसके बाद साकार, अनाकार उपयोग का वर्णन है। ज्ञानगुण से श्रद्धा, सुख आदि गुणों की भिन्नता भिन्नकार्य के माध्यम से दिखाई है। ईश्वर कर्तृत्व का निराकरण, उपादान-निमित्त का सम्यक् प्रयास, इत्यादि विषयों का स्पष्टीकरण है। तीन उपयोगों का कथन गुणस्थान की मुख्यता से अत्यन्त स्पष्ट है। अन्त में सिद्धों की स्तुति ग्रन्थकार की सिद्ध आत्माओं के प्रति श्रद्धा को प्रकाशित करती है।

इसमें भरत चक्री के उदाहरण से प्रथमानुयोग का, उपयोगों का गुणस्थानपरक वर्णन होने से करणानुयोग का, अणुव्रत महाव्रतों के वर्णन से चरणानुयोग का और न्याय का विषय होने से द्रव्यानुयोग का समावेश है। अशुभोपयोग का वर्णन करते समय : ''राष्ट्रीयता के प्रतिकूल चलना'', शुभोपयोग के वर्णन में जिनेन्द्र भगवान की पूजा, स्तुति, वन्दना में प्रायः अपना समय बिताना इत्यादि विषय प्रथमानुयोग का है। 'स्वयंभूरमण में द्वीप में' चर-अचर जगत् कर्ता, इस संसार में भ्रमण मोही होकर हुआ है ''प्रथमगुणस्थान से प्रमत्तगुणस्थान तक करोतिक्रिया है'' इत्यादि करणानुयोग का विषय है। ''कम पाप भार वाला योग्य जन व्रत धारण करता है''। गृहस्थ व्रती सामायिक में प्रविष्ट है, ''व्याघ्र आदि भी निरामिष होते हैं'', ''महाव्रतों से अलंकृत इस साधु में'' इत्यादि रूप से चरणानुयोग का विषय है। ''द्रव्य गुण त्रैकालिक विशुद्ध हैं,'' व्रतपालन से पुण्य का प्रपञ्च है, मुक्त हुआ आत्मा उसी क्षण ऊर्ध्वागति करता है, सिद्धों की स्तुति, न्याय का विषय, इत्यादि रूप से द्रव्यानुयोग का विषय है। फिर भी मुख्य रूप से यह ग्रन्थ द्रव्यानुयोग विषयक है, क्योंकि अध्यात्म और न्याय का विषय इसमें बहुलता से विद्यमान है। अन्त में सिद्धों की स्तुति सिद्धान्त ग्रन्थ में ही देखी जाती है। सभी सारों में एक चैतन्य ही सार है, इस प्रतिज्ञा वचन से चेतन तत्त्व का वर्णन होने के कारण, गुणस्थान में चढ़ने के क्रम से सिद्धों की प्राप्ति के कारण और अशुभ, शुभ, शुद्ध उपयोग का मुख्य रूप से उपदेश होने के कारण यह ग्रन्थ 'प्रवचनसार' की तरह द्रव्यानुयोग का सिद्ध होता है।

इस प्रकार उक्त विषयवस्तु उपजाति छन्दों एवं सरल भाषा में माधुर्य गुण समन्वितरूप से वर्णित है। पूज्य गुरुदेव की प्रस्तुति अनेक रूपों में महत्त्व को धारण करती है।

चैतन्यचन्द्रोदयशतकम्

(उपजाति छन्दः)

चैतन्यचन्द्रोदयचन्द्रिकायै, शस्तां मतिं वास्मि नतिं दधानः।
भव्याम्बुराशौ भविकत्वजातिः, पन्थाः प्रशस्तस्तमसोऽस्तु हानिः ॥१॥

अन्वयार्थ—(चैतन्यचन्द्रोदयचन्द्रिकायै) चैतन्यरूप चन्द्रोदय की चारु चन्द्रिका—चाँदनी के लिए **(शस्तां मतिं)** शुभ मति को **(वा)** और **(नतिं)** नमस्कार को **(दधानः अस्मि)** मैं धारण करता हूँ। जिससे कि **(भव्याम्बुराशौ)** भव्यजीवरूप समुद्र में **(भविकत्वजातिः)** भविकत्व—भव्यत्व की उत्पत्ति हो—मुक्ति के लिए **(पन्थाः)** रत्नत्रयस्वरूप मार्ग **(प्रशस्तः)** सुगम हो और **(तमसः)** अज्ञान व मोह के अन्धकार का **(हानिः अस्तु)** विनाश हो।

सारेषु सारोस्त्विह एक एव, चैतन्यसारोऽथ तकस्य रूपम्।
स्वरूपलाभाय विरूपहान्यै, वदामि भक्त्या समयस्य युक्त्या ॥२॥

अन्वयार्थ—(अथ) अब **(स्वरूपलाभाय)** चैतन्यस्वरूप की प्राप्ति के लिए और **(विरूपहान्यै)** अचेतनस्वरूप कर्म, नोकर्म, भावरूपकर्म विभाव के विनाश के लिए **(इह)** यहाँ लोक में **(सारेषु)** सारभूत गुणों में **(सारः)** सारभूत **(एकः एव)** एक ही **(चैतन्यसारः)** ज्ञानदर्शनगुण वाली चेतना का सार ही चैतन्यसार है। अतः **(तकस्य रूपं)** उस चैतन्य के स्वरूप को **(समयस्य)** आगम की **(युक्त्या)** युक्तियों से **(भक्त्या)** भक्तिपूर्वक **(वदामि)** कहता हूँ।

भविक जनों का सागर उमड़े, मुमुक्षुपन का ज्वार उठे।
पूर्ण प्रकाशित पन्थ तथा हो, तम का झट संसार हटे ॥
चेतन का चन्द्रोदय प्यारा, चारु चाँदनी खिली हुई।
उसे नमन हो विनम्र मति से, श्रद्धा रुचि से धुली हुई॥१॥
बाहर ना है भीतर है सो, सब सारों में सार रहा।
दिखा न सकते झाँक देख लो, चेतन गुण अविकार रहा॥
भाव-भक्ति से शास्त्र युक्ति से, चेतन विषयक बात करूँ।
विरूपता का वारण करके, स्वरूपता को प्राप्त करूँ॥२॥

स्वयं हि सञ्चेतयतेऽयमात्मा, चैतन्यमस्तीति यकस्य भावः।
द्रव्याणि शेषाणि चिदूनकानि, युक्तानि नैकैश्च गुणैरपीह ॥३॥

अन्वयार्थ—(हि) निश्चय से **(यकस्य)** जिसका **(भावः)** लक्षण **(चैतन्यं)** चैतन्य गुण से युक्त **(अस्ति)** है। ऐसा **(अयम्)** यह **(आत्मा)** चेतनात्मा **(स्वयं)** अपने आप में **(सञ्चेतयते)** संवेदन करता है, अनुभव करता है। **(इति)** इस प्रकार **(इह)** इस लोक में **(शेषाणि द्रव्याणि)** जीवद्रव्य के अतिरिक्त अन्य द्रव्य **(नैकैः गुणैः च)** अनेक गुणों से **(युक्तानि चापि)** युक्त हैं फिर भी **(चिदूनकानि)** चैतन्यपरिणाम से रहित हैं।

गुणद्वयेन द्विविधं प्रणीतं, श्रुतौ बुधैर्यत् स्वरुचिं सुनीतम्।
मयाधुना संसृतिमाश्रितेना,-शुद्धं विशुद्धं विधिदेहमुक्तौ ॥४॥

अन्वयार्थ—(यत्) जो चैतन्य **(बुधैः)** गणधर ज्ञानियों ने **(श्रुतौ)** जिनागम में **(गुणद्वयेन)** ज्ञानदर्शनरूप उभयगुण से **(द्विविधं)** दो प्रकार का **(प्रणीतं)** कहा है। वह चैतन्य भाव **(अधुना)** आज **(मया)** मेरे द्वारा **(स्वरुचिं)** स्वयं श्रद्धान को **(सुनीतम्)** प्राप्त कराया है अर्थात् उस चैतन्य का आज मैंने श्रद्धान किया है। वह चैतन्यगुण **(संसृतिं आश्रितेन)** संसार के आश्रित जीवों में **(अशुद्धं)** अशुद्ध रूप में प्राप्त है तथा **(विधिदेहमुक्तौ)** कर्म और शरीर से मुक्त सिद्धों में वह चैतन्य गुण **(विशुद्धं)** शुद्ध रूप में **(सुनीतम्)** प्राप्त है।
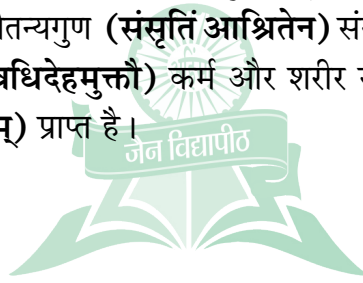
अपना अपने आप जीव यह, करता नित संवेदन है।
तभी जिनागम में आतम का, लक्षण माना चेतन है॥
भले, शेष सब द्रव्यों में भी, नाना विध गुण-दल होता।
किन्तु बिना चेतन के हो सो, जागो चेतन क्यों सोता?॥३॥
द्विविध रहा सो चेतन गुण है, शास्त्रों में ऋषि गाते हैं।
ज्ञान तथा दर्शन नामों से, युगों युगों से भाते हैं॥
संसारी में अशुद्ध होते, विशुद्ध होते मुक्तों में।
जगा सगा श्रद्धान आज है, जिस विध ऋषि बुध-भक्तों में॥४॥

त्रैकालिका द्रव्यगुणा विशुद्धाः, पर्याय एवाशुचिता गतस्तु।
यद्दर्शनज्ञानगुणौ विशुद्धा, वित्थं वदन्तो नयमार्गदूराः ॥५॥

अन्वयार्थ—लोक के समस्त **(द्रव्यगुणाः)** द्रव्य और उनके गुण **(त्रैकालिकाः विशुद्धाः)** तीनों काल में शुद्ध हैं। **(तु)** किन्तु **(पर्याये)** पर्याय में **(एव)** ही **(अशुचिता गता अस्तु)** अशुचिता होती है **(यत्)** क्योंकि **(दर्शनज्ञानगुणौ)** दर्शन और ज्ञान गुण तो **(विशुद्धौ)** ये त्रैकालिक शुद्ध हैं ? **(इत्थं)** इस प्रकार **(वदन्तः)** कहने वाले **(नयमार्गदूराः)** नयाश्रित तत्त्वज्ञान से दूर हैं ऐसा ग्रन्थकार का वचन है।

यतः प्रदेशा न हि सन्ति भिन्ना, येषां त्रयाणामिति वाग्जिनस्य।
जले तरङ्गा इव पर्यया ये, रङ्गास्त्वरङ्गाश्च तथा प्रसङ्गाः ॥६॥

अन्वयार्थ—(यतः) चूँकि **(येषां त्रयाणां)** इन द्रव्य-गुण-पर्यायों के **(प्रदेशाः)** प्रदेश **(हि)** निश्चय से **(भिन्नाः)** भिन्न **(हि)** निश्चय से **(न सन्ति)** नहीं होते हैं। **(इति)** ऐसा **(जिनस्य)** जिनेन्द्र भगवान् का **(वाक्)** वचन है। **(ये पर्ययाः)** जो पर्यायें हैं वे **(जले)** जल में **(तरङ्गाः)** लहरों **(इव)** के समान **(तु)** ही **(रङ्गाः)** प्रकट हो जाती हैं **(च)** और **(अरङ्गाः)** विलीन होती हैं **(यथा)** जैसा **(प्रसङ्गाः)** प्रसङ्ग-निमित्त होता है, **(तथा)** उस प्रकार द्रव्य का परिणमन होता है।

भावार्थ—अंतरंग और बहिरंग कारणों का जैसा द्रव्यों को योग-संयोग निमित्त मिलता है। वैसे ही पर्यायें उत्पन्न होती हैं और विनाश को प्राप्त होती हैं तथा अवस्था की स्थिति होने पर ध्रुवता को प्राप्त होती हैं।

द्रव्य तथा उनके जितने गुण, सुनो शुद्ध ही हो सारे।
ज्ञान तथा दर्शन गुण भी सो, सदा सदा हो उजियारे॥
पर्यायें ही उलट पलटती, कल्मषता से पूर रहीं।
ऐसे कहने वाले निश्चित, तत्त्वज्ञान से दूर कहीं॥५॥
द्रव्य गुणों से पर्यायें कब, कहाँ निरी होकर रहतीं।
आश्रित आश्रयदाता में हो, इस विध जिनवाणी कहती॥
जल में तरंग उठती मिटती, पर्यायों की यही दशा।
रंग बिरंगी तरल तरंगी, यथा प्रसंगी सही दिशा॥६॥

तादात्म्यवृत्तिर्भवतात्तथापि, द्रव्येण पर्यायवता गुणानाम्।
प्रदेशवत्त्वं न हि सम्मतं त, - दाधेय-भावं च वहन्ति यस्मात् ॥७॥

अन्वयार्थ–(पर्यायवता) पर्याय वाले **(द्रव्येण)** द्रव्य के साथ **(गुणानां)** गुणों का **(तादात्म्य-वृत्तिः)** तादात्म्य सम्बन्ध **(भवतात्)** होता रहे **(तथापि)** फिर भी **(गुणानां)** गुणों को **(प्रदेशवत्त्वं)** प्रदेशवानपना **(सम्मतं)** आगम में स्वीकृत **(न हि)** नहीं है। **(यस्मात्)** क्योंकि **(गुणाः)** गुण **(आधेयभावं)** आधेयभाव को **(वहन्ति)** धारण करते हैं। **(तत् च)** और द्रव्य आधार भाव को धारण करते हैं, गुण आधार देने वाले नहीं होते। कहा है–''**द्रव्याश्रया निर्गुणाः गुणाः**'' गुण निर्गुण होते हैं, गुण किसी को आधार नहीं देते तथा गुण स्वयं द्रव्याश्रयाः–द्रव्य को आधार बनाकर रहते हैं इसलिए गुणों का प्रदेशवान् होना युक्त नहीं है।

ज्ञानं गुणि स्याद्यदि सप्रदेशि, प्रदेशमाना गुणिनो भवन्तु।
जीवस्य हानिर्युगपत्क्रियाः स्युः, साङ्कर्यतोऽशेषलयः कथं न ॥८॥

अन्वयार्थ–(यदि ज्ञानं सप्रदेशि स्यात्) यदि ज्ञान गुण प्रदेश वाला हो तो **(ज्ञानं गुणि स्यात्)** ज्ञान स्वयं गुणी–गुण वाला हो जायेगा। और जो **(गुणिनः)** गुणी होंगे वे **(प्रदेशमानाः)** प्रदेश वाले **(भवन्तु)** होंगे। ऐसी स्थिति में **(जीवस्य)** आधारभूत जीवद्रव्य की **(हानिः)** हानि होगी, क्योंकि गुण स्वयं आधारभूत हो जायेंगे, जब सर्व गुण आधारभूत हो जायेंगे जो **(युगपत् क्रियाः स्युः)** उन सर्व गुणों की एक साथ क्रियायें होने लगेगी, ऐसी स्थिति में **(साङ्कर्यतः)** सांकर्य [सबका एकमेक होना] हो जाने से **(अशेषलयः)** सर्व का विनाश **(कथं न)** कैसे नहीं होगा ? [भविष्यति] होगा, अवश्य होगा।

द्रव्य तथा गुण पर्यायों का, तादात्मिक सम्बन्ध रहा।
द्रव्य बराबर वितान उनका, यदपि तदपि का बंध रहा॥
द्रव्य सदा आधार रहा तो, गुण- पर्यय आधेय रहे।
प्रदेश वाले तभी नहीं गुण, आगम कहता ध्येय रहे॥७॥
प्रदेश वाला ज्ञान रहा तो, ज्ञान गुणी हो विलसित हो।
गुणी बने वे गुण जितने हैं, प्रदेश उतने विकसित हों॥
जीव द्रव्य का अभाव निश्चित, एक साथ हो क्रिया सभी॥
एकमेक हो शेष लेश ना, निरवशेष बस जिया सही॥८॥

साकारतो ज्ञानमटेदशुद्धिं, भवेऽप्यनाकारतया विशुद्धम्।
इति प्रतीतिः सुमता न विज्ञैः, कर्मावलिप्ताच्च विलुप्तधर्मात् ॥९॥

अन्वयार्थ– **(ज्ञानं)** ज्ञानगुण **(साकारतः)** साकार होने से **(अशुद्धिं)** अशुद्धि को **(अटेत्)** प्राप्त करे किन्तु **(दर्शनं)** दर्शन गुण **(अनाकारतया)** अनाकार रूप होने से **(विशुद्धं)** विशुद्ध **(एव भवतु)** ही होवे **(इति)** इस प्रकार की **(प्रतीतिः)** अनुभूति **(विज्ञैः)** ज्ञानीजनों से **(सुमता न)** मान्य नहीं है–अंगीकृत नहीं है, क्योंकि संसारी जीव **(कर्मावलिप्तात्)** कर्मों से लिप्त होने के कारण **(च)** और **(विलुप्तधर्मात्)** निज के स्वभावरूप धर्म से रहित होने के कारण, उक्त कथन कि दर्शन शुद्ध रहे, यह संभव नहीं है।

भावार्थ–घातिया कर्म के अभाव के बिना ज्ञान और दर्शन शुद्ध नहीं हो सकते। जब घाति कर्म का क्षय हो जाता है तब अर्हन्त दशा में केवली भगवान् के ज्ञान और दर्शन ये दोनों गुण एक साथ शुद्ध हो जाते हैं।

प्रश्न–केवलज्ञान के साथ दर्शन की आवश्यकता नहीं?

छद्मस्थतायां किल दर्शनस्य, प्रयोजनं यत्क्रमतोऽस्तु पश्चात्।
सर्वज्ञतायामघहानितश्च, विज्ञानमात्रं किल कार्यकारि ॥१०॥

अन्वयार्थ–(छद्मस्थतायां) केवलज्ञान से पूर्व बारहवें गुणस्थान तक की छद्मस्थ अवस्था में **(दर्शनस्य)** दर्शन का **(यत्)** जो **(प्रयोजनं)** चक्षु द्वारा अवलोकन करना या देखना **(च)** और इन्द्रियज्ञान होने से **(क्रमतः अस्तु)** क्रमपूर्वक होना उचित है **(पश्चात्)** बाद में **(सर्वज्ञतायां)** सर्वज्ञ की दशा में **(अघहानितः)** घातिकर्मरूप पाप का क्षय हो जाने से **(विज्ञानमात्रं)** ज्ञान मात्र **(किल)** निश्चय से **(कार्यकारि)** कार्य करने वाला अर्थात् जानने का कार्य करता है? दर्शन नहीं, दर्शन का देखने का प्रयोजन छद्मस्थ दशा में ही कार्यकारी है?

अनाकार है दर्शन फलतः, विशुद्ध रहता है भव में।
ज्ञान रहा साकार इसी से, अशुद्ध आता अनुभव में॥
इस मत को ना सुधी मानते, आगम में ना विहित रहा।
कर्म मलों से लिप्त रहा है, निजी धर्म से रहित रहा॥९॥
रहा प्रयोजन दर्शन का है, इन्द्रिय मन के विषय जहाँ।
क्रमशः साधक आत्मनिरत हो, दर्शन को फिर समय कहाँ ?
पूर्ण ज्ञान का उदय हुआ जब, घाति कर्म का विलय हुआ।
सब कुछ करने सक्षम सो ही, एक ज्ञान ही अभय रहा ? ॥१०॥

उत्तर–दर्शन सामान्य को विषय बनाता है–

यद्वस्तुतो वस्तु समस्तमस्तु, द्वन्द्वात्मकं द्वन्द्वविमुक्त आह।
ज्ञानस्य साधो ! विषयो विशेषः, सामान्यमेतत्किल दर्शनस्य ॥११॥

अन्वयार्थ–(वस्तुतः) यथार्थ में **(यत् समस्तं वस्तु)** जो समस्त वस्तु समूह है **(तत्)** वह समस्त वस्तु समूह **(द्वन्द्वात्मकं)** परस्पर विरुद्ध उभय धर्म वाला सामान्य विशेषात्मक वस्तु **(अस्तु)** है। **(हे साधो!)** हे मुने! **(ज्ञानस्य विषयः)** ज्ञान का विषय **(विशेषः)** विशेष अर्थात् ज्ञान वस्तु के विशेष धर्म को ग्रहण करता है और **(दर्शनस्य)** दर्शन का विषय है **(एतत् सामान्यं)** यह सामान्य है अर्थात् दर्शन वस्तु के सामान्य धर्म को ग्रहण करता है ऐसा **(द्वन्द्वविमुक्तः आह)** द्वन्द्वों से मुक्त अरिहंतदेव कहते हैं। **(किल)** यह निश्चित अर्थ का बोधक है।

भावार्थ–दर्शन सामान्य को ग्रहण करता है इसलिए निराकार व निर्विकल्प है, ज्ञान विशेष को ग्रहण करता अतः साकार और सविकल्प है। अतः केवली भगवान् के ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग दोनों रहते हैं।

तथापि ते पूर्वदशा न मुक्ता, मुक्ता विमोहादनुयान्ति मौनम्।
वार्यं विना वारक एष कोऽस्तु, कर्माणि सप्तेति भवेद्धि दोषः ॥१२॥

अन्वयार्थ– (तथापि) फिर भी **(ते)** वे **(विमोहात्)** मोह और अज्ञान के कारण दर्शन को शुद्ध मानते **(पूर्वदशाः)** पूर्वाग्रह से **(मुक्ताःन)** मुक्त नहीं होते हैं और **(मौनं)** मौन को **(अनुयान्ति)** अनुकरण करते हैं तथा **(मुक्ताः)** स्वयं को दोष मुक्त मानते हैं, तब **(वार्यं विना)** जिस पर आवरण होता है उस दर्शन के बिना **(एष वारकः)** दर्शन पर आवरण करने वाला यह वारक–दर्शनावरणकर्म **(कः अस्तु)** कौन होगा? अर्थात् कोई नहीं होगा। **(इति)** ऐसी स्थिति में **(कर्माणि हि सप्त)** कर्म निश्चित ही सात होंगे तो **(दोषः भवेत्)** यह दोष आयेगा? क्योंकि कर्म तो आठ कहे हैं। अथवा यदि **(ते)** वे छद्मस्थ दशा में **(विमोहात्)** दुराग्रह से **(मुक्ताः)** मुक्त होते हुए **(मौनं)** मौन को **(अनुयान्ति)** धारण करते हैं तो **(ते)** वे **(मुक्ताः)** दोषों से मुक्त हो जाते हैं।

दर्शन विषयक भाव आपका, आगम से ना मान्य रहा।
विषय ज्ञान का विशेष होता, दर्शन का सामान्य रहा॥
किन्तु वस्तु सामान्य मात्र या, विशेष-मय ही नहीं सही।
उभयात्मक ही स्वरूप सबका, समय धनी ने सही कही॥११॥
जिसको ढकना वही नहीं फिर, किसको ढकना ढक्कन से।
कर्म आठ ना सात रहें फिर, अर्थ नहीं जब दर्शन से॥
इस पर भी यदि पूर्वाग्रह को, नहीं आपको तजना है।
भाव-भक्ति से चाव शक्ति से, दोषों को फिर भजना है॥१२॥

ज्ञाने सुखं चेदुपचारमात्रं, ज्ञानात्सुखं भिन्नगुणोऽस्तु यस्मात्।
नो चेत् त्रयः सन्तु गुणाश्चिदाख्या, यन्मार्गणायां किमु तद्गृहीतम् ॥१३॥

अन्वयार्थ–(चेत्) यदि **(ज्ञाने)** ज्ञान में **(सुखं)** सुख है ऐसा मानते हो तो **(उपचारमात्रं)** उपचार मात्र है–काल्पनिक है, वास्तविक नहीं है **(यस्मात्)** क्योंकि **(ज्ञानात्)** ज्ञान से **(सुखं)** सुख गुण **(भिन्नगुणः अस्तु)** पृथक् गुण है। **(नो चेत्)** यदि ऐसा नहीं मानते **(तर्हि)** तो **(चिदाख्याः गुणाः)** चैतन्य कहे जाने वाले गुण **(त्रयः सन्तु)** तीन ही रहेंगे **(यत्)** जो सुख है **(तद्)** वह **(किमु)** क्या **(मार्गणायां)** ज्ञान मार्गणा में **(गृहीतं)** ग्रहण किया है ? नहीं ग्रहण किया है।

ज्ञानं समीचीनवदस्तु यस्मात्, श्रद्धागुणात्किन्तु ततोऽस्तु भिन्नम् ।
तथा सुखं स्याच्च गुणोऽचिदात्मा, तृप्तिर्दशा स्यादमुकस्य नान्या ॥ १४ ॥

अन्वयार्थ–(यस्मात् श्रद्धागुणात्) जिस श्रद्धागुण से **(ज्ञानं)** ज्ञान **(समीचीनवत्)** समीचीन वाला **(अस्तु)** होता है **(ततः)** उस ज्ञानगुण से श्रद्धागुण **(भिन्नं अस्तु)** भिन्न है **(तथा च)** उसी प्रकार **(सुखं)** सुख गुण भी **(अचिदात्मा गुणः स्यात्)** अचेतन गुण है क्योंकि **(तृप्तिः दशा)** तृप्ति की स्थिति **(अमुकस्य)** इसी सुखगुण की होती है। **(न अन्या)** अन्य गुण की तृप्ति नहीं होती है।

सुख का अन्तर्भाव ज्ञान में, होता सो उपचार रहा।
चूँकि अचेतन सुख गुण न्यारा, पूर्ण ज्ञान से सार रहा॥
यूँ ना मानो चेतन गुण तो, तीन बने सो दोष रहा।
ज्ञानमार्गणा में क्या कारण, सुख का क्यों ना घोष रहा?॥१३॥
जिस कारण से समीचीन सो, ज्ञान यहाँ है बन पाता।
श्रद्धा गुण सो सदा निराला, रहा ज्ञान गुण से साता॥
इसी तरह बस सुख भी होता, स्वयं अचेतन सुधा रहा।
रही उसी की तृप्ति दशा सो, अनन्य होती सदा अहा॥१४॥

ज्ञाने सुपूर्णे त्वघहानितोऽस्मिन्, पूज्येऽर्हति ह्याप्ततयाऽनुयुक्ते।
सुखं ह्यबाधं न हि दृश्यते त - दिति प्रमाणात्सुखमस्तु भिन्नम् ॥१५॥

अन्वयार्थ–(अस्मिन्) इन **(अघहानितः)** घातिकर्म रूप पापकर्म का क्षय होने से **(तु)** तो **(ज्ञाने सुपूर्णे)** ज्ञान के पूर्ण हो जाने पर अर्थात् केवलज्ञान हो जाने पर **(हि)** निश्चय से **(आप्ततया अनुयुक्ते)** आप्तपने से पूर्णयुक्त हो जाने पर **(पूज्ये अर्हति)** पूज्य अरहंत भगवान् में **(तत्)** वह **(अबाधं सुखं)** अव्याबाध सुख **(हि)** यथार्थ में–निःसंदेह **(न दृश्यते)** नहीं देखा जाता है **(इति प्रमाणात्)** इस प्रमाण से **(सुखं)** सुखगुण–सुख नाम का गुण ज्ञानगुण से **(भिन्नं)** पृथक् गुण **(अस्तु)** होना चाहिए। अर्थात् ज्ञानगुण पृथक् है और सुख भी पृथक् है– दोनों एक नहीं हैं।

ज्ञप्तिक्रिया ज्ञानगुणस्य सृष्टि,स्तृप्तिक्रिया सास्तु सुखस्य सृष्टिः।
इति प्रमातुः प्रतिभातु दृष्टिः, कर्त्तृक्रिया-कारणधर्मपुष्टिः॥१६॥

अन्वयार्थ– (या) जो **(ज्ञप्तिक्रिया)** जानने की क्रिया है **(सा)** वह **(ज्ञानगुणस्य)** ज्ञानगुण की **(सृष्टिः)** रचना–परिणति है। **(या)** जो **(तृप्तिक्रिया)** तृप्त होने की क्रिया है **(सा)** वह **(सुखस्य)** सुखगुण की **(सृष्टिः)** क्रिया है–अनुभूति **(अस्तु)** है। **(इति)** इस प्रकार **(प्रमातुः)** प्रमाता–ज्ञाता की **(दृष्टिः)** ज्ञानदृष्टि **(प्रतिभातु)** सुशोभित रहे। इस विवेचन से **(कर्त्तृक्रियाकारण-धर्मपुष्टिः)** कर्त्ताविषयक, क्रियाविषयक, कारणविषयक गुणधर्मों की पुष्टि होती है। अर्थात् तत्सम्बन्धी समस्त भ्रान्तियाँ निराकृत हो जाती हैं।

पूर्ण ज्ञान को पाया जिसने, पापों का परिहार किया।
पूज्य बने अरहन्त बने जब, आप्त-पने को धार लिया॥
फिर भी बाधा विरहित सुख का, सेवन जिनने नहीं किया।
इसीलिए तो ज्ञान भिन्न है, भिन्न रहा सुख सही जिया॥१५॥
ज्ञप्ति रूप जो क्रिया उपजती, सुनो ज्ञान की सृष्टि रही।
तृप्ति रूप जो क्रिया उपजती, सुख गुण की वह सृष्टि रही॥
कर्त्ता विषयक, कारण विषयक, और क्रियागत दोषों को।
इस विध ज्ञानी का लोचन हो, मेटे बुधजन रोषों को॥१६॥

ज्ञानं प्रकाशि स्वपरात्मतत्त्वं, यथार्थतो वा व्यवहारदृष्ट्या।
तद्दर्शनं वा न हि सर्वथेति, बुधाः श्रयन्त्वागमसारवाक्यम् ॥१७॥

अन्वयार्थ—(यथार्थतः) निश्चयनय से **(वा)** और **(व्यवहारदृष्ट्या)** व्यवहारनय से क्रमशः यह **(ज्ञानं)** ज्ञानगुण **(स्वपरात्मतत्त्वं)** स्वात्मतत्त्व तथा परात्मतत्त्व का **(प्रकाशि)** प्रकाशक है। **(तत् दर्शनम् वा)** उसी तरह वह दर्शन गुण भी निश्चय-व्यवहारनय से स्वपर तत्त्व का दर्शक है। **(न हि सर्वथा)** एकान्त रूप एक ही पक्ष का ज्ञायक व दर्शक नहीं। सापेक्ष दृष्टि से स्वपर तत्त्व का ज्ञायक ज्ञान और दर्शक दर्शन है। अर्थात् जानने वाला ज्ञान ज्ञायक और देखने वाला दर्शन दर्शक है। **(इति)** इस प्रकार **(बुधाः)** विद्वान् पुरुष **(आगमसारवाक्यं)** आगम के सारभूत वचनों का **(श्रयन्तु)** आश्रय लेवें।

सुखस्य मूलं खलु चेतनैव, सज्ज्ञानहीना किमु साऽस्तु मुक्तिः।
मुक्तेः सुखायाध्रियते चरित्रं, विमुक्तपापैश्च विदांवरैस्तैः ॥१८॥

अन्वयार्थ—(खलु) यथार्थ में **(सुखस्य)** सुख का **(मूलं)** कारण **(चेतना एव)** चेतनात्मा ही है **(च)** और **(सज्ज्ञानहीना)** सम्यग्ज्ञान से रहित **(सा मुक्तिः)** वह प्रसिद्ध मुक्ति **(किमु अस्तु)** क्या होगी? क्योंकि ज्ञान के बिना सुख की अनुभूति नहीं होती। **(मुक्तेः)** मोक्ष **(सुखाय)** सुख के लिए **(तैः)** प्रसिद्ध **(विमुक्तपापैः)** पापों से मुक्त **(विदांवरैः)** ज्ञानी जनों के द्वारा **(चरित्रं)** चारित्र **(आध्रियते)** पूर्णरूप से धारण किया जाता है।

ज्ञान प्रकाशक निश्चय से है, निजी तत्त्व का ज्ञात रहे।
तथा दशा दर्शन की भी है, बिना भ्रान्ति निर्भ्रान्त रहे॥
निज को पर को परखे दोनों, यहाँ यही व्यवहार रहा।
विज्ञ तजे एकान्त पंथ को, अनेकान्त ही सार रहा॥१७॥
चेतन पर आधारित रहता, समुचित मूल्यांकन सुख का।
ज्ञानहीन यदि मुक्ति मिली भी, सेवन किससे हो उसका॥
पंडित जन भी पाँच पाप तज, पंचाचारों को पालें।
मात्र प्रयोजन शिवसुख का हो, कंटक पथ पर जो चालें॥१८॥

सदा स्वतन्त्रः प्रभवन् करोति, कर्त्ता क्रियां तां करणं विना न।
तथा क्रिया स्यात् करणानुशीला, कर्त्तुः सदा सा परिणाम एव ॥१९॥

अन्वयार्थ–(कर्त्ता) करने वाला **(सदा स्वतन्त्रः प्रभवन्)** सदा स्वतंत्र होता हुआ **(तां क्रियां)** प्रस्तुत क्रिया को **(करणं विना)** करण–साधकतम साधन के बिना **(न करोति)** नहीं करता है। **(तथा)** और **(सा क्रिया)** वह क्रिया **(करणानुशीला)** साधन का अनुकरण करने वाली **(स्यात्)** होती है। **(कर्तुः)** कर्त्ता का **(परिणामः एव)** परिणाम ही **(सदा)** सदा क्रियारूप फलता है।

न तद्भवत्सत्करणं च कर्तृ, शक्नोति कर्त्तुं नहि किञ्चनापि।
यतस्ततः स्यात् परतन्त्रनामा, कर्त्ता स्वतन्त्रो निजधर्मकर्मा ॥२०॥

अन्वयार्थ– (तद् भवत् सत्) प्रथम कर्त्ता कारक के कार्य में सहयोग करता हुआ **(करणं)** करण कारक **(न च कर्तृ)** कर्त्ता कारक नहीं हो सकता। कर्त्ता के बिना वह करण **(किञ्चन अपि)** कुछ भी कार्य को **(कर्त्तुं)** करने के लिए **(न हि शक्नोति)** समर्थ नहीं होता। **(यतः)** जिस कारण से ऐसा होता है **(ततः)** उस कारण से करण **(परतन्त्रनामा)** परतन्त्र नाम को धारण करता है तथा **(कर्त्ता)** कर्त्ता कारक **(निजधर्मकर्मा)** स्वयं के धर्म कर्म को करने वाला होकर **(स्वतन्त्रः)** स्वतन्त्र **(स्यात्)** कहलाता है।

स्वतंत्र होकर सदा क्रिया को, करता कर्त्ता रहता है।
किन्तु हमें यह ज्ञात रहे बस, योग करण का रहता है॥
तथा क्रिया करणानुसार ही, नियम रूप से चलती है।
कर्त्ता का परिणाम रहा सो, क्रिया कभी ना फलती है॥१९॥
करण रहा उपकरण रहा हो, कभी न कर्त्ता हो सकता।
कुछ भी करने में वह फलतः, कैसा समर्थ हो सकता॥
निज धर्मों को करने वाला, कभी नहीं परतंत्र बने।
कर्त्ता स्वतंत्र होता चालक, कभी नहीं सो यन्त्र बने॥२०॥

कः कस्य कर्त्ता किल कर्म किञ्च, तथा क्रिया का कति कारणानि।
रूपास्त्वमीषां विदितास्त्वया न, मोही भवन् धिग् भ्रमितो भवेऽस्मिन् ॥२१॥

अन्वयार्थ– **(कः)** कौन **(कस्य)** किसका **(कर्त्ता)** कर्त्ता है। **(किं कर्म)** और क्या कर्म है **(तथा)** तथा **(का क्रिया)** क्या क्रिया है? **(च)** और **(कति कारणानि)** कितने कारण-करण साधन हैं? हे भव्य! **(त्वया)** तुमने **(अमीषां)** इन कारकों के **(रूपाः)** स्वरूप को **(किल)** यथार्थ में **(न विदिताः)** नहीं जाना है इसी कारण तू **(अस्मिन् भवे)** इस संसार में **(मोही भवन्)** मोही-अज्ञानी होता हुआ **(भ्रमितः असि)** भ्रमित हो रहा है **(धिक्)** धिक्कार है।

चराचराणां जगतोऽपि कर्त्ता, हर्त्तापि काले प्रतिपालकोऽपि।
स ईश्वरोऽस्तीति वयं तदंशा, मतिं दधत् दुःखि जगत्सदेदम् ॥२२॥

अन्वयार्थ– जो **(चराचराणां)** चर-चलनशील द्विइन्द्रियादि त्रस जीवों का, अचर-अचलनशील-पृथ्वी आदि स्थावर जीवों का और **(जगतः अति)** जगत् का **(कर्त्ता)** करने वाला है तथा **(प्रतिपालकोऽपि)** जगत का प्रेमपूर्वक पालन करने वाला भी है एवं **(काले)** अन्त समय आने पर उस जगत का **(हर्त्ता अपि)** नाश करने वाला भी है ऐसा **(सः)** वह **(ईश्वरः)** ईश्वर **(अस्ति)** है और **(वयं)** हम सब **(तदंशाः)** उसी ईश्वर के अंश हैं **(इति)** इस प्रकार की **(मतिं)** बुद्धि को **(दधत्)** धारण करता हुआ **(इदं जगत्)** यह संसार **(सदा)** निरन्तर **(दुःखि)** दुःखी है।
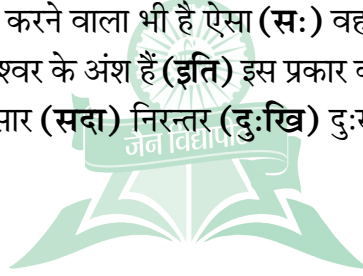
कौन रहा है किसका कर्त्ता क्या, क्या किसका कर्म रहा?।
क्रिया करण भी किसके कितने,किस किस का क्या धर्म रहा॥
स्वरूप इनके अब तक तुम से, विवेक बिन ना विदित हुये।
मोह भाव के वशीभूत हो, प्रभूत भव में भ्रमित हुये॥२१॥
निखिल सृष्टि है रचना जिसकी, चराचरों का कर्त्ता है।
पूर्ण प्रेम से पालनहारा, अन्त अन्त में हर्त्ता है॥
ईश्वर वह है उसी वंश के, अंश रहे हम यूँ कहते।
भ्रमित हुये हैं अज्ञानी जन, और निरंतर दुख सहते॥२२॥

सतोऽसतो वा लयमेति जन्म, परानुयोगान्न च सर्वथेति।
शैत्यं विहाय ज्वलनाज्जलं या, त्यथोष्णभावं स्खलितं जडान्न ॥२३॥

अन्वयार्थ—(सतः) विद्यमान वस्तु की पर्याय **(परानुयोगात्)** पर के निमित्त से **(लयं एति)** विनाश को प्राप्त होती है **(वा)** और **(असतः)** अविद्यमान पदार्थ की पर्याय भी नये रूप में **(जन्म)** उत्पत्ति को प्राप्त होती है। **(इति)** इस प्रकार **(न च सर्वथा)** सत्-विद्यमान पदार्थ का न सर्वथा नाश होता है और न अविद्यमान पदार्थ का सर्वथा उत्पाद ही होता है। अर्थात् द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव का निमित्त पाकर द्रव्य की पूर्व पर्याय विनष्ट होती है और नवीन पर्याय उत्पन्न होती है। **(अथ)** जैसे **(ज्वलनात्)** अग्नि के संपर्क से **(जलं)** पानी **(शैत्यं विहाय)** अपनी शीतलता छोड़कर **(उष्णभावं याति)** उष्णता को प्राप्त हो जाता है **(न जडात् स्खलितं)** किन्तु अपने जल स्वभाव से च्युत नहीं होता है।

निमित्तरूपेण परप्रभावः, स्वतोऽन्यथात्वं भवनं विभावः।
मणेः स्वभावो धवलोऽपि रक्तो, रक्तं च पुष्पं पुरतो यदा स्यात् ॥२४॥

अन्वयार्थ—वस्तु द्रव्य का **(स्वतः)** स्वस्वभाव से **(अन्यथात्वं)** अन्य रूप से **(भवनं)** होना **(विभावः)** विभाव है। यह विभावरूप से द्रव्य के परिणमन में **(निमित्तरूपेण)** निमित्तरूप से **(परप्रभावः)** पर का प्रभाव कारण है। जिस प्रकार **(मणेः स्वभावः धवलः अपि)** स्फटिकमणि का स्वभाव श्वेत होते हुए भी **(यदा)** जिस समय **(रक्तं पुष्पं च)** लाल पुष्प **(पुरतः)** उस मणि के सामने आता है तो **(रक्तः स्यात्)** वह मणि लाल हो जाती है। इसमें लाल होने का कारण लाल कमल का होना है। इसी प्रकार द्रव्य के वैभाविक परिणमन में पर निमित्त कारण होता है, वस्तु के परिणमन में बाह्य निमित्तों का भी अपना प्रभाव होता है।

जो है उसका नाश नहीं जो, ना है उसका जनन नहीं।
जो कुछ परवश घटता दिखता, समझो रूपान्तरण सही॥
अनल योग से शीतल जल भी, जलता जब तक खलता है।
जलपन को पर जलांजली दे, परपन में ना ढलता है॥२३॥
निमित्त का भी अपना न्यारा, प्रभाव देखा जाता है।
तभी अन्यथा रूप वस्तु में, विभाव देखा जाता है॥
स्फटिक भले ही धवल रूप ले, रूप बदलता लाल बने।
खिला नहीं या खुला खिला हो, पुष्प सामने लाल तने॥२४॥

अनादितो योगविमोहयोगा, दात्मस्वभावोऽपि विभावितोऽस्ति।
निमित्तनैमित्तिकभाव एष, प्रवाहधर्मी तरुबीजवत् स्यात् ॥२५॥

अन्वयार्थ–(एष) यह **(निमित्तनैमित्तिकभावः)** निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध कारण-कार्य-कारण सम्बन्ध **(तरुबीजवत्)** वृक्ष और बीज के समान **(प्रवाहधर्मी स्यात्)** प्रवाहधर्म वाला है। तभी तो **(अनादितः)** अनादिकाल से **(योगविमोहयोगात्)** योग और मोह के कारण इस **(आत्मस्वभावः अपि)** चेतन आत्मा का ज्ञानदर्शन स्वभाव भी **(विभावितः अस्ति)** वैभाविक हुआ है।

तत्शोधनार्थं किल कोऽप्युपायः, सुनिश्चितं योऽत्र मया सुनीतः।
गुरोः प्रसादात्श्रुतभक्तितोऽहं, प्रसन् प्रसन्नः शृणु तं वदामि ॥२६॥

अन्वयार्थ–(अत्र) प्रस्तुत ग्रन्थ में **(तत्शोधनार्थं)** अनादिकाल से योग और मोह के निमित्त से, निमित्तनैमित्तिक विभाव को प्राप्त हुई आत्मा की शुद्धि करने के लिए **(यः कः अपि उपायः)** जो कोई भी उपाय **(मया)** मेरे द्वारा **(किल)** स्पष्टतः और **(सुनिश्चितं)** प्रमाण रूप में **(गुरोःप्रसादात्)** गुरु के प्रसाद से और **(श्रुतभक्तितः)** आगम की भक्ति से **(सुनीतः)** अच्छी तरह से प्राप्त किया है। **(तं)** उसको **(प्रसन्नः प्रसन्)** प्रसन्न होता हुआ **(अहं वदामि)** मैं कहता हूँ। हे भव्य! तुम **(शृणु)** सुनो।

योग मोह के वशीभूत हो, सुचिर काल से ये प्राणी।
स्वभाव तजकर विभाव भजता, तन को पहना अज्ञानी॥
कर्मोदय से भाव बने सो, भावों से फिर कर्मफला।
बीज वृक्ष से गिरा धरा पे, वृक्ष बना यूँ परम्परा॥२५॥
कर्म निर्जरा करना है सो, शोधन भावों का करना।
ऐसा मन में निश्चय ठाना, अविरल अविकल पथ चलना॥
गुरु से प्रसाद पायस पाया, जिनवाणी की भक्ति भली।
सुनो सुनाता प्रसन्न होकर, सदुपयोग हो शक्ति मिली॥२६॥

बीजे विदग्धे न तरोः प्रसूति-, र्मोहे वियोगे न विधेः प्रबन्धः।
अकारणं कार्यमहो कुतो यद्भावेऽस्त्वभावे न नयो विशेषः॥ २७॥

अन्वयार्थ—जिस प्रकार **(बीजे विदग्धे)** बीज के जल जाने पर **(तरोः प्रसूतिः)** वृक्ष की उत्पत्ति **(न)** नहीं होती, उसी प्रकार आत्मा से **(मोहे वियोगे)** मोहकर्म के नष्ट हो जाने पर आत्मा के साथ **(विधेः)** कर्म का **(प्रबन्धः)** बन्ध **(न)** नहीं होता है। **(अहो)** अरे भाई! **(अकारणं)** कारण के बिना **(कार्यं)** कार्य **(कुतः)** कैसे हो सकता है ? इसलिए **(भावे)** पदार्थ के विद्यमान रहने पर कारण के बिना विनाश रूप कार्य नहीं हो सकता और **(अभावे)** पदार्थ के नहीं होने पर भी बिना कारण उत्पत्ति रूप कार्य नहीं हो सकता **(यत्)** क्योंकि ऐसा **(नयः विशेषः न)** नय विशेष नहीं है जो बिना कारण के कार्य की सिद्धि कर सके।

भावार्थ—कर्म के अभाव में सिद्ध जीव इस संसार में पुनः जन्म-मरण नहीं कर सकते क्योंकि कर्म रूप कारण का अभाव हो गया है तथा मोहादि कर्मरूप कारण के रहने पर जीवों को मोक्ष नहीं हो सकता है।

पूर्वोदयान्नूतनमोहभाव - स्तस्मात्पुनर्नूतनमोहबन्धः।
न क्वापि चान्तोऽस्य कुतश्च मुक्तिः, सदेश्वरश्चैव सुखीति नो धीः॥ २८॥

अन्वयार्थ—**(पूर्वोदयात्)** पूर्व कर्म के उदय से **(नूतनमोहभावः)** नवीन रूप से मोह परिणाम होते हैं तथा **(तस्मात्)** इस मोहभाव से **(पुनः)** फिर से **(नूतनमोहबन्धः)** नवीन मोहकर्म का बन्ध होता है। इस तरह यदि होता रहे तो **(अस्य)** इस कर्मबंध की परम्परा का **(क्वापि)** कभी कहीं भी **(अन्तः न च)** अन्त ही नहीं हो सकता, तब **(कुतः)** कैसे कर्मबंध से **(मुक्तिः)** छुटकारा मिलेगा? फिर तो **(सदेश्वरः चैव)** सांख्य मतानुसारी जो सदा से ही ईश्वर है ऐसा ईश्वर ही **(सुखी)** सुखी हो? अन्य कोई संसार से मुक्त नहीं हो सकता **(इति)** ऐसी **(धीः)** बुद्धि **(नो)** नहीं होना चाहिए।

भावार्थ—कर्म के अभाव होने पर भव्य जीवों को मुक्ति होती है। मोक्ष जाने का प्रवाह अनादि-अनन्त है। हाँ, जिस प्रकार बीज को जलाने के साधन से बीज जलता है उसी प्रकार तपस्या की अग्नि में कर्म इन्धन के जल जाने पर आत्मा शुद्ध हो मुक्त होती है-ऐसे अनन्तों आत्माएँ अभी सिद्ध लोक में हैं आगे भी मुक्त होती रहेंगी। कोई एक ही सदाशिव नामक ईश्वर नहीं है।

कभी अंकुरित जला बीज हो, तरु बनना तो दूर रहा।
मोह भाव के अभाव होते, कर्मबन्ध सो चूर रहा॥
कहीं कभी भी बिन कारण ही, कार्य हुआ यदि मिलता है।
तो कार्यों के विनाश में भी, वही न्याय फिर चलता है॥२७॥
बद्ध मोह का उदय हुआ सो, नव्य मोह के भाव जगे।
फिर उससे नव मोह कर्म का, बंध हुआ फिर भाव जगे॥
कहीं न इसका अन्त रहा सो, मुक्ति मिलेगी फिर कैसी ?।
मात्र सदाशिव सुखी मिलेगा, कभी न धारो मति ऐसी॥२८॥

निस्सङ्गसङ्गाच्च गुरूपदेशा-,ज्जैन्याःश्रुतेश्च श्रवणात्सुरीत्या।
आर्याः समाहुः सुजनेऽत्र भूमौ, दृग्मोहहानिः सुदृशश्च जातिः ॥२९॥

अन्वयार्थ–(अत्र भूमौ) इस आर्यखण्ड-भरतक्षेत्र की कर्मभूमि में **(निःसङ्गसङ्गात्)** दिगम्बर गुरुओं की संगति से **(च)** और **(गुरूपदेशात्)** निर्ग्रन्थ गुरुओं के उपदेश से **(च)** तथा **(जैन्याः श्रुतेः)** जिनेन्द्र कथित श्रुत के **(सुरीत्या)** अच्छी तरह **(श्रवणात्)** श्रवण करने से **(सुजने)** निकट भव्यजीव में **(दृग्मोहहानिः)** दर्शनमोह की हानि **(च)** और **(सुदृशः)** सम्यग्दर्शन की **(जातिः)** उत्पत्ति होती है। ऐसा **(आर्याः)** आचार्यदेव **(समाहुः)** भली प्रकार कहते हैं।

जिनस्य बिम्बं तु निरायुधं तन्, नासाग्रदृष्टिं विदधद्विवस्त्रम्।
यद्दर्शनाद्वा क्षयमेति कर्म, निधत्तिनामादिनिकाचिताख्यम् ॥३०॥

अन्वयार्थ–(वा) अथवा **(यत्)** जो **(विवस्त्रं)** वस्त्रादि समस्त परिग्रह से रहित दिगम्बर हैं **(निरायुधं)** आयुध-अस्त्रशस्त्रों रहित हैं और जो **(नासाग्रदृष्टिं विदधत्)** नासाग्र दृष्टि को धारण किये हैं ऐसे **(तत्)** उस **(जिनस्य बिम्बं)** जिनेन्द्र भगवान के बिम्ब के **(दर्शनात्)** दर्शन करने से **(निधत्तिनामादिनिकाचिताख्यम् कर्म)** निधत्ति और निकाचित नाम वाले भारी कर्म **(क्षयं एति)** क्षय को प्राप्त होते हैं। ऐसे जिनबिम्ब के दर्शन से भी वह सम्यग्दर्शन होता है।

निस्संगों की संगति करना, सदुपदेश पाना गुरु से।
भावभक्ति से जिनवाणी सुन, धारण करना सो उर से॥
जिससे मिथ्यादर्शन भगता, समदर्शन सो जगता है।
संत बताते भविकजनों में, ज्ञानोदय जगमगता है॥२९॥
आभरणों से आवरणों से, रहित रहे सुर वन्दित हैं।
अस्त्रों से भी शस्त्रों से भी, वस्त्रों से भी वंचित हैं॥
विरागता के निलय रहे उन, जिनबिम्बों के दर्शन से।
निधत्ति काचित कर्मों के भी, विलय रहे मन हर्षण से॥३०॥

जिनेषु येऽष्टादशदोषमुक्ता, धर्मे तथाऽस्मिन् दययाञ्चिते या।
श्रद्धा मुनौ स्याच्च दिगम्बरेऽपि, सम्यक्त्वमेतत्समये समुक्तम्॥३१॥

अन्वयार्थ— (ये अष्टादशदोषमुक्ताः) जो अठारह दोषों से रहित हैं, ऐसे **(जिनेषु)** जिनवरों में **(च)** और **(अस्मिन् दयया अञ्चिते धर्मे)** दया से युक्त इस जिनधर्म में तथा **(दिगम्बरे मुनौ अपि)** दिगम्बर-दिशायें ही जिनके अम्बर-वस्त्र होते हैं वे दिगम्बर हैं ऐसे वस्त्रादि रहित मुनियों में **(या श्रद्धा स्यात्)** जो श्रद्धान है ऐसा **(एतत् अपि)** यह भी **(सम्यक्त्वं)** सम्यग्दर्शन **(समये समुक्तं)** आगम में सम्यक् प्रकार से कहा है।

विघ्नन्ति विघ्नानि समाप्तवन्त, आप्तान् समाप्तीकृतखान् भजन्तः।
द्रव्येण पर्यायगुणत्वतोऽपि, भव्या भवन्तीति विवान्तमोहाः ॥३२॥

अन्वयार्थ—जिन्होंने **(समाप्तीकृतखान्)** इन्द्रिय व्यापारों को समाप्त कर दिया है तथा जिन्होंने वीतरागता सर्वज्ञता और हितोपदेशिता को प्राप्त कर लिया है ऐसे **(आप्तान्)** अरिहंतों को जो **(द्रव्येण)** परमात्म द्रव्य से **(पर्यायगुणत्वतोऽपि)** दिव्य अतिशयों से युक्त पर्याय से तथा अनंत चतुष्टयरूप गुणों से **(समाप्तवन्तः)** स्वीकार करते हुए **(भजन्तः)** उनका ध्यान पूजन करते हुए **(विघ्नानि)** मोक्षमार्ग की बाधाओं को **(विघ्नन्ति)** नष्ट करते हैं। ऐसे ही **(भव्याः)** सभी भव्य जीव **(विवान्तमोहाः)** मोह को नष्ट करने वाले **(भवन्ति)** होते हैं।
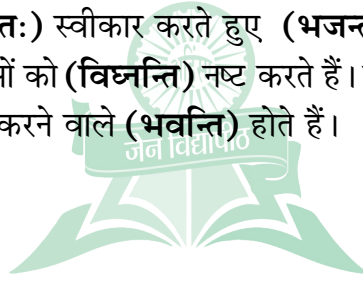
क्षुधा तृषादिक दोष अठारह, जहाँ नहीं जिनदेव रहे।
बने दिगम्बर संग रहित हैं, वीतराग गुरुदेव रहे॥
जहाँ दया है वहीं धर्म है, संतों का यूँ कहना है।
इन तीनों पर श्रद्धा रखना, समदर्शन को गहना है॥३१॥
आप्तपने को प्राप्त किया है, घाति कर्म पर घात किया।
समाप्त इन्द्रिय व्यापारों को, कर केवलपन साथ लिया॥
द्रव्य गुणों की पर्यायों से, जिन को पूजो नमन करो।
इसमें शंका तिल भर भी ना, मोह भाव का वमन करो॥३२॥

दृग्वृत्तिभेदाद् द्विविधोऽस्तु मोहो, यः सर्वघातित्वविषालुशूलः।
सन्मार्गनाशीह तमोऽप्रशस्त,मपाददृष्टीकुरुतेऽपि भव्यान् ॥३३॥

अन्वयार्थ—(यः) जो **(मोहः)** मोहकर्म है वह **(दृग्वृत्तिभेदाद्)** दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय के भेद से **(द्विविधः अस्तु)** दो प्रकार का है। **(इह)** उनमें प्रथम दर्शनमोह **(अप्रशस्तं तमः)** अप्रशस्त-अशुभ-अहितकारी अन्धकार के समान **(सन्मार्गनाशि)** मोक्षमार्ग का ही नाश करने वाला है और दूसरा चारित्रमोह **(सर्वघातित्व-विषालुशूलः)** सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र को घात करने वाली सर्वघातिस्पर्द्धक-शक्तियों से विषाक्त शूल-काँटे के समान होकर **(भव्यान् अपि)** भव्य जीवों को भी **(अपाददृष्टीकुरुते)** सम्यग्दर्शन के विषय में अंधा और सम्यक्चारित्र के क्षेत्र में पंगु करने वाला है।

भावार्थ—जो अभव्य जीव हैं वे तो स्वभाव से मिथ्यादृष्टि होने से मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन के क्षेत्र में अंधे के समान हैं उन्हें मोक्षमार्ग दिख ही नहीं सकता जब सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता तब चारित्र को भी कभी ग्रहण न कर सकने के कारण वे चारित्र के क्षेत्र में पंगु के समान हैं ही परन्तु भव्यजीव दोनों प्रकार का मोहक्षयकर मोक्षमार्ग पर चलकर मोक्ष पा सकते हैं। तथा जो अभी तक सम्यग्दर्शन और इसके साथ होने वाले ज्ञान और चारित्र से वंचित है उसमें मोह ही कारण है जिससे भव्य जीव भी अंधे और लगड़े के समान हो रहे हैं।

शरीरिणोऽसौ चिरकालतोऽपि, व्यग्रीकृतो येन निजोपयोगः।
निरङ्कुशश्चास्थिरचित्तवाही, भूत्वा प्रमत्तो गहने करीव ॥३४॥

अन्वयार्थ—(येन) जिस मोह ने **(शरीरिणः)** संसारी जीव का **(निजोपयोगः)** ज्ञानदर्शनवाला उपयोग **(चिरकालतः)** अनादिकाल से **(व्यग्रीकृतः)** अपने वश में कर लिया है-अपने प्रभाव से उसे प्रभावित कर लिया है, जिस कारण से **(असौ)** यह जीव **(गहने)** गहन वन में **(करी इव)** हाथी के समान **(प्रमत्तः)** उन्मत्त **(चापि)** और **(निरङ्कुशः)** अंकुश रहित **(भूत्वा)** होकर **(अस्थिरचित्तवाही)** अस्थिर चित्त को धारण कर रहा है।

दृष्टि-मोह औ चरित मोह यूँ, मोह मूल में द्विविध रहा।
सार्थक नामों को ये धारे, क्रम से कहते विबुध यहाँ॥
एक रहा है घना तिमिर सो, अन्धा करता घातक है।
और दूसरा विषाक्त काँटा, लँगड़ा करता पातक है॥३३॥
इसी - मोह ने सुचिरकाल से, चेतन को तन पहनाया।
व्यग्र उग्र उपयोग बनाकर, समग्रता को बहकाया॥
कौन लगाये अंकुश इस पर, चंचलतर है चितवाला।
दिग्भ्रम होकर वन में जैसा, हाथी भ्रमता मतवाला॥३४॥

योगोऽपि मोक्षस्य भवेद्विरोधी, नादौ तु मार्गस्य तथाऽपि चान्ते।
स्नानं तु कृत्वाऽपि जलेन पश्चाज्, जलं तनुस्थं ह्यपसारणीयम्॥३५॥

अन्वयार्थ—(योगोऽपि) मन-वचन-काय की प्रवृत्ति रूप योग भी **(मोक्षस्य विरोधी भवेत्)** मोक्ष का विरोधी होता है। अर्थात् जब तक योग है तब तक मुक्ति नहीं होती क्योंकि अयोगी जिन को मोक्ष होता है। जो मुक्ति प्राप्ति में योग सम्बन्धी रुकावट है वह यद्यपि **(मार्गस्य आदौ न)** मोक्षमार्ग के प्रारम्भ में नहीं है **(तथापि)** तो भी **(अन्ते)** अन्त में-मोक्षमार्ग की पूर्णता के अवसर पर विरोधी है। ठीक है **(जलेन)** जल से **(स्नानं तु कृत्वा)** स्नान करके **(पश्चात्)** बाद में **(अपि)** भी **(तु)** तो **(तनुस्थं जलं)** शरीर पर स्थित जल कण **(हि)** अवश्य ही **(अपसारणीयम्)** दूर करने योग्य होता है।

आद्यश्च मोहः शिवमार्गशत्रुः, शेषक्षतेस्तु क्रमतो विकासः।
तस्येति केचिच्च विचारवन्तो, गुणे चतुर्थे किल सूत्रपातः॥ ३६॥

अन्वयार्थ—(आद्यः मोहः शिवमार्गशत्रुः) पहला दर्शनमोहनीय कर्म मोक्षमार्ग का शत्रु है। **(च)** और **(शेषक्षतेः)** चारित्रमोहनीय कर्म का क्षय होने से **(तु)** तो **(क्रमतः)** क्रम से **(विकासः)** विकास होता है। क्योंकि **(तस्य)** उस मोक्षमार्ग का **(सूत्रपातः)** प्रारम्भ तो **(किल)** निश्चय से **(गुणे चतुर्थे)** चतुर्थ गुणस्थान में हो जाता है **(इति)** इस प्रकार मानने वाले आज **(केचित् च विचारवन्तः)** कितने ही विचारक लोग हैं। किन्तु यह बात आगमोक्त नहीं। क्योंकि मुक्तिमार्ग तो सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र की एकता का नाम है। चतुर्थ गुणस्थान में शेष तीन कषायों का उपशम क्षयोपशम व क्षय नहीं होने से वहाँ चारित्र नहीं है। चारित्र के बिना मोक्षमार्ग भी नहीं है। फिर मोक्षमार्ग का सूत्रपात-प्रारंभ कैसे कहा जा सकता है अर्थात् नहीं कहा जा सकता है।

मोह सहित या मोह रहित हो, कर्मों का है द्वार रहा।
तभी योग भी रहा मोक्ष का, सदा विरोधी खार रहा॥
थके - मुँदे जन स्नान कराते, और मिटाते ताप अहो।
फिर क्या वस्त्रादिक से तन को, नहीं सुखाते आप कहो॥३५॥
मोक्षमार्ग का परम शत्रु है, दृष्टि मोह तो यही रहा।
चरितमोह का क्रमिक नाश हो, विकास पथ का सही रहा॥
चतुर्थ-गुण में सूत्रपात यूँ, शिवपथ का कुछ बुध कहते।
स्वीकारो उपचार मात्र वह, 'सूत्र' और कुछ ही कहते॥ ३६॥

सद्दर्शनज्ञानचरित्रचिह्नो, महाव्रतत्वेन समं समार्यः।
आद्यत्रयं तच्च कषायवस्तु, जिनस्य वाग्मिश्रदशामुपैति॥३७॥

अन्वयार्थ—अन्तरंग में **(सद्दर्शनज्ञानचरित्रचिह्नः)** सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र के चिह्न से चिह्नित-लक्षित तथा बाह्य में **(महाव्रतत्वेन समं)** पाँच महाव्रतों के आचरण के साथ वह मोक्षमार्ग **(समार्यः)** प्राप्त होता है। **(आद्यत्रयं)** प्रथम वाली अनन्तानुबन्धीकषाय, अप्रत्याख्यानावरण-कषाय और प्रत्याख्यानावरणकषाय का अनुदय **(च)** और **(तत्)** वह **(कषायवस्तु)** संज्वलनकषाय का उदय ऐसी **(मिश्रदशां उपैति)** मिश्र अवस्था को प्राप्त होता है। यह **(जिनस्य)** यह जिनभगवान् का **(वाक्)** वचन है।

कलेवरेऽस्मिन् किल कर्मणीह, चात्मप्रदेशेषु तरामुदेति।
नोकर्मकर्मग्रहणक्रियायाः, सा योगशक्तिर्भणिता स्वकीया ॥३८॥

अन्वयार्थ—(आत्मप्रदेशेषु) आत्मप्रदेशों में परिस्पन्दन का कारण **(योगशक्तिः)** मन-वचन-काय से युक्त योगों की शक्ति है **(या)** जो **(स्वकीया भणिता)** स्वयं आत्मा की अपनी शक्ति कही है। **(सा)** वह शक्ति **(इह)** यहाँ **(अस्मिन् कलेवरे)** संसारी जीवों में शरीरनाम कर्म के उदय होने पर **(नोकर्मकर्मग्रहणक्रियायाः)** तीन शरीर और छह पर्याप्तियों के योग्य नोकर्म वर्गणाओं को और अष्टकर्म के योग्य कर्मवर्गणाओं को ग्रहण करने की क्रिया से **(किल)** निश्चित ही **(उदेति तराम्)** प्रकट होती है।
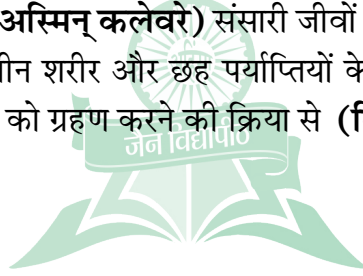
अंतरंग में रत्नत्रय सो, झिलमिल झिलमिल करता हो।
तथा बाह्य में महाव्रतों का, धारण पालन चलता हो॥
आदिम तीनों कषाय अनुदित, कषाय अंतिम उदित रहे॥
मोक्षमार्ग यह मिश्रभाव ले, सुधीजनों को विदित रहे॥३७॥
आत्म प्रदेशों में चंचलता, अर्पित योगाश्रय से हो।
कर्मों नो - कर्मों का आस्रव, शरीरनामोदय से हो॥
यही योग है त्रिधा रहा है, तन से मन से वचनों से।
नहीं पराश्रित निजी शक्ति है, कही गई यों संतों से॥३८॥

मोहद्वयेन त्रिविधो विभागो, यश्चेतसोऽत्रासुमतां सुमान्यः।
आक्षीणमोहाद्विधिरेष भाति, प्रभात ऊर्ध्वं किल चाव्ययी स्यात्॥ ३९॥

अन्वयार्थ—**(अत्र)** यहाँ लोक में **(असुमतां)** प्राणियों के **(चेतसः)** उपयोग का **(विभागः)** विभाजन **(मोहद्वयेन)** दर्शनमोह और चारित्रमोह की अपेक्षा से दो प्रकार का है और **(त्रिविधाः)** अशुभोपयोग, शुभोपयोग, शुद्धोपयोग के रूप में तीन प्रकार का **(सुमान्यः)** मान्य है **(एष विधिः)** यह उपयोग के प्रकारों की विधि **(आक्षीणमोहात्)** क्षीणमोह-बारहवें गुणस्थान पर्यन्त **(प्रभातः)** प्रभात की तरह **(भाति)** सुशोभित होती है। **(च)** तथा **(ऊर्ध्वं)** उससे ऊपर मोह के प्रभाव से रहित उपयोग की दशा शुद्ध चेतना के साथ **(किल)** निश्चित ही **(अव्ययी स्यात्)** अविनश्वर होती है।

मिथ्यात्वभूमावशुभोपयोगो, भोगैकदृष्टिः कलुषातिरेकः।
दानादिसत्कार्यविलुप्तवृत्तिः, कृतघ्नतापूर्णमनः प्रवृत्तिः ॥४०॥

अन्वयार्थ-**(मिथ्यात्वभूमौ)** मिथ्यात्व की दशा में **(अशुभोपयोगः)** अशुभोपयोग के कुछ लक्षण हैं, जिसमें **(कलुषातिरेकः)** क्रोधादिक कषायों का उत्कर्ष हो **(भोगैकदृष्टिः)** पंचेन्द्रियों के विषयों को भोगने की मात्र दृष्टि हो **(दानादि-सत्कार्य-विलुप्तवृत्तिः)** दान, पूजा, सत्संग, धर्मश्रवण आदि की प्रवृत्तियों से रहित-श्रेष्ठ कार्यों से दूर रहने वाला हो **(कृतघ्नता-पूर्णमनः प्रवृत्तिः)** अपने ऊपर किये गये उपकारों को नहीं मानने की मानसिकता वाला हो ऐसा अशुभोपयोग होता है।
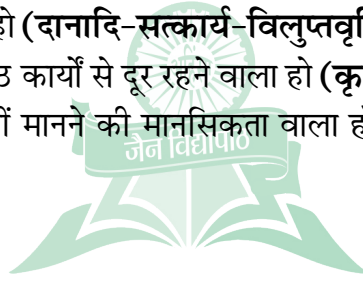
दोनों मोहों का वह जब तक, मिलता रहता योग रहा।
शुभाशुभादिक त्रिविध रूप ले, खिलता है उपयोग रहा॥
क्षीण मोह तक दशा अधूरी, मानी जाती है न्यारी।
उससे ऊपर अचिन्त्य महिमा चेतन की पूरी प्यारी॥३९॥
मिथ्या आवासों में बसता, विलासता का दास बना।
भोग मात्र बस जिसे दीखते, कषाय कलुषित श्वास घना॥
दानादिक सत्कर्मों से तो, सौ - सौ कोसों दूर रहा।
यही रहा अशुभोपयोग है, कृतघ्नता से पूर रहा॥४०॥

राष्ट्रीयतायाःप्रतिलोमिताऽपि, सदातिसन्धानसुलग्नता सा।
हिताहितज्ञानविरक्तता वा, चैते विकारा अशुभोपयोगः ॥४१॥

अन्वयार्थ—(राष्ट्रीयतायाः प्रतिलोमिता) राष्ट्रहित की नीतियों से प्रतिकूल-विपरीत प्रवृत्ति करना **(सदा)** हमेशा **(अतिसन्धानसुलग्नता)** दूसरों के दोषों की खोजबीन में लगे रहना **(वा)** और **(सा)** वह जो **(हिताहितज्ञान-विरक्तता)** हितकारी और अहितकारी ज्ञान की विवेक हीनता है **(अपि च)** और भी जो आगम कथित विषय कषायों में उपयोग रखना, दुःश्रुतिरत होना, दुष्टचित्त होना, दुष्ट संगति करना, हिंसादिकार्यों में उद्यमी होना, वीतरागमार्ग के प्रतिकूल आचरण में तत्पर रहना आदि **(एते विकाराः)** ये सभी विकारी भाव **(अशुभोपयोगः)** अशुभोपयोग के लक्षण हैं।

दुग्धाद् घृतं चापि तिलाच्च तैलं, तथा न दृष्टस्तनुतोऽयमात्मा।
इत्यात्मबुद्धिं कुरुते शरीरे, मूढः शरीरी ह्यशुभोपयोगी ॥४२॥

अन्वयार्थ—जिस प्रकार **(दुग्धात् घृतं)** दूध से घी **(च)** और **(तिलात् तैलं)** तिल से तैल **(अपि)** भी पृथक् **(न दृष्टः)** दिखाई नहीं देता **(तथा च)** उसी प्रकार **(अयं मूढः)** यह अज्ञानी जीव **(तनुतः)** शरीर से पृथक् **(आत्मा)** आत्मा को नहीं देखता है **(इति)** इस प्रकार की **(शरीरे)** शरीर में **(आत्मबुद्धिं)** आत्मबुद्धि को **(कुरुते)** करता है। **(स हि)** वही **(शरीरी)** संसारी जीव **(अशुभोपयोगी)** अशुभपयोग से युक्त होता है।

राष्ट्र विरोधी गतिविधियों में, भोजन जिनके पचते हैं।
पर दोषों की गवेषणा में, पल-पल जिन के फलते हैं॥
अहित निहित है किस में हित है, निजी बोध से विरत रहे।
दुर्गुण ये अशुभोपयोग हैं, संत कहें गुण निरत रहे॥४१॥
जिस विध तिल से तेल निकलता, दुग्धमथन से घृत मिलता।
उस विध तप से चेतन तन से, निरा हुआ हो ना मिलता॥
मूढ़ गूढ़ता यूँ न सूँघता, तन चेतन को एक गिने।
परिणत हो अशुभोपयोग से, विषयों में अतिरेक सने॥४२॥

यदा कदाचिद् व्रजति व्रतानि, दयादिधर्मे मतिमादधानः।
परप्रयोगात्परमार्थतत्त्वे, याति प्रतीतिं स्वसुखाप्तयेऽस्यै ॥४३॥

अन्वयार्थ–और वह अशुभोपयोगी **(परप्रयोगात्)** पर के दबाव के कारण **(यदा कदाचित्)** जब कभी **(दयादिधर्मे)** दया दानादि धर्म में **(मतिं आदधानः)** बुद्धि को धारण करता हुआ **(व्रतानि व्रजति)** अहिंसादि व्रतों को प्राप्त होता है तथा **(अस्यै स्वसुखाप्तये)** इस संसार सम्बन्धी निज स्वार्थ व सुख की प्राप्ति के लिए **(परमार्थतत्त्वे)** सच्चे देव-शास्त्र-गुरु में **(प्रतीतिं याति)** श्रद्धान को प्राप्त करता है।

जैनीं च दीक्षां धृतवान् पुरा स, ग्रैवेयकान्तं गतवान् तथापि।
मुक्तिं न चात्मा लभमान ईत्या, भीत्या कुरीत्या भ्रमितो दुरात्मा ॥४४॥

अन्वयार्थ–(स च) उसी अशुभोपयोगी **(दुरात्मा)** बहिरात्मा जीव ने **(पुरा)** पहले **(जैनीं दीक्षां)** दिगम्बरी दीक्षा को **(धृतवान्)** धारण किया **(ग्रैवेयकान्तं गतवान्)** अन्तिम नवम ग्रैवेयक पर्यंत गया **(तथापि)** तो भी **(मुक्तिं न लभमानः)** मुक्ति को नहीं प्राप्त करता हुआ **(आत्मा)** यह जीव **(ईत्या)** संसार की छह प्रकार की ईतियों सहित रोगों से युक्त **(भीत्या)** सप्त भयों से युक्त **(च कुरीत्या)** कल्याणमार्ग से विपरीत मान्यताओं के साथ इस संसार में **(भ्रमितः)** परिभ्रमित हुआ है–परिभ्रमण कर रहा है।

कभी-कभी तो व्रत नियमों का, धारण साधन करता है।
परवश होकर दया धर्म का, पालन पोषण करता है॥
देखा देखी परम तत्त्व की, प्रतीति करता प्रीति कभी।
अपने सुख को पाने यूँ तो, बहुत पुरानी रीति रही॥४३॥
विगत काल में कई बार तो, वेष दिगम्बर धारा था।
अंतिम ग्रैवेयक तक जाकर, पतित हुआ था हारा था॥
मुक्ति मिली ना मिली भुक्ति मिट, रोग शोक ही साथ रहे।
दुर्मति होकर दुर्गतियों में, मलते - मलते हाथ रहे॥४४॥

मिथ्यात्वनाम्नोऽत्र विधेर्न योगः स्थाने द्वितीयेऽस्तु शुभोपयोगः।
न सर्वथा तेन तथा भवेत्त,दाद्यात्कषायादिति चार्षवाणी ॥४५॥

अन्वयार्थ—(द्वितीये स्थाने) इस दूसरे गुणस्थान में तो **(शुभोपयोगः अस्तु)** शुभोपयोग होना चाहिए क्योंकि **(अत्र)** इस दूसरे गुणस्थान में **(मिथ्यात्वनाम्नः)** मिथ्यात्व नाम का दर्शनमोहनीय **(विधेः)** कर्म का **(योगः न)** सद्भाव नहीं है। **(तथा न च सर्वथा)** वह शुभोपयोग दूसरे गुणस्थान में किसी भी प्रकार से नहीं **(भवेत्)** हो सकता है क्योंकि यहाँ सम्यक्त्व की घातक **(आद्यात् कषायात्)** प्रथम कषाय अनंतानुबंधी का सद्भाव होने से अशुभोपयोग ही होता है। किन्तु **(तेन)** मिथ्यात्व के समान यहाँ द्वितीय गुणस्थान में अशुभोपयोग **(न)** नहीं है क्योंकि मिथ्यात्व से ऊपर तीसरे गुणस्थान तक वह अशुभोपयोग घटते क्रम से होता है प्रथम गुणस्थान जैसा नहीं होता **(इति च आर्षवाणी)** इस प्रकार की ऋषियों की वाणी है।

ज्ञानोपयोगस्य दशा सदा स्या, - द्यथा द्वितीये न तथा तृतीये।
यत्सर्वघातित्वजुषोदयोऽपि, मिश्रस्य मिश्रे प्रथमस्य हानौ ॥४६॥

अन्वयार्थ—(ज्ञानोपयोगस्य दशा) ज्ञानोपयोग की दशा **(सदा)** हमेशा **(यथा)** जैसी **(द्वितीये)** दूसरे गुणस्थान में **(स्यात्)** होती है **(तथा)** वैसी दशा **(न तृतीये)** तृतीय गुणस्थान में नहीं है। **(प्रथमस्य हानौ)** अनन्तानुबन्धी कषाय की हानि होने पर **(यत् सर्वघातित्वजुषोदयोऽपि)** जो सर्वघाति प्रकृति का उदय होने पर भी **(मिश्रे)** मिश्रगुणस्थान में **(मिश्रस्य)** मिश्र ज्ञान की दशा रहती है।

दृष्टि मोह वह पूर्ण रूप से, सासादन में उदित नहीं।
फलतः शुभ उपयोग वहाँ पर, सुनो मानना उचित नहीं॥
प्रथम थान सम अशुभ नहीं पर, कषाय आदिम उदित हुआ।
बोध अशुभ ही बना रहा सो, जिन आगम से विदित हुआ॥४५॥
सर्वघाति का उदय भले हो, ज्ञान मिश्र में मिश्र रहा।
सासादन में मिथ्या होता, जिससे वह तो उग्र रहा॥
आदिम कषाय उदित नहीं, सो यहाँ अशुभता घनी नहीं।
दोनों में तरतमता मानी, फिर भी शुभता बनी नहीं॥४६॥

दुःखे निमग्नान्विधिपाशबद्धान्, विलोक्य जीवान् करुणाद्रितोऽत्र।
तद्दुःखशान्त्यै च कृतोद्यमोऽपि, निसर्गतोऽयं तु शुभोपयोगी ॥४७॥

अन्वयार्थ–(अयं शुभोपयोगी) यह शुभोपयोगी–अव्रती व अणुव्रती व महाव्रती अवस्था में रहते हुए **(अत्र)** इस संसार में अपनी भूमिकानुसार योग्य क्षेत्र में स्थित **(दुःखे निमग्नान्)** दुःखों में डूबे हुए **(चापि)** और भी **(विधिपाशबद्धान्)** पापकर्म की सांकलों से बंधे हुए **(जीवान्)** जीवों को **(विलोक्य)** देखकर **(करुणाद्रितः)** करुणाभाव से आर्द्र–भीगकर **(तद्दुःखशान्त्यै)** उनके दुःखों को दूर करने के लिए **(निसर्गतः)** स्वभाव से ही **(कृतोद्यमः अपि)** उद्यमशील रहता है।

दृशा सुवृत्त्या च धियाऽपि वृद्धान्, सन्मार्गकीर्तिप्रसरे प्रवृत्तान्।
विलोक्य मोदं द्रुतमृच्छतीह, कञ्जं रविं चेव शुभोपयोगी ॥४८॥

अन्वयार्थ–(शुभोपयोगी) शुभोपयोगी भव्य जीव **(दृशा)** सम्यग्दर्शन से **(धिया)** सम्यग्ज्ञान से **(च)** और **(सुवृत्त्या)** सम्यक्चारित्र से **(वृद्धान्)** वृद्धि को प्राप्त गुणीजनों को–गुणाधिकजनों को **(अपि च)** और भी **(सन्मार्गकीर्तिप्रसरे प्रवृत्तान्)** मोक्षमार्ग की कीर्ति के विस्तार में प्रवृत्त अव्रती और व्रती जनों को **(विलोक्य)** देखकर **(इव)** उस प्रकार **(द्रुतं)** शीघ्र ही **(मोदं)** हर्ष–प्रमोदभाव को **(ऋच्छति)** प्राप्त होता है। जिस प्रकार **(इह)** इस लोक में **(कञ्जं रविं च इव)** सूर्य को देखकर कमल समूह प्रसन्नता को प्राप्त होता है।

कर्म पाश से कसे हुये हैं, दुःसह दुःखों में डूबे।
ग्रसित हुये हैं कई अभावों, से जीवन से भी ऊबे॥
उन जीवों को लख करुणा से, द्रवीभूत हो उठते हैं।
यथा शक्य पर दुःख मिटाने, शुभोपयोगी उठते हैं॥४७॥
ज्ञान वृद्ध हैं, तपो वृद्ध हैं, दर्शन में भी वृद्ध रहे।
सत्पथ महिमा फैलाने में, तथा सतत कटिबद्ध रहे॥
शुभोपयोगी उन्हें देखकर, मुदित भाव को प्रकट करे।
सरोवरों में यथा कमलदल, दिनकर को लख उमड़ पड़े॥४८॥

जिनोदितं तत्त्वमथाऽस्तु सूक्ष्म, मस्तित्वमस्यापि दृशा गृहीतम्।
जिनेन्द्रभक्त्या सह जीवितेन, निसर्गतोऽयं तु शुभोपयोगी ॥४९॥

अन्वयार्थ—जिसने **(जिनोदितं)** जिनेन्द्र भगवान् कथित **(सूक्ष्मं)** सूक्ष्म **(तत्त्वं)** तत्त्व को तथा **(अस्य)** इसके **(अस्तित्वं अपि)** अस्तित्व को भी **(दृशा)** सम्यग्दर्शन के साथ **(गृहीतं)** ग्रहण किया है तथा **(जिनेन्द्रभक्त्या सह)** जिनेन्द्र भक्ति के साथ **(जीवितेन)** जीवन जीने वाला **(अयं)** यह भव्यात्मा **(निसर्गत:)** स्वभाव से **(तु)** ही **(शुभोपयोगी)** शुभोपयोगी है।

गन्धोऽपि यस्मिन्नहि संयमस्य, स संयमासंयमतोऽपि दूर:।
असंयमस्थोऽस्तु गुणे चतुर्थे, शुभोपयोगी रत ईशभक्तौ ॥५०॥

अन्वयार्थ—(यस्मिन्) जिसमें **(संयमस्य)** सकलसंयम की **(गन्ध: नहि)** गन्ध–अंश नहीं है। **(संयमासंयमत: अपि दूर:)** संयमासंयम–देशसंयम से भी अतिदूर है। परन्तु **(ईशभक्तौ)** जिनेन्द्रभगवान् की भक्ति में **(रत:)** अनुरक्त है ऐसा **(स:)** वह भव्यजीव **(चतुर्थे गुणे)** चतुर्थ गुणस्थान में **(असंयमस्थ:)** असंयमदशा में स्थित अविरतसम्यग्दृष्टि **(अपि)** भी **(शुभोपयोगी)** शुभोपयोगी **(अस्तु)** है।

वीतराग बनकर जिनवर ने, सूक्ष्म तत्त्व का कथन किया।
उसको अपनी आस्था का बस, विषय बनाया नमन किया॥
जिसका जीवन जिनवर के गुण, गाने में ही बीत रहा।
शुभोपयोगी निसर्ग से वह, ज्ञानोदय का गीत रहा॥४९॥
सकलचरण या विकलचरण हो, जहाँ चरण की गंध नहीं।
इन्द्रिय प्राणी संयम का भी, जिससे वह सम्बन्ध नहीं॥
शुद्ध असंयम चतुर्थ गुण में, हो इस विध गुरु हैं कहते।
शुभोपयोगी ईश भक्ति में, सदा वहाँ बस हैं रहते॥५०॥

अनात्मभावेषु मदेषु चाऽपि, भोगोपभोगेषु सदा परो न।
दृग्हानिभीतो व्यवहारधर्मः, परम्परातः शिवसौख्यहेतुः ॥५१॥

अन्वयार्थ—वह शुभोपयोग **(दृग्हानिभीतः)** सम्यग्दर्शन की हानि न हो जाये इसलिए भयभीत रहता है तथा सम्यक्त्व की रक्षा में वह **(अनात्मभावेषु)** आतम का अहित करने वाले विषय-कषायों में व **(मदेषु)** ज्ञान, पूजा आदि सम्बन्धी अष्ट प्रकार के मदों में **(चापि)** और **(भोगोपभोगेषु)** पंचेन्द्रिय के विषयभूत भोग-उपभोग की सामग्री में **(सदा)** निरन्तर **(परो न)** तत्पर-संलग्न नहीं होता है। उसका यह **(व्यवहारधर्मः)** व्यवहार धर्म **(परम्परातः)** परम्परा से **(शिवसौख्यहेतुः)** मोक्षसुख का कारण होता है।

तथाप्यनासक्तिमतोप्यमुष्य, संक्षोभिकाः शेषकषायवेगात्।
प्रवृत्तयस्ता इव चक्रिणाऽत्र, विक्षेपितं भ्रातरि चक्रमादौ॥५२॥

अन्वयार्थ—(तथापि) फिर भी **(अनासक्तिमतः)** विषयों में अनासक्त **(अमुष्य)** इस शुभोपयोगी पुरुष के **(अपि)** भी **(शेषकषायवेगात्)** अनन्तानुबन्धीकषाय के बिना शेष तीन कषायों के आवेश से **(ताः संक्षोभिकाः)** प्रसिद्ध क्षोभ को उत्पन्न करने वाली **(चक्रिणा इव प्रवृत्तयः)** चक्रवर्ती के समान प्रवृत्तियाँ होती हैं। **(अत्र)** इसी भरतक्षेत्र में **(आदौ)** युग की आदि में **(चक्रिणा)** प्रथम चक्रवर्ती भरत भ्रात के द्वारा **(भ्रातरि)** अपने लघुभ्राता कामदेव पदधारी बाहुबली के ऊपर[चक्रवती की अधीनता नहीं स्वीकार करने पर] **(चक्रं)** सुदर्शन चक्ररत्न को **(विक्षेपितं)** चलाया गया था।

वसुविध मद मदिरा पी पर को,-अपमानित भी ना करता।
भोगों में उपभोगों में भी, रचना पचना ना करता॥
दृष्टि नाश से भीत रहा हो, धर्म वही व्यवहार रहा।
परम्परा से अक्षय सुख के, हेतुपना सो धार रहा॥५१॥
इस पर भी वह शुभोपयोगी, शेष कषायों के वश हो।
ऐसा कुछ तो करता जिस पर, पंडितजन भी नाखुश हो॥
आदिनाथ के आदिम अंगज, आदिम चक्री भरत रहा।
कामदेव पर निजी अनुज पर, चक्र चलाया गलत रहा॥५२॥

सामान्यतः स्यात्त्रिविधः प्रणीतो, ह्ययं जघन्यः शृणु मध्यमं त्वम्।
स संयमासंयमके सुदृष्टस्ततोऽमितो वै विधिनिर्जराकः ॥५३॥

अन्वयार्थ–**(सामान्यतः)** सामान्य दृष्टि से **(सः)** वह शुभोपयोग **(त्रिविधः)** तीन प्रकार का **(प्रणीतः)** कहा है। **(अयं तु)** यह शुभोपयोग जो चक्रवर्ती के दृष्टान्त द्वारा व्यक्त किया है। **(हि)** वस्तुतः वह **(जघन्यः स्यात्)** जघन्यश्रेणी का शुभोपयोग है। **(ततः)** इसके बाद वाला **(मध्यमं)** मध्यम शुभोपयोग को हे भव्य! **(त्वम्)** तुम **(शृणु)** सुनो! जो कि **(संयमासंयमके)** संयमासंयम चारित्र के धारक देशव्रती श्रावक में **(सुदृष्टः)** देखा जाता है। **(वै)** निःसंदेह यह पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावक **(अमितः)** प्रतिसमय असंख्यात गुणश्रेणी रूप से **(विधिनिर्जराकः)** कर्मों की निर्जरा करने वाला होता है।

मिथ्या च माया च निदाननामा, शल्यत्रयाणीति विहाय सम्यक्।
गृहस्थसम्बन्धि गृही गृहीतुं, व्रतं सुयोग्यो लघुपापभारः ॥५४॥

अन्वयार्थ–**(गृही)** व्रती बनने का इच्छुक भव्य गृहस्थ **(मिथ्या)** मिथ्या **(माया च)** माया **(निदानामा च)** और निदान नामक **(शल्यत्रयाणि)** तीनों शल्यों को **(सम्यक् विहाय)** अच्छी तरह छोड़कर **(लघुपापभारः)** स्थूल पाप का त्याग करते हुए अल्प पाप का भार लिए **(गृहस्थसम्बन्धि व्रतं)** गृहस्थ सम्बन्धी श्रावक के अष्टमूलगुणों के साथ पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत रूप व्रतों को **(गृहीतुं)** ग्रहण करने के लिए **(सुयोग्यः)** सुयोग्य होता है।

इस विध शुभ उपयोग त्रिविध है, जघन्य का यूँ रूप रहा।
मध्यम क्या है सुनो सुनाता, अनेक विध सो स्तूप रहा॥
पंचम गुण में तरतमतायें, हमें दिखाती हैं मिलती।
चतुर्थ गुण से अनगिन गुण की, कर्म निर्जरा है चलती॥५३॥
शूल लगा पद चल ना सकता, शल्य रहित ही व्रती बने।
व्रती नहीं व्रत लेने भर से, ऐसे जग में व्रती घने॥
मिथ्यात्वादिक तीन शल्य तज, अणु गुण शिक्षा व्रत धारे।
पाप भार कम करके श्रावक, बुधजन आदृत हो प्यारे॥५४॥

पुण्यप्रपञ्चो व्रतपालनेन, न नूतना सा विधिनिर्जरेति।
नैवं प्रवेशोऽस्तु गुणान्तरेऽस्मिन्, कथं विना स्याद्वद कर्महानेः॥५५॥

अन्वयार्थ—कोई कहता है कि **(व्रतपालनेन)** व्रतों के पालन से मात्र **(पुण्यप्रपञ्चः)** पुण्यकर्म की वृद्धि व मात्र पुण्य बन्ध होता है। **(सा)** वह **(नूतना)** नवीन **(विधिनिर्जरा)** कर्म की निर्जरा **(न)** नहीं होती **(इति)** इस प्रकार कहने वाले के लिए उत्तर देते हैं कि **(नैवं स्यात्)** ऐसा नहीं है। उसी से पूछते हए आचार्य कहते हैं कि **(वद)** बताओ फिर **(कर्महानेः विना)** कर्म की हानि अर्थात् निर्जरा के बिना **(अस्मिन् गुणान्तरे)** इस पंचम गुणस्थान में **(प्रवेशः)** प्रवेश **(कथं अस्तु)** कैसे हो सकता है? अर्थात् व्रती बनने वाले श्रावक के व्रतों से पापकर्म का संवर होता है और पूर्वबद्ध कर्म की निर्जरा होती है तथा पुण्य का बन्ध भी होता है। ऐसा आगम सिद्धान्त है। तत्त्वार्थसूत्र में निर्जरा के स्थानों में श्रावक को भी ग्रहण किया है।

पुण्यस्य हेतुः स शुभोपयोगः, शुद्धोपयोगोप्यघसंवरस्य।
स्तो द्वे च कार्ये किल कारणेऽपि, स्यातां न चेयं भुवि युक्तिरिष्टा॥ ५६॥

अन्वयार्थ—अन्य कोई कहता है कि **(स शुभोपयोगः)** वह शुभोपयोग **(पुण्यस्य हेतुः)** पुण्यबंध का कारण है **(च)** तथा **(शुद्धोपयोगः)** शुद्धोपयोग **(अघसंवरस्य)** पाप के संवर का कारण है। **(किल)** क्योंकि **(कार्ये द्वे स्तः)** कार्य दो हैं तो **(कारणेऽपि स्यातां)** कारण भी दो होना चाहिए, किन्तु आचार्यदेव कहते हैं कि **(इयं युक्तिः)** आपकी यह युक्ति **(भुवि)** यहाँ–आगम में **(न च इष्टा)** मान्य नहीं है।

नव कर्मों की नहीं निर्जरा, संवर का कब पात्र रहा।
व्रत का पालन और नहीं कुछ, पुण्य बढ़ाना मात्र रहा॥
समीचीन हो नहीं आपकी, सोच समझ जो इस विध है।
व्रत लेते गुण परिवर्तन क्यों, बिन संवर यह किस विध है॥५५॥
पुण्य बंध का कारण होता, वह तो शुभ उपयोग रहा।
पाप कर्म का संवर जिससे, यही शुद्ध उपयोग रहा॥
चूँकि कार्य दो जहाँ हो रहे, कारण दो अनिवार्य रहे।
इस विध कुतर्क कभी न करते, न्याय विशारद आर्य रहे॥५६॥

एकस्य कर्त्तुश्च समं समन्ता, दनेककार्याणि फलन्ति तानि।
प्रकाशपाकज्वलनं यथाऽग्नेः, सुयुक्तिरुक्तिर्ह्यकलङ्कनीया ॥५७॥

अन्वयार्थ—(एकस्य कर्त्तुः च) एक कर्त्ता के **(समं)** एक साथ **(समन्तात्)** सभी प्रकार से **(तानि)** वे प्रसिद्ध **(अनेक कार्याणि)** अनेक कार्य **(फलन्ति)** फलते हैं। **(यथा)** जिस प्रकार **(अग्नेः)** अग्नि के **(प्रकाशपाकज्वलनं)** प्रकाश देना, पकाना और जलाने रूप अनेक कार्य देखे जाते हैं। **(हि)** वास्तव में **(अकलङ्कनीया)** पूज्यवर आचार्य अकलंकदेव की **(उक्तिः)**उक्ति **(सुयुक्तिः)** सुयुक्ति–श्रेष्ठ युक्ति है। अर्थात् एक कारण से एक ही कार्य हाता है ऐसी धारणा प्रत्यक्ष और आगम से विरुद्ध है।

एकोऽपि कोपीति समं समस्तु, किंचोपयोगः किल चात्मनीह।
अक्षेषु योगेषु यथैक एव, प्रवर्तमानः समये समाह ॥५८॥

अन्वयार्थ—(इह आत्मनि) इस संसारी आत्मा में **(किंच)** क्या **(समं)** एक साथ कितने **(उपयोगः)** उपयोग **(समस्तु)** हो सकते हैं **(इति)** ऐसा पूछने पर उत्तर देते हैं– **(एकः अपि कोऽपि)** कोई एक ही उपयोग हो सकता है। **(यथा)** जिस प्रकार **(अक्षेषु)** इन्द्रियों में **(च)** और **(योगेषु)** योगों में **(एकः एव प्रवर्तमानः)** एक ही इन्द्रिय या एक ही योग प्रवर्तमान होता है। ऐसा **(किल)** यथार्थ **(समये)** आगम में **(समाह)** भली प्रकार कहा है।

भावार्थ—एक समय में एक ही इन्द्रिय काम करती है व अशुभोपयोग, शुभोपयोग और शुद्धोपयोग मनोयोग, वचनयोग और काययोग में एक समय में एक ही उपयोग तथा योग होता है।

एक साथ भी अनेक देखो! देखे जाते कार्य यहाँ।
अनेक कारण बिना एक ही, कर्त्ता करता कार्य अहा!॥
अन्न पकाती काष्ठ जलाती, वस्तु प्रकाशित आग करे।
यही युक्ति अकलंकदेव की, पक्षपात तज जाग अरे॥५७॥
प्रासंगिक उपयोगों में बस, एक काल में एक मिले।
शुभ हो या हो अशुभ, शुद्ध हो, अनुभव में तो एक ढले॥
योगों में हो एक योग ज्यों, आगम में गुरु बतलाते।
कुछ भी कर लो एक साथ क्या देख, सूंघ, सुन, चख पाते॥५८॥

व्रती गृही सामयिके प्रविष्टः, शुद्धोपयोगामृतपानतुष्टः।
नैवं तृतीयाख्यकषायमन्दे, तद्भावनायां च शुभोपयोगः॥५९॥

अन्वयार्थ—कोई कहता है कि **(गृही)** गृहस्थ **(व्रती)** व्रती जब **(सामयिके प्रविष्टः)** सामयिक में प्रविष्ट-लीन होता है तब वह **(शुद्धोपयोगामृतपानतुष्टः)** शुद्धोपयोग रूप अमृतपान से संतुष्ट होता है? इस पर आचार्य कहते हैं कि **(नैवं च)** ऐसा नहीं है क्योंकि **(तृतीयाख्यकषायमन्दे)** तृतीय प्रत्याख्यानावरणकषाय के मन्द होने पर **(तद्भावानायां)** उस शुद्धोपयोग की भावना में **(शुभोपयोगः)** शुभोपयोग होता है, शुद्धोपयोग नहीं।

संरक्षयन्स्वं दुरितानुयोगाज्जिनेन्द्रपूजास्तुतिवन्दनायाम्।
प्रायः स्वकालं गमयन्व्रतत्वे, व्रती यतीनामनुगत्वमेति ॥६०॥

अन्वयार्थ—(व्रती) वह व्रती श्रावक **(दुरितानुयोगात्)** पाप के सम्बन्ध से **(स्वं)** अपनी आत्मा की **(संरक्षयन्)** रक्षा करता हुआ **(जिनेन्द्रपूजास्तुतिवन्दनायां)** जिनेन्द्र देव की पूजा, स्तुति, वन्दना में **(व्रतत्वे)** व्रतों को शुद्ध करने की भावना में **(प्रायः)** अधिकांश **(स्वकालं)** अपना समय **(गमयन्)** व्यतीत करता हुआ **(यतीनां)** यतियों-मुनियों की **(अनुगत्वं)** अनुगमनता-अनुकरणता को **(एति)** प्राप्त करता है। अर्थात् वह व्रती श्रावक स्वयं को पापों से बचाता हुआ मुनिव्रत धारण की भावना करता है।
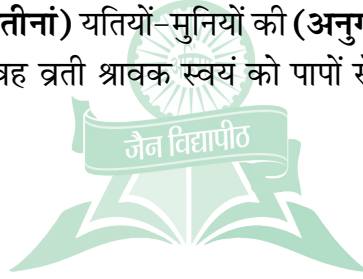
अनुदिन श्रावक संध्याओं में, सामायिक में रमता है।
शुचि उपयोगामृत पीता यूँ, कहना अनुचित भ्रमता है॥
चूँकि तीसरा कषायमन्दा, पड़ता शुभ उपयोग रहा।
शुद्ध भावना में रत होना, शुद्ध न शुभ उपयोग रहा॥५९॥
जिसका जीवन व्यतीत होता, व्रत नियमों के रक्षण में।
उपासना में गुरुवंदन में, प्रतिदिन प्रभु पद अर्चन में॥
बादर पापों अपवादों से, तथा बचाता अपने को।
व्रती बना पर महाव्रती के, सदा देखता सपने को॥६०॥

द्वीपे स्वयम्भूरमणे तथैवं, चतुष्पदास्ते व्रतिनोऽप्यसंख्याः।
सदा द्वितीयाख्यकषायहानौ, निसर्गतो वापि शुभोपयोगः ॥६१॥

अन्वयार्थ–(तथैवं) उसी प्रकार **(स्वयम्भूरमणे द्वीपे)** अंतिम स्वयम्भूरमण द्वीप में **(वापि)** और स्वयंभूरमण नाम के अंतिम समुद्र में भी **(असंख्याः)** असंख्यात **(ते चतुष्पदाः)** वे जलचर, नभचर, भूचर संज्ञी पंचेन्द्रिय भव्य सम्यग्दृष्टि **(च)** और **(व्रतिनः)** व्रती **(अपि)** भी होते हैं। उनके **(द्वितीयाख्य-कषायहानौ)** अप्रत्याख्यानावरण नामक कषाय का अभाव होने पर **(निसर्गतः)** स्वभाव से **(सदा)** निरन्तर **(शुभोपयोगः)** शुभोपयोग होता है।

व्याघ्रादयोऽपीति निरामिषास्ते, संवेगवन्तश्च निशाचरा न।
संज्ञाततत्त्वा भुवि भाग्यवन्त, आदर्शरूपा इह पश्य रूपम् ॥६२॥

अन्वयार्थ–(ते व्याघ्रादयः अपि) वे व्याघ्र आदिक मांसाहारी और हिंसक होने पर भी **(निरामिषाः)** मांस को त्याग चुके हैं **(न च निशाचराः)** और रात्रि में भोजन भी नहीं करते **(संवेगवन्तः)** पापों से डरते हुए धर्म और धर्म के फल में प्रीति रखते हुए **(संज्ञाततत्त्वाः)** तत्त्वों को जानने वाले **(आदर्शरूपाः)** दर्पण के समान आदर्शस्वरूप **(भुवि)** पृथ्वी पर **(भाग्यवन्तः)** भाग्यशाली हैं। हे भव्य! **(इह)** इनमें-इनके आचरण में **(इति)** इस प्रकार तुम अपने **(रूपम्)** स्वरूप को **(पश्य)** देखो!

भावार्थ–ये जीव पशु होकर भी कल्याण के पथ पर चल रहे। उनके जीवन को देखकर पापों का त्याग कर महाव्रती व अणुव्रती बनकर जीवन सार्थक करो।

द्वीप स्वयम्भूरमण जलधि में, अनगिन व्रत पालक मिलते।
नभचर जलचर भूचर भी पशु, बिना वैर मिल-जुल चलते॥
चूँकि दूसरे कषाय अनुदित, होने का जो योग रहा।
बिना किसी उपदेश उदित सो, उनमें शुभ उपयोग रहा॥६१॥
तत्त्व ज्ञान का प्रभाव देखो, रहे निशाचर दंसक हो।
सिंह व्याघ्र भी क्रूर कर्म तज, बने निरामिष हिंसक हो॥
वेगों आवेगों को तज कर, संवेगों को धारे हैं।
रूप निहारो आप आपके, आदर्शों को पाले हैं॥६२॥

सालङ्कृतेऽस्मिन्नु महाव्रतेन, यस्यां तृतीयाख्यकषायशान्तौ।
शुभोपयोगस्य ततो विकासः, काष्ठां स्पृशेद्यः क्रमतोऽत्र साधौ ॥ ६३॥

अन्वयार्थ–(अत्र) यहाँ मनुष्यलोक में **(यस्यां)** जिस प्रसिद्ध **(तृतीयाख्यकषायशान्तौ)** तीसरी प्रत्याख्यानावरण कषाय के शमन होने पर **(नु)** यथार्थ में **(महाव्रतेन)** अहिंसादि महाव्रतों से **(सालङ्कृते)** सुशोभित **(अस्मिन् साधौ)** इस प्रसिद्ध भावलिंगी–छठवें सातवें गुणस्थान में प्रवर्तमान साधु–मुनि में **(यः)** जो **(शुभोपयोगस्य)** शुभोपयोग का **(विकासः)** विकास **(ततः)** पूर्व के गुणस्थानों से बढ़ता हुआ विकास को प्राप्त कर **(क्रमतः)** क्रम से **(काष्ठां)** पराकाष्ठा–उत्कृष्टता को **(स्पृशेत्)** स्पर्श करता है। अर्थात् चतुर्थ गुणस्थान से बढ़ता हुआ वह शुभोपयोग महाव्रती साधु में पूर्णता को प्राप्त होता है।

यदा चतुर्थाख्यकषायवेगः प्रमत्तभूमौ पतनं ध्रुवं स्यात्।
आस्तामभावोऽपि बहिः प्रवृत्तेर्नो सप्तमेऽत्र श्रमणस्य वासः॥६४॥

अन्वयार्थ–(यदा) जब–जब **(चतुर्थाख्यकषायवेगः)** चौथी संज्वलनकषाय का वेग–आवेग तीव्रभाव होता है, तब–तब अप्रमत्तगुणस्थानवर्ती मुनि का **(प्रमत्तभूमौ)** प्रमाद की भूमि स्वरूप छठवें गुणस्थान में **(पतनं)** गिरना **(ध्रुवं स्यात्)** निश्चित है। **(बहिः प्रवृत्तेः)** बाह्य प्रवृत्तियों का **(अभावः अपि)** अभाव भी **(आस्ताम्)** बना रहे तो भी **(श्रमणस्य)** श्रमण का **(वासः)** ठहरना **(अत्र सप्तमे)** आगम प्रसिद्ध सप्तम गुणस्थान में **(नो)** नहीं हो सकता है।

जिसका जीवन महाव्रतों से, मंडित होता मनो जभी।
चूँकि तीसरे कषाय का वह, अनुदय होता सुनो तभी॥
चतुर्थगुण में उदित हुआ फिर, विकास का संयोग बना।
मुनिपन में निजकाष्ठा छूता, इस विध शुभ उपयोग घना॥६३॥
जब जब चौथे कषाय में वह, तीव्र वेग भी आता है।
तब तब निश्चित प्रमाद धरती, पर गिरना हो जाता है॥
भले बाह्य में वचनादिक का, प्रयोग देखा ना जाता।
किन्तु श्रमण का सप्तम गुण में, टिकना तब हो ना पाता॥६४॥

रिपौ कृतघ्ने प्रगते प्रमत्ते, शुद्धो मुनौ सोऽस्तु न काऽपि बाधा।
आदानहानादिककार्यलग्ने, भावः शुभस्येति मतं प्रशस्तम् ॥६५॥

अन्वयार्थ—(रिपौ) शत्रु स्वरूप **(कृतघ्ने)** अप्रमत्तदशा से प्रमाद में लाने वाले कृतघ्न **(प्रमत्ते)** प्रमाद के **(प्रगते)** नष्ट हो जाने पर **(मुनौ)** मुनि की आत्मा में **(सः शुद्धः अस्तु)** वह शुद्धोपयोग रहे इसमें **(काऽपि बाधा)** कोई भी बाधा **(न)** नहीं है। सप्तम गुणस्थान में जब गुप्ति की दशा होती है तब शुद्धोपयोग के रहने में कोई भी बाधा नहीं है, और जब **(आदानहानादिक-कार्यलग्ने)** ग्रहण और त्याग आदि कार्य में–समितियों में प्रवृत्त होने पर–प्रवृत्तिरूप आचरण में संलग्न होने पर इसी अप्रमत्त गुणस्थान में भी **(शुभस्य भावः)** शुभोपयोग का होना **(इति)** इस प्रकार **(प्रशस्तम्)** प्रशंसनीय **(मतं)** माना है।

शुभोपयोगस्तु गुणे प्रमत्ते, शुद्धोपयोगस्तु गुणेऽप्रमत्ते।
मैवं प्रवृत्तिः श्रमणे प्रभाति, तावत्शुभस्येति भवेत्प्रणीतिः॥६६॥

अन्वयार्थ—(प्रमत्ते गुणे तु) प्रमत्त गुणस्थान में **(शुभोपयोगः)** शुभोपयोग हो और **(अप्रमत्ते गुणे तु)** अप्रमत्त गुणस्थान में **(शुद्धोपयोगः)** शुद्धोपयोग हो, **(मा एवं)** ऐसा नहीं है, **(श्रमणे)** श्रमण में जब तक **(प्रवृत्तिः प्रभाति)** प्रवृत्ति शोभित है **(तावत्)** तब तक **(शुभस्य)** शुभरूप उपयोग होता है। **(इति)** इस प्रकार **(प्रणीतिः)** आगम प्रणीत प्रकृष्ट नीति **(भवेत्)** है। अर्थात् प्रमत्तगुणस्थान में प्रवृत्ति होने से शुभोपयोग होता ही है किन्तु अप्रमत्तगुणस्थान में जब समिति आदि में प्रवृत्त होता है तब भी शुभोपयोग है और जब गुप्ति में लीन रहता है तब प्रवृत्ति रहित दशा में शुद्धोपयोग होता है। अप्रमत्त दशा में मात्र शुद्धोपयोग नहीं है, शुभोपयोग भी होता है।

प्रमाद रिपु है, कृतघ्न भी है, मुनि में जब यह नहीं रहे।
वहाँ शुद्ध उपयोग उगेगा, गुप्ति दशा बस! बनी रहे॥
हाँ! मुनि अपने उपकरणों को, ले रखने में लग जाता।
तब तो शुभ उपयोग रहेगा, भावुक बाहर भग आता ॥६५॥
प्रमत्तगुण में जब मुनि होता, उसका शुभ उपयोग रहे।
सप्तम में जब प्रवेश पाता, तब तो शुचि उपयोग रहे॥
आगम इसमें सम्मत ना है, चेष्टा जब तक मुनि में हो।
शुभ से ऊपर उठ ना सकता, कभी न संशय मन में हो ॥६६॥

प्रमादमुक्तः समितौ प्रवृत्तस्त्रिगुप्तिगुप्तो द्विविधोऽत्र साधुः।
सद्ध्यानमात्रं ननु सप्तमे स्या, दिति प्रसङ्गः समये न दृष्टः॥६७॥

अन्वयार्थ–(अत्र) अप्रमत्त गुणस्थान में **(प्रमादमुक्तः)** प्रमाद से रहित **(साधुः)** श्रमण **(समितौ प्रवृत्तः)** ईर्या आदि पंचसमितियों में प्रवत्त और **(त्रिगुप्तिगुप्तः)** मनोगुप्ति आदि तीन गुप्तियों लीन साधु **(द्विविधः)** दो प्रकार के कहे हैं। **(ननु)** कोई कहे कि **(सप्तमे)** अप्रमत्तरूप सप्तम गुणस्थान में **(सद्ध्यानमात्रं)** मात्र ध्यान ही **(स्यात्)** होता है। तो **(इति)** इस प्रकार का **(प्रसङ्गः)** प्रमाण **(समये)** आगम में **(न दृष्टः)** देखा नहीं गया है। अर्थात् सप्तम गुणस्थान मात्र ध्यान का स्थान है ऐसा नहीं। जो समितियों को पालते हुए सावधानी है वह भी अप्रमत्तदशा में आती है।

शुद्धस्य हेतोरिति शुद्ध एव, मोक्षस्य मार्गो न हि मोक्षरूपः।
विकल्पमुक्तो विकलस्तथापि, शुद्धोपयोगः क्रियतेऽनघेन ॥६८॥

अन्वयार्थ–(अनघेन) पापरहित जीव के द्वारा **(शुद्धोपयोगः)** शुद्धोपयोग **(क्रियते)** प्राप्त किया जाता है। सो वह शुद्धोपयोग **(शुद्धस्य)** शुद्ध का–केवलज्ञान का **(हेतोः)** कारण होने से **(शुद्ध इति)** शुद्ध है, शुद्धोपयोग **(मोक्षरूपः)** मोक्षरूप **(न हि)** नहीं है **(मोक्षस्य मार्गः एव)** मोक्ष के मार्गरूप ही है शुद्धोपयोग **(विकल्पमुक्तः)** विकल्परहित निर्विकल्प है **(तथापि)** तो भी **(विकलः)** अपूर्ण है, मार्गरूप है, मंजिलरूप–मोक्षरूप नहीं है। अर्थात् शुद्धोपयोग श्रमणों का आभूषण है, जिससे मोक्षलक्ष्मी आकृष्ट होती है।

प्रमाद विरहित सप्तम गुण सो, दो भागों में भाजित है।
समिति परक तो एक रहा है, गुप्ति परक भी राजित है॥
ध्यानात्मक ही सप्तम गुण हो, एकान्ती कुछ यूँ कहते।
सत्संगति कर आगम सुनते, दूर तथ्य से ना रहते॥६७॥
मोक्ष रूप शुद्धोपयोग ना, मोक्षमार्ग वह होता है।
शुद्ध रूप केवल का कारण, क्षण में अघ को धोता है॥
केवल बल से विकल रहा पर, विकल्प विरहित है होता।
इसीलिए शुद्धोपयोग सो, श्रमणों का भूषण होता॥६८॥

सुखेषु दुःखेषु समानचित्तः] सन्त्यक्तसङ्गश्च चिदेकवित्तः।
यो वीतरागः समशत्रुमित्रः] शुद्धोपयोगः श्रमणः स मुक्तः ॥६९॥

अन्वयार्थ–(यः) जो **(श्रमणः)** श्रमण **(सुखेषु दुःखेषु)** सुखों में और दुःखों में **(समानचित्तः)** समान चित्त-समभाव रखते हैं। **(सन्त्यक्तसङ्गः)** परिग्रहों का त्याग कर चुके हैं **(चिदेकवित्तः)** चैतन्य ही जिनका एकमात्र धन है **(च)** और **(समशत्रुमित्रः)** जिनको शत्रु, मित्र समान हैं ऐसे **(वीतरागः)** वीतराग दशा को प्राप्त-गुप्तियों में लीन **(सः)** वह श्रमण **(शुद्धोपयोगः)** शुद्धोपयोगरूप **(मुक्तः)** स्वतंत्र है।

संवेद्यसंवेदकभावनायां, निरन्तरं यो निरतो विरक्तः।
निसर्गरागोऽपि विलीयतेऽत्र, शुद्धोपयोगः श्रमणः स मुक्तः॥७०॥

अन्वयार्थ–(यः) जो **(विरक्तः)** इन्द्रिय विषय व्यापारों से पूर्णरूप से विरक्त है **(संवेद्य-संवेदकभावनायां)** संवेद्य-संवेदन करने योग्य व संवेदक-संवेदन करने वाली भावना में **(निरन्तरं)** हमेशा **(निरतः)** नियम रूप से रत है **(अत्र)** आत्मा में उत्पन्न होने वाला **(निसर्गरागः अपि)** स्वाभाविक राग भी **(विलीयते)** नष्ट हो जाता है ऐसा **(सः)** वह **(श्रमणः)** श्रमण **(शुद्धोपयोगः)** शुद्धोपयोगरूप है।

समता को है धारण करते, सुख के क्षण में दुर्दिन में।
अंतरंग बहिरंग संग बिन, प्रसन्न हैं चेतन-धन में॥
शत्रु मित्र को एक गिने हैं, वीतराग हैं श्रमण बने।
आप शुद्ध उपयोग मोक्ष है, उसको मेरे नमन घने॥६९॥
श्रमण बने इन्द्रिय विषयों से, पूर्ण रूप से विरत रहे।
निज ही निज से निजवेदन में, नियत रूप से निरत रहे॥
अबुद्धि पूर्वक राग भाव का, सहज रूप से क्षरण बने।
आप शुद्ध उपयोग मोक्ष है, उसको मेरे नमन घने॥७०॥

अव्यक्तरागेण युतोऽत्र यावत्, तावत्परं यो विषयीकरोति।
बन्धानुभूतिं तनुते तथापि, शुद्धोपयोगः श्रमणः स मुक्तः॥७१॥

अन्वयार्थ—**(यः)** जो आत्मा **(यावत्)** जब तक **(अव्यक्तरागेण)** अव्यक्त राग से **(युतः)** युक्त होता है **(तावत्)** तब तक वह आत्मा **(परं)** पर को **(विषयीकरोति)** विषय करता है तथा **(अत्र)** इस भूमिका में वह **(बन्धानुभूतिं)** कर्मबन्ध की अनुभूति को **(तनुते)** विस्तृत करता है **(तथापि)** तब भी **(स श्रमणः)** वह श्रमण **(शुद्धोपयोगः)** शुद्धोपयोग रूप **(मुक्तः)** विकल्पों से मुक्त है।

मोहादिसंस्कारवतोप्यमुष्य, संसारिणो घातिचतुष्टयं तत्।
ध्यानाग्नितो भस्मदशामियाद्धि, शुद्धोपयोगः श्रमणः स मुक्तः॥ ७२॥

अन्वयार्थ—जब **(मोहादिसंस्कारवतः अपि)** मोह आदि संस्कार से युक्त **(अमुष्य)** इस **(संसारिणः)** संसारी जीव के **(तत्)** प्रसिद्ध **(घातिचतुष्टयं)** मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय कर्मरूप घाति चतुष्टय **(ध्यानाग्नितः)** धर्मध्यान की और शुक्लध्यान की अग्नि से **(हि)** पूर्णरूप से **(भस्मदशां)** भस्म अवस्था को **(इयात्)** प्राप्त करा दिया जाता है तब **(सः श्रमणः)** वह श्रमण **(शुद्धोपयोगः)** शुद्धोपयोगस्वरूप है और **(मुक्तः)** जीवनमुक्त कहलाता है।
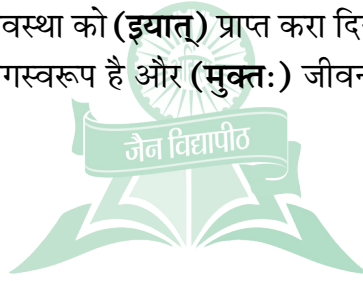
राग नहीं पर कहीं राग से, अंतर में वह लगे हुये।
तभी ध्यान का विषय और हो, विषय विरत हो जगे हुये॥
कर्म बन्ध का अनुभव भी तो, करते रहते श्रमण बने।
आप शुद्ध उपयोग मोक्ष है, उसको मेरे नमन घने॥७१॥
निर्मोही हो मोह कर्म को, मूल रूप से राख किया।
मोह रहित हो शेष घाति को, पूर्ण रूप से खाक किया॥
धर्म-ध्यान की शुक्लध्यान की, अग्नि जलाओ श्रमण सुने।
आप शुद्ध उपयोग मोक्ष है, उसको मेरे नमन घने॥७२॥

अनङ्गमङ्गं बहिरन्तरङ्गं, विस्मार्य सर्वं स्वपरावबोधम्।
सच्चेतनायामवगाहितो यः, शुद्धोपयोगः श्रमणः स मुक्तः॥७३॥

अन्वयार्थ–(यः) जो **(अङ्गं)** शरीर को **(अनङ्गं)** काम को **(बहिरन्तरङ्गं)** बहिरंग और अन्तरंग **(सर्वं)** सभी **(स्वपरावबोधं)** निज-पर के ज्ञान को **(विस्मार्य)** भूलकर **(सच्चेतनायां)** निजी शुद्धचेतना में **(अवगाहितः)** उतर जाता है-अवगाहन करता है **(सः)** वह **(श्रमणः)** श्रमण ही **(शुद्धोपयोगः)** शुद्धोपयोग है और **(मुक्तः)** कर्मबंध के कर्त्तापने से मुक्त है।

क्रिया प्रमत्तं प्रथमात्करोते, रासप्तमात् सा किल बादरान्तम्।
अव्यक्तरूपा भवति क्रिया स्यात्, स्वस्ति-क्रियाप्यस्ति च सूक्ष्मलोभे॥७४॥

अन्वयार्थ–(प्रथमात्) प्रथम गुणस्थान से **(प्रमत्तं)** छठवें प्रमत्तगुणस्थान तक के जीव **(करोतेः क्रिया)** करोति इस क्रिया से जुड़ते हैं। अर्थात् भूमिका अनुसार पर के कर्त्तारूप क्रिया से युक्त होते हैं। **(आसप्तमात्)** सातवें गुणस्थान से **(बादरान्तम्)** बादरकषाय-अनिवृत्तिकरण नामक नवमें गुणस्थान तक के जीव **(किल)** वस्तुतः **(सा अव्यक्तरूपा)** उस अव्यक्त रूप **(भवतिक्रिया)** होते हैं, इस क्रिया से जुड़ते हैं **(च)** और **(सूक्ष्मलोभे)** सूक्ष्मलोभ के स्थान स्वरूप सूक्ष्मसाम्पराय नामक दशवें गुणस्थान में **(स्वस्तिक्रिया)** अस्ति रूप 'है' इस क्रिया से **(अपि अस्ति स्यात्)** भी युक्त होते हैं। अर्थात् 'करोति', 'भवति', 'अस्ति' ये तीन क्रियापद हैं- इनका सम्बन्ध गुणस्थानों में नियोजित है। प्रथम से छठवें तक जीव रागादिभावों को 'करोति' करता है। सप्तम से नवम गुणस्थान तक रागादि भाव 'भवति' होता है, करता नहीं है। दशवें गुणस्थान में राग 'अस्ति' रहता है। यहाँ दशवें गुणस्थान में जीव राग को न करता है, न राग होता है, मात्र रहता है। संस्कृत भाषा में-प्रथमपुरुष के एकवचन के ये धातु रूप हैं जो क से करोति, भू से भवति, अस् से अस्ति रूप क्रियापद बने हैं।

अंग रंग से अनंग से क्या, सूख गये या फूल गये।
विवेक वाले आप पराये, पूर्ण रूप से भूल गये॥
चेतन में बस और और कर, उतर उतर कर सघन बने।
आप शुद्ध उपयोग मोक्ष है, उसको मेरे नमन घने॥७३॥
पहले गुण से प्रमत्त गुण तक, नौंवे गुण तक सप्तम से।
समझदार हो समझो इनको, दशवें गुण में हैं क्रम से॥
करने होने रहने वाली, राग प्रणाली चलती है।
कहीं व्यक्त हैं कहीं सुप्त सी, आग ढकी सी जलती है॥७४॥

क्रिया इमे स्युर्नवकर्मबन्ध-, हेतुत्वजुष्ठा भववर्धिकाश्च।
मोहाभिभूतेष्वसुमत्सु सत्सु, दूरा यथाख्यातचरित्रतो ये ॥७५॥

अन्वयार्थ—(ये) जो **(यथाख्यातचरित्रत:)** यथाख्यातचारित्र से **(दूरा:)** दूर हैं ऐसे **(मोहाभिभूतेषु)** मोह से अभिभूत युक्त **(सत्सु)** हुए **(असुमत्सु)** प्राणियों में **(इमे क्रिया:)** उपर्युक्त करोति, भवति, अस्ति की कारक क्रियायें **(नवकर्मबन्ध-हेतुत्वजुष्ठा:)** नवीन कर्मबन्ध के हेतुपने से युक्त **(भववर्धिका: च)** संसार बढ़ाने वाली भी **(स्यु:)** हैं।

सत्त्वक्रिया शान्तकषायमोहे, मुक्तिक्रिया क्षीणकषायमोहे।
चान्तेप्युपान्ते च गुणेऽविकल्पे, सौम्यास्थिति: सा विषदाऽविषादा॥ ७६॥

अन्वयार्थ— (शान्तकषायमोहे) उपशान्तमोह नामक ग्यारहवें गुणस्थान में रागादिभाव की **(सत्त्वक्रिया)** सत्‌रूप क्रिया होती है अर्थात् वहाँ मोह सत्त्व के रूप विद्यमान है, पर इसका प्रभाव नहीं है **(च)** और **(क्षीणकषायमोहे)** क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थान में **(मुक्तिक्रिया)** मोह से मुक्त करने वाली मुक्ति क्रिया है **(उपान्ते गुणे)** सयोगकेवली नामक तेरहवें गुणस्थान में **(च अन्ते अविकल्पे गुणे अपि)** और अन्त कि योगरूप विकल्प से रहित अयोग केवली नामक चौदहवें गुणस्थान में मोह के सब विकल्पों से मुक्त **(सा विषदा)** वह सिद्धत्वरूप जीवनदायिनी **(अविषादा)** विषाद क्षोभरहित **(सौम्यास्थिति:)** शुद्ध-चैतन्य स्थिति रूप है।
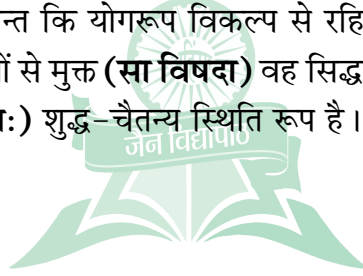
कही गईं ये सभी क्रियायें, नूतन विधि के कारण हैं।
भववर्धक हैं भवकानन में, दुख दारुण हैं मारण हैं॥
मोहभूत के वशीभूत हो, तनधारी जग के प्राणी।
यथाख्यात चारित से वंचित, होते सो है अज्ञानी॥७५॥
राग सत्व उपशान्त मोह में, केवल का जो बाधक है।
क्षीण मोह में ध्यान कर्म है, केवल का सो साधक है॥
शेष गुणों में ध्यान कर्म से, विरहित सो उपयोग रहा।
विशद रहा है विमल रहा है, विचलित तो बस योग रहा॥७६॥

शुद्धोपयोगो भणितः सुपुष्पं, फलं समिष्टं किल केवलं तु।
विना च पुष्पं फलदर्शनं क्व, भवामि पुष्पाय कृतान्तरङ्गः ॥७७॥

अन्वयार्थ–(शुद्धोपयोगः) शुद्धोपयोग **(सुपुष्पं)** पुष्प रूप **(भणितः)** कहा है। **(तु)** तो **(केवलं)** केवलज्ञान **(किल)** निश्चित ही **(समिष्टं फलं)** उस पुष्प का इष्ट फल है। **(पुष्पं विना च)** पुष्प के बिना भी **(फलदर्शनं)** फल का दर्शन **(क्व)** कहाँ होता है। अतः मैं **(पुष्पाय)** शुद्धोपयोग रूप पुष्प के लिए **(कृतान्तरङ्गः)** उद्यतमना **(भवामि)** होता हूँ।

गन्धालयं पुष्पमहो स शुद्धः, शुभोपयोगः कलिका विगन्धा ।
तद्धीनवृक्षोऽत्र वृथा विवस्त्रो, हे भव्य ! नित्यं नम जैनभूमिम् ॥७८॥

अन्वयार्थ–(अहो) अहो! **(स शुद्धः)** वह प्रसिद्ध शुद्धोपयोग **(गन्धालयं)** सुगन्ध से परिपूर्ण **(पुष्पं)** फूल है तथा **(शुभोपयोगः)** शुभोपयोग **(विगन्धा)** गन्ध रहित **(कलिका)** कली है। जिस प्रकार **(तद्धीनवृक्षः)** कली और पुष्प से रहित वृक्ष **(वृथा)** व्यर्थ है उसी प्रकार **(अत्र)** यहाँ मोक्षमार्ग में शुभोपयोग और शुद्धोपयोग से रहित **(विवस्त्रः)** वस्त्र रहित/दिगम्बर होना भी व्यर्थ है। **(हे भव्यः!)** हे भव्य **(जैनभूमिं)** जैनधर्म की भूमिस्वरूप शुभोपयोग और शुद्धोपयोग से युक्त श्रमण को **(नित्यं)** हमेशा **(नम)** नमस्कार करो।

आगम में शुद्धोपयोग को, सन्तों ने तो फूल कहा।
अनन्त केवल बोध मधुर फल, क्यों इसको तू भूल रहा ?॥
किसी पुरुष ने कहीं कभी भी, बिना पुष्प क्या फल पाया।
इसीलिए तो प्रथम पुष्प को, पाने मन को समझाया ॥७७॥
गन्ध भरा उस पुष्प तुल्य हो, यहाँ शुद्ध उपयोग रहा।
बिना गन्ध की कलिका सम ही, माना शुभ उपयोग रहा॥
इन दोनों से रहित वृक्ष ज्यों, निरा दिगम्बर खड़ा रहा।
नमूँ धरा को जहाँ श्रमण हो, शुभ शुचि से बल बढ़ा रहा ॥७८॥

शुद्धोपयोगः किल केवलस्य, श्रुतस्थ एवापि सुहेतुरस्तु ।
यच्चाक्षुषं दर्शनमातनोति श्रेण्यां, मुनौ वापि च किं ह्यनार्षम् ॥७९॥

अन्वयार्थ–(श्रुतस्थः) श्रुतरूप ज्ञानोपयोग में स्थित **(शुद्धोपयोगः एव)** शुद्धोपयोग ही **(किल)** यथार्थ में **(केवलस्य)** केवलज्ञान को उत्पन्न करने **(सुहेतुः)** सम्यक् हेतु **(अस्तु)** होवे **(वा)** अथवा **(यत्)** जो **(चाक्षुषं दर्शनं)** चक्षुदर्शनोपयोग है वह **(अपि)** भी **(श्रेण्यां)** श्रेणीगत **(मुनौ)** मुनि में **(आतनोति)** होता है **(किं)** क्या **(च हि)** वह **(अनार्षम्)** अनार्ष वचन हैं? नहीं आर्षवचन हैं। अर्थात् श्रेणी में ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग भी हो सकता है।

ज्ञानोपयोगस्य फलश्रुतिर्वा,ध्यानं कथं वा कथनं वितथ्यम्।
कालावधौ दर्शनकस्य तस्य, निर्ध्यानता साऽसुमता न वार्या॥८०॥

अन्वयार्थ– (वा) अथवा **(ज्ञानोपयोगस्य)** ज्ञानोपयोग का **(फलश्रुतिः)** फलितार्थ **(ध्यानं)** ध्यान है तो **(तस्य)** उस प्रसिद्ध **(दर्शनकस्य)** दर्शनोपयोग की **(कालावधौ)** कालावधि में **(सा)** वह **(निर्ध्यानता)** ध्यान रहितता **(असुमता)** चेतनात्मा के द्वारा **(न वार्या)** निषिद्ध नहीं होती। यह **(कथनं)** कथन **(कथं)** कैसे **(वितथ्यं)** असत्य है ? नहीं है।

श्रुतज्ञान में ढला हुआ ही, अशुभ ध्यान का वारण है।
सुनो शुद्ध उपयोग रहा वह, पूर्ण ज्ञान का कारण है॥
यह मत उचित न युगल श्रेणि में, रमते जब मुनि संगत हो।
उन्हें चक्षुदर्शन भी होता, आगम तुमको अवगत हो॥७९॥
ज्ञान तथा दर्शनमय होते, आतम के उपयोग रहे।
ध्यान रहा परिणाम ज्ञान का, इस विध यदि तुम धोक रहे॥
दर्शन का उपयोग रहा तब, ध्यान हीनता फिर मानो।
ना मानो तो सही सही क्या, जिनवाणी से पहचानो॥८०॥

जल्पस्य कस्यास्ति कथा यदन्त,-र्जल्पोऽपि मौनं गतवान् यदात्र।
आत्मानमात्मात्मनि चात्मनेय, मेति क्षयो ज्योतिरतोऽपि घातेः॥८१॥

अन्वयार्थ—(कस्य जल्पस्य) किसी बाह्य जल्प की **(कथा)** वार्ता **(अस्ति)** दूर रहे **(यत्)** चूँकि **(अत्र)** यहाँ **(यदा)** जब **(अन्तर्जल्पः)** अन्तर्जल्प **(अपि)** भी **(मौनं)** मौन को **(गतवान्)** प्राप्त हो जाये और **(अयं आत्मा)** यह आत्मा **(आत्मनि)** आत्मा में **(आत्मने)** आत्मा के लिए **(आत्मानं)** आत्मा को **(एति)** प्राप्त कर ले तब **(घातेः क्षयः)** घातिकर्म का क्षय होता है **(अतः)** इससे **(ज्योतिः)** केवलज्ञान ज्योति प्रकट होती है।

मालिन्यमायाति यथोपयोगे, ज्ञाने तथैवेति च दर्शनेऽपि।
चैतन्यसामान्यमहो द्वयोस्तु, संविद्यते काऽपि तथाऽपि बाधा॥८२॥

अन्वयार्थ—(यथा) जिस प्रकार **(ज्ञाने उपयोगे)** ज्ञान उपयोग में **(मालिन्यं)** मलिनता **(आयाति)** आती है **(तथैव)** उसी प्रकार **(दर्शने चापि)** दर्शन उपयोग में भी आती है। **(अहो) (इति)** इस प्रकार **(द्वयोः तु)** दोनों में तो **(चैतन्यसामान्यं)** चैतन्य सामान्य है **(तथापि)** फिर भी **(काऽपि बाधा)** कोई बाधा **(संविद्यते)** रहती है।

बाह्य जल्प की बात नहीं है, भीतर की तुम बात सुनो।
अन्तर्जल्पन भी साधा है, मौन शेष बस साथ मनो॥
आतम को पाने आतम जब, आतम में अवगाह लिया।
अनन्त आलोकित हो उठता, घातिकर्म का दाह किया॥८१॥
यथा ज्ञान के उपयोगों में, मलिन भाव वह उदित रहे।
दर्शन के उपयोगों में भी, क्यों ना हो, यह उचित रहे॥
कारण दोनों उपयोगों में, चेतनता सामान्य रही।
नहीं धारणा उचित रही यह, आगम में ना मान्य रही॥८२॥

मिथ्योपयोगो न हि दर्शनस्य, तत्कार्ययोग्यो भवताच्च मोहः।
किमन्यथा दर्शनमार्गणायां, विभङ्गवच्चक्षुरिदं नु मिथ्या॥८३॥

अन्वयार्थ—(दर्शनस्य उपयोगः) दर्शनोपयोग **(मिथ्या)** मिथ्या **(न हि)** नहीं है। **(च)** तथा भले ही **(मोहः)** मोहकर्म **(तत्कार्ययोग्यः)** उसके बन्ध के योग्य **(भवतात्)** होवे अर्थात् मोह से भले उस दर्शनोपयोग का बन्ध होता रहे **(अन्यथा)** यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो **(दर्शनमार्गणायां)** दर्शनमार्गणा में **(विभङ्गवत्)** विभङ्गदर्शन के अभाव की तरह **(इदं चक्षुः)** यह चक्षुदर्शन **(किं नु मिथ्या)** क्या मिथ्या है? अर्थात् नहीं है।

अनावृतं ज्ञानमिहास्ति नित्यं, निगोदजीवे किल केवलं तत्।
आर्षे तथापि क्षयि मिश्रमेव, प्रवाहदृष्ट्यात्मविधानतो वा॥८४॥

अन्वयार्थ— (इह) यहाँ **(आर्षे)** आचार्य प्रणीत ग्रन्थों में **(निगोदजीवे)** निगोदिया जीवों में **(ज्ञानं)** ज्ञान को **(अनावृतं)** आवरण रहित [इसलिए कहा कि यदि उस जघन्य ज्ञान पर आवरण आ जाये तो ज्ञान स्वभावी आत्मा का ही अभाव हो जायेगा अतः उसे] **(नित्यं)** सदा बना रहने वाला कम से कम तो **(किल केवलं)** इतना ज्ञान तो रहेगा ही **(वा)** अथवा **(प्रवाहदृष्ट्या)** यह ज्ञान जीव में अनादि से प्रवाहित होने की दृष्टि से **(आत्मविधानतः)** आत्मा के अस्तित्व का विधान होने से कहा है **(तथापि)** वह मतिश्रुतज्ञान **(मिश्रं एव अस्ति)** मिश्ररूप-क्षायोपशमिक ही है, जो क्षायोपशमिक है सो वह **(क्षयि)** विनाशशील है। केवलज्ञान क्षायिक होने से अविनश्वर है।

दर्शन का उपयोग कभी भी, मिथ्या माना नहीं गया।
उसका बंधन मोह भाव से, भले रहा हो कहीं जिया॥
तथा मार्गणा में भी उसको, विभङ्ग सम सो कहाँ कहा ?।
अचक्षु दर्शन को भी कह दो, कुचक्षु दर्शन जहाँ तहाँ॥८३॥
निगोद जीवों में जो मिलता, नित्योद्घाटित ज्ञान रहा।
श्रुत कहता है उसी ज्ञान को, आंशिक केवलज्ञान अहा॥
आत्म द्रव्य का प्रवाह उससे, फलतः होता विदित रहे।
किन्तु मिश्र सो मिश्र समय पर, सुनो नाश से सहित रहे॥८४॥

तथापि तत्रैव रते 'हका!' ते किं पारिणामीति विभाववन्न।
अनादिसान्तं किमु सादिसान्तं ह्यनाद्यनन्तं किमु साद्यनन्तम् ॥८५॥

अन्वयार्थ–(तथापि) फिर भी उस जघन्य ज्ञान को केवलज्ञान की तरह मानकर **(ते)** आपके **(तत्रैव रते)** उसी में दृढ़ रहने पर **(हि)** निश्चित ही अनेक प्रश्न उठते हैं **(किमु)** क्या वह ज्ञान **(पारिणामि)** पारिणमनशील है **(विभाववत् न)** वैभाविक नहीं है? **(अनादिसान्तं)** अनादिसान्त है? **(सादिसान्तं)** अथवा सादि सान्त है? **(अनाद्यनन्तं)** अनादि अनन्त है **(किमु)** क्या **(साद्यनन्तम्)** सादि अनन्त है? इस प्रकार अनेक प्रश्न उठते हैं **(हका!)** हा! खेद है।

यत्सर्वघातित्वगते गतेऽस्मिन्नस्तित्वमस्यास्तु यथोदये वा।
अन्ते व्युपान्तेऽत्र गुणेऽपि मुक्तौ ज्ञानद्वयं वा किमु दर्शनं तत् ॥८६॥

अन्वयार्थ– (यथा) जिस प्रकार निगोदिया जीव के **(उदये)** ज्ञानावरण कर्म का उदय होने पर **(अस्य)** इस जघन्य ज्ञान का **(अस्तित्वं)** अस्तित्व है **(तथा)** उस प्रकार **(यत्सर्वघातित्वगते)** जो सर्वघातिपने को प्राप्त है ऐसे उस ज्ञानावरणकर्म के **(गते)** विनष्ट होने पर **(अस्मिन्)** इस परमात्मा में **(किमु अस्तु)** क्या वह क्षयोपशमज्ञान रहता है अर्थात् नहीं रहता **(वा अत्र)** अथवा इन **(अन्ते व्युपान्ते गुणे अपि)** अन्ते–अयोगकेवली गुणस्थान में, व्युपान्ते–सयोगकेवली गुणस्थान में और **(मुक्तौ अपि)** मोक्ष में भी **(ज्ञानद्वयं)** निगोदी जीव वाले मतिश्रुत ज्ञान **(वा)** और **(तत् दर्शनम्)** उसमें रहने वाला अचक्षुदर्शन भी **(किमु)** क्या होता है? ऐसे अनेक प्रश्न उभरते हैं। हा! खेद है।

तदपि सर्वथा मत्यादिक को, केवल सम तुम मान रहे।
मात्र भाव स्वाभाविक हो तो, वैभाविक क्या बान रहे ?॥
चिर से चिर तक सादि सान्त या,सादि हुए चिर काल रहे।
अनादि का हो सान्त रहे या, प्रश्न कई यूँ पाल रहे॥८५॥
अंतिम उपान्त गुण में शिव में, पूर्णज्ञान सम पहिचानो।
चक्षु आदि दर्शन ये, अवयव केवलदर्शन के मानो॥
केवल ज्ञानावरणोदय में, जिस विधि मति श्रुत मिलते हैं।
उसके मिटने पर भी मिलते, वहाँ दोष क्या खिलते हैं ?॥८६॥

यथाऽक्षजं मत्यमिह श्रुतं वा, तत्पूर्वकत्वाच्च मनोजतो वा।
ज्ञानं चतुर्थं किमु नो तथा तत्, प्रत्यक्षमन्यत् किमु लैङ्गिकं वा ॥८७॥

अन्वयार्थ—(यथा) जिस प्रकार **(इह)** यहाँ **(अक्षजं)** इन्द्रिय से उत्पन्न **(मत्यं)** मतिज्ञान है **(च)** और **(तत्पूर्वकत्वात्)** मतिज्ञान पूर्वक **(श्रुतं)** श्रुतज्ञान हो **(वा)** अथवा यह श्रुतज्ञान **(मनोजतः)** मन से उत्पन्न हो **(वा)** अथवा **(अन्यत् लैङ्गिकं)** अनुमान ज्ञान की तरह इन्द्रिय और मन से उत्पन्न हो। **(तथा)** उस प्रकार **(तत् चतुर्थं प्रत्यक्षं ज्ञानं)** वह चतुर्थ प्रत्यक्ष मनःपर्ययज्ञान इन्द्रिय और मन से उत्पन्न **(किमु नो)** क्यों नहीं हो सकता?

चराचराणां किमसंज्ञिकानां, श्रुतं यदुक्तं तु मनोऽनपेक्षि।
अक्षार्थभिन्नार्थनिजार्थभोजि, चादेयहेयात्मकरूपभाजम् ॥८८॥

अन्वयार्थ—(चराचराणां) त्रस और स्थावर **(असंज्ञिकानां)** मन रहित जीवों के **(यत्)** जो **(श्रुतं)** श्रुतज्ञान **(उक्तं)** कहा है वह **(किम्)** क्या है ? **(तु)** होता तो है किन्तु **(मनोऽनपेक्षि)** मन के बिना होता है। **(अक्षार्थभिन्नार्थनिजार्थभोजि)** इन्द्रियविषयों से भिन्न विषयभूत पदार्थ का और अपने विषय का ग्रहण करने वाला **(च)** और **(आदेयहेयात्मकरूपभाजम्)** ग्रहण करने योग्य तथा छोड़ने योग्य ऐसे आत्मस्वरूप को धारण करने वाला श्रुतज्ञान होता है।

मतिपूर्वक या मन से उपजा, इसमें कुछ ना अचरज है।
यथा ज्ञानमति अक्षज है, सो श्रुतज्ञान भी अक्षज हो॥
यदि ऐसा है मतिपूर्वक ही, मनपर्यय है अक्षज हो।
तथा रहो अनुमान ज्ञान भी, अक्षज ही, ना लिंगज हो॥८७॥
मनवालों में ही श्रुत होता, ऐसा आग्रह मत कर लो।
बिन मनवालों में भी सुन लो, श्रुत होता है श्रुत वर लो॥
स्पर्शादिक इन्द्रिय विषयों से, भिन्न विषय श्रुत का होता।
उपादेय क्या हेय रहा क्या, इस लक्षण को श्रुत ढोता॥८८॥

प्रयासहीने परमे प्रमाणे, पराः प्रमेयाः प्रतिबिम्बिताः स्युः।
अन्यत्र नेदृक्च निराकुलत्वं, प्रयत्नवज्ज्ञानमटेत्पदार्थम् ॥८९॥

अन्वयार्थ–(प्रयासहीने) बिना प्रयत्न के **(परमे प्रमाणे)** उत्कृष्ट केवलज्ञान में **(पराः प्रमेयाः)** पर प्रमेय **(प्रतिबिम्बिताः)** प्रतिबिम्बित **(स्युः)** होते हैं। **(अन्यत्र)** अन्य ज्ञानों में **(ईदृक्)** ऐसी **(निराकुलत्वं)** निराकुलता **(न)**नहीं है **(च)** और जो **(प्रयत्नवत्)** प्रयत्नशील **(ज्ञानं)** ज्ञान है वह **(पदार्थं)** पदार्थ की ओर **(अटेत्)** जाता है।

कैवल्यवच्चावधिवस्तु नैवं, वैशद्यमत्रापि न चास्ति तादृक्।
विकल्पजुष्टं च पराश्रितं वा, प्रमादमूलं तु परात्मवेदि ॥९०॥

अन्वयार्थ– (च) तथा **(अवधिवस्तु)** अवधिज्ञान **(अपि)** भी **(कैवल्यवत्)** केवलज्ञान के समान **(नैवं)** नहीं है क्योंकि **(अत्र)** इस अवधिज्ञान में **(तादृक्)** केवलज्ञान के समान **(वैशद्यं)** विशदता **(न अस्ति)** नहीं है। **(वा)** और यह अवधिज्ञान **(विकल्पजुष्टं)** विकल्प सहित है **(च)** और **(पराश्रितं)** पराश्रित-द्रव्यादिक की सीमा में बँधा हुआ है। **(प्रमादमूलं)** प्रमादमूलक है **(च)** और **(तु)** तो **(परात्मवेदि)** मूर्त्त पदार्थों को और मूर्त आत्मद्रव्य को जानने वाला होता है।

यत्नशील ना विशद रहा है, दर्पण केवलज्ञान रहा।
जिसमें जो है प्रतिबिम्बित है, यह जिसका सम्मान रहा॥
शेष ज्ञान जब यत्न करे तब, कुछ कुछ ही बस चखते हैं।
प्रायः पर का आकर्षण है, आकुलता में बिकते हैं॥८९॥
अवधिज्ञान भी केवल सम है, यह कहना भी अनुचित है।
दोनों की वह तुल्य विशदता, नहीं रही यह अवगत है॥
जीवों को भी मूर्त देखता, होता पर के आश्रित है।
प्रमादमूलक तथा उपजता, विकल्प वाला भाषित है॥९०॥

प्रत्यक्षमन्यत्तु निजानुभावं, कैवल्यतुल्यं तु निजाश्रितं वा।
नैतद्विरुद्धं समये प्रसिद्ध-मदोप्यथो नो बुधसम्मतं भोः ॥९१॥

अन्वयार्थ–**(अन्यत्)** अन्य जो **(निजानुभावं)** स्वसंवेदनज्ञान को **(निजाश्रितं)** आत्माश्रित **(कैवल्यतुल्यं)** केवलज्ञान के समान **(प्रत्यक्षं)** प्रत्यक्ष मानते हैं **(तु)** तो वह **(एतत्)** यह **(विरुद्धं)** विरुद्ध है क्योंकि **(समये)** आगम में **(प्रसिद्धं न)** प्रसिद्ध/सिद्ध नहीं है। **(वा)** अथवा **(भोः अथो)** भो पुरुष! **(अदः)** यह **(बुधसम्मतं)** विद्वानों के द्वारा सम्मत **(अपि)** भी **(नो)** नहीं है।

ध्यानानुबद्धान् निजतन्त्रता न, तया विना नो विशदत्वमेव ।
तस्मिन्नभावे सकलाववेदि, कथं भवेत्तत्त्विति विस्मयोऽयम् ॥९२॥

अन्वयार्थ– **(ध्यानानुबद्धात्)** प्रयत्नपूर्वक किये गये ध्यान से अनुबद्ध-बँधा होने से इसमें **(निजतन्त्रता)** स्वाधीनता **(न)** नहीं है और **(तया विना)** स्वाधीनता के बिना **(विशदत्वं)** विशदपना **(नो एव)** नहीं होगा तथा **(तस्मिन् अभावे)** विशदता के अभाव में **(तत् तु)** वह स्वसंवेदनज्ञान **(सकलाववेदि)** सकल वस्तु जगत् को जानने वाला **(कथंभवेत्)** कैसे हो सकता है? **(इति)** इस प्रकार **(अयं विस्मयः)** यह आश्चर्य है।

निजानुभव प्रत्यक्ष रहा जो, जिसमें पर का काम नहीं।
निश्चित केवल तुल्य रहा है, अस्थिरता का नाम नहीं॥
तथा जिनागम में वर्णित है, केवल का भी कारण है।
इस अभिमत का भी संतों ने, स्वयं किया सो वारण है॥९१॥
एक तरह का बंधन ही वह, ध्यान ध्यान में लगा हुआ।
स्वतंत्र कैसा माना जाता, भले रहा हो जगा हुआ॥
स्वतंत्रता बिन नहीं विशदता, उस बिन केवल सम ज्ञानी।
फिर किस विध हो सकता है वह, विस्मय है यह मनमानी॥९२॥

निजज्ञता निश्चयतः स्वभावः, सर्वज्ञता स्याद् व्यवहारवस्तु।
प्रत्यक्षमेकं ननु योगिनस्तत्, पूर्वोक्तदोषा इह चेति सन्तु ॥९३॥

अन्वयार्थ– **(निजज्ञता)** निज को जानना **(निश्चयतः)** निश्चय से **(स्वभावः)** स्वभाव है **(च)**और **(सर्वज्ञता)** सर्व को जानना **(व्यवहारवस्तु)** व्यवहारनय का विषय **(स्यात्)** है। **(ननु)** यदि कहो कि **(योगिनः)** योगीजनों को **(तत्)** वह **(एकं)** आत्मा **(प्रत्यक्षं)** प्रत्यक्ष ज्ञात है तो **(इह)** इस विषय में भी **(इति)** इस प्रकार **(पूर्वोक्तदोषाः सन्तु)** पूर्व कथित अनेक दोष उत्पन्न होंगे।

वक्तुं न चार्हं जिनपे यथा स्यात्, प्रक्षीणमोहेऽपि सुखं ह्यनन्तम्।
अनन्तवीर्येण विनाप्यनन्तं, ज्ञानं सुखं किं समये समुक्तम् ॥९४॥

अन्वयार्थ–(यथा) जिस प्रकार **(जिनपे)** जिनेन्द्र भगवान् में **(अनन्तं सुखं)** अनन्त सुख **(स्यात्)** होता है **(तथा)** उसी प्रकार से **(प्रक्षीणमोहे)** क्षीणमोह गुणस्थान में **(अपि)** भी **(स्यात्)** हो **(न च वक्तुं अर्हं)** परन्तु ऐसा कहना योग्य नहीं है। **(हि)** क्योंकि **(अनन्तवीर्येण विना)** अनन्तवीर्य के बिना **(किं)** क्या **(अनन्तं ज्ञानं सुखं)** अनन्तज्ञान और अनन्तसुख **(अपि)** भी **(समये)** आगम में **(समुक्तं)** कहा है ? नहीं कहा, क्योंकि सबको जानने देखने व सुख भोगने के लिए अनन्त बल का होना अनिवार्य है।

निश्चय में तो विषय बनाना, निज को स्वभाव माना है।
तथा सकल को विषय बनाना, सो व्यवहारिक बाना है॥
इसीलिए बस साधु जनों का, केवल सम, प्रत्यक्ष रहे।
इस मत में भी पूर्व दोष सब, आते हैं, यूँ दक्ष कहें॥९३॥
वीतराग सर्वज्ञ हितंकर, जिनवर में सुख जिस विध है।
बारहवें गुण में चढ़ बैठे, मुनिवर में भी उस विध है॥
यह तो मत आगम से बाधित, अपना अपना अनुभव है।
अमितवीर्य बिन अमित बोध सुख, किस विध किसमें संभव है॥९४॥

वक्ता भवन्नो सकलज्ञ आप्त, आत्मस्थ एवं प्रखरो न वक्ता।
कर्मौघहन्तेति विराग इष्टश, चास्मिन् प्रसङ्गे नहि दोषपुष्टः॥९५॥

अन्वयार्थ–(वक्ता भवन्) वक्ता होते हुए **(सकलज्ञः आप्तः)** सर्वज्ञ आप्त **(नो)** नहीं हो सकता। **(आत्मस्थः)** जो आत्मस्थ है वह **(एवं)** इस प्रकार **(प्रखरः वक्ता)** स्पष्ट उपदेष्टा **(न)** नहीं हो सकता **(कर्मौघहन्ता)** घातिकर्म समूह का विनाशक **(विरागः)** वीतरागदेव ही **(इति)** इस प्रकार **(इष्टः)** इष्ट है। **(अस्मिन् प्रसङ्गे)** इस प्रसङ्ग में **(दोषपुष्टः)** दोषों की पुष्टि **(न)** नहीं होती है।

भुङ्क्तेऽत्र तिष्ठन् स गुणे सयोगे, किमेकशो वा बहुशो द्विशो वा।
रुग्णोऽप्यसातोदयतश्चिकित्स्यस्तनोरवस्था त्विति वेदितव्या॥९६॥

अन्वयार्थ–(सः) वह केवली भगवान् **(अत्र)** मनुष्यलोक सम्बन्धी **(सयोगे गुणे)** सयोगककेवली गुणस्थान में **(तिष्ठन्)** रहते हुए **(असातोदयतः)** असातावेदनीय कर्म के उदय से **(किम् एकशः)** क्या एक बार **(वा)** अथवा **(द्विशः)** दो बार **(वा)** अथवा **(बहुशः)** बहुत बार **(भुङ्क्ते)** भोजन करते हैं? **(रुग्णोऽपि)** रोगी भी होते हैं? **(तु)** तो **(चिकित्स्यः)** चिकित्सा के योग्य भी होते हैं। **(इति)** इस प्रकार **(तनोरवस्था)** शरीर की स्थिति **(वेदितव्या)** जानना चाहिए ?। यह प्रश्न है।

आप्त बने हैं उपदेशक हैं, कभी न हो पूरण ज्ञानी।
आतम में जो लीन रहे तो, कैसे वक्ता मन मानी ? ॥
दोष लगाना इस विध सो ना, शिष्टों का परिशिष्ट रहा।
वीतराग बन कर्म विजेता, बनना ही बस इष्ट यहाँ॥९५॥
सयोग गुण में विहार करते, और देशना देते हैं।
एकाधिक या एक बार तो, भोजन दिन में लेते हैं॥
तथा असाता में रोगी हो, योग्य चिकित्सा लेते हैं।
तन की स्थिति में जो कुछ भी हो, कर लेते कर देते हैं॥९६॥

तनुस्थितिः साऽमितवीर्यलाभात्, सदागताभिस्तनुवर्गणाभिः।
मोहक्षयेऽलं न रुजे क्षुधायै, वेदोऽप्यभावात्तदुदीरणायाः ॥९७॥

अन्वयार्थ–उत्तर स्वरूप- सुनो! **(सा)** वह **(तनुस्थितिः)** शरीर की स्थिति **(अमितवीर्यलाभात्)** अनन्तवीर्य का लाभ होने से **(सदा)** निरन्तर **(आगताभिः)** आने वाली **(तनुवर्गणाभिः)** शरीर सम्बन्धी वर्गणाओं द्वारा बनी रहती है तथा **(मोहक्षये)** मोह का क्षय हो जाने पर **(क्षुधायै)** क्षुधा की पीड़ा के लिए व **(रुजे)** रोग वेदना के लिए **(अलं न)** समर्थ नहीं है एवं वहाँ **(वेदः अपि)** वेदकर्म भी नहीं है क्योंकि **(तदुदीरणायाः अभावात्)** वेदकर्म का उदय व उदीरणा का सर्वथा अभाव होने से। क्योंकि मोह का ही जहाँ अभाव है वहाँ उसी की वेद प्रकृति कहाँ होगी? नहीं होगी।

अनन्तशक्तौ च दृगादिपूर्तौ, कर्माणि सर्वाणि विहत्य मोक्षं।
किं कारणं नो गतवान् स नोर्हन्, नार्होऽसि वक्तुं त्विति हे हितैषिन्॥ ९८॥

अन्वयार्थ– (अनन्तशक्तौ) अनन्त शक्ति **(च)** और **(दृगादिपूर्तौ)** अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान तथा अनन्तसुख की पूर्णता हो जाने पर **(सर्वाणि कर्माणि)** सभी कर्मों को **(विहत्य)** नष्ट कर **(किं कारणं)** क्या कारण है कि भगवान् **(मोक्षं)** मोक्ष को **(नो)** नहीं **(गतवान्)** गए। अतः **(सः)** वह भगवान् **(अर्हन्)** अर्हन्त **(नो)** नहीं हैं? **(इति तु)** उस तरह **(हे हितैषिन्)** हे हिताभिलाषी तुम **(वक्तुं)** कहने के लिए **(नार्होऽसि)** समर्थ नहीं हो।

अंतराय का विलय हुआ सो, अनंत बल भी तत्क्षण हो।
श्रेष्ठ वर्गणायें आती सो, तन का भी संरक्षण हो॥
मोह कर्म का नाश हुआ सो, क्षुधा रोग का नाम नहीं।
रुकी हुई है, पूर्व उदीरण, वेद कर्म का काम नहीं॥९७॥
कर्म काट जिन महाबली हो, रत्नत्रय के साधन से।
क्यों न गये शिव जिनमें जितना, अभी नहीं इस कारण से॥
नहीं करो यूँ उतावली तुम, सुनो बनो हठवन्त नहीं।
प्रसङ्ग परिसर से जुड़ सुनते, सदा सुधी गुणवन्त सही॥९८॥

हन्तव्यमायुर्न यतोऽत्र हिंसा, ततः स दूरः समुपैति मोक्षम्।
आपूर्य पूर्णं स्वगतं तदायुः, शेषान् समीकृत्य विधींश्च हत्वा॥९९॥

अन्वयार्थ–(आयुः) आयुकर्म **(न हन्तव्यं)** नष्ट करने योग्य नहीं **(यतः)** क्योंकि **(अत्र)** आयु नष्ट करने में **(हिंसा)** हिंसा पाप है। **(ततः)** उस कारण से **(स्वगतं)** स्वयं को प्राप्त **(तदायुः)** उतनी आयु को **(पूर्णं)** पूर्ण रूप से **(आपूर्य)** पूर्ण करके **(शेषान् विधीन्)** नामकर्म, गोत्रकर्म और वेदनीयकर्म को **(समीकृत्य)** आयु के समान स्थिति वाले करके **(च)** फिर शेष कर्मों को **(हत्वा)** नष्ट करके **(सः)** वह अरहंत केवली भगवान् हुए **(दूरः)** अनादि से दूर रहने वाले **(मोक्षं)** मोक्ष को **(समुपैति)** प्रस्थान करते हैं।

योगेन साकं त्वनुवर्ततेऽत्र, सदास्रवः स्याच्च सदा स दाहः।
भविष्यगर्भेऽपि शिवानुभूति, र्या वर्तमाना ह्युदयानुबद्धा ॥१००॥

अन्वयार्थ– (अत्र) सयोगी जिन में **(योगेन साकं)** योगों के साथ **(सदा)** हमेशा **(आस्त्रवः)** कर्म का आस्त्रव **(तु)** तो **(अनुवर्तते)** साथ-साथ होता रहता है **(सः च सदा)** और वह सदा निरन्तर **(दाहः स्यात्)** आकुलता रूप होता है। **(या शिवानुभूतिः)** जो अव्याबाध सुखरूप मोक्ष की अनुभूति है **(सा)** वह **(भविष्यगर्भे)** होने वाली सिद्ध पर्याय के गर्भ में होने पर **(अपि)** भी **(हि)** निश्चिय से **(वर्त्तमाना)** वर्तमान अनुभूति **(उदयानुबद्धा)** साता-असाता दोनों में से एक के उदय से अनुबद्ध होती है।
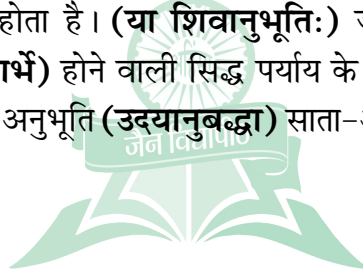
प्रथम आयु सम सब कर्मों की, स्थिति को करना होता है।
यथाकाल फिर ध्यान योग से, उनको हरना होता है॥
प्राणघात से हिंसा होती, आयु कर्म को प्राण कहा।
उसे पूर्ण कर बाद मोक्ष को, करते जिन प्रस्थान अहा॥९९॥
स्थूल योग या सूक्ष्म योग से, जब तक जिनवर सहित रहे।
आकुलता का दाता साता, आता रहता विदित रहे॥
उदय दशा का अनुभव करते, सिद्धपने का आज नहीं।
आज अनागत का अनुभव है, अतीत का भी आज सही॥१००॥

ज्ञानं ह्यनन्तं तु भवेद्भवे नु, ज्ञानैकसञ्चेतनताऽस्तु मुक्तौ।
प्राणैरतीता अधिकारिणोऽस्यास्तैः कुन्दकुन्दैर्भणितेति देवैः॥१०१॥

अन्वयार्थ—(भवे) केवलीभगवान् के जीवन में–पर्याय में **(तु)** तो **(हि)** निश्चित ही **(अनन्तं ज्ञानं)** अनन्तज्ञान **(भवेत्)** होवे **(नु)** किन्तु **(मुक्तौ)** मुक्ति में **(तु)** तो **(ज्ञानैकसञ्चेतनता)** ज्ञानरूप एक संचेतना **(अस्तु)** होती है। **(अस्याः)** इस ज्ञानचेतना के **(अधिकारिणः)** अधिकारी **(प्राणैः अतीताः)** प्राणों से रहित सिद्ध आत्मायें हैं। **(इति)** इस प्रकार **(तैः)** उन **(कुन्दकुन्दैर्देवैः)** आचार्य कुन्दकुन्द देव ने वह ज्ञानचेतना **(भणिता)** कही है।

सूक्ष्मक्रियां तां तु तनोरधीना, - मालम्ब्य सम्यग्ह्यनिपातशीलाम्।
निग्रह्य योगं विधिवच्चतुर्थाद् ध्यानाच्च हत्वाऽपि विधीन् स मुक्तः॥ १०२॥

अन्वयार्थ—(तनोरधीनां) शरीर के अधीन **(अनिपातशीलाम्)** कभी न गिरने वाली–अपतनशील **(तां)** उस आगम प्रसिद्ध **(सूक्ष्मक्रियां)** सूक्ष्म क्रिया का **(हि)** वस्तुतः **(सम्यक्)** अच्छी तरह **(आलम्ब्य)** आलम्बन करके **(च)** और **(विधिवत्)** विधिपूर्वक **(योगं)** योगों का **(निग्रह्य)** निग्रह करके **(चतुर्थात् ध्यानात्)** चतुर्थ शुक्लध्यान से **(विधीन् अपि)** कर्मों को भी **(हत्वा)** नाशकरके **(सः)** अर्हत् परमेष्ठी **(मुक्तः)** संसार से, देह से, कर्मों से, सदा के लिए मुक्त हो जाता है।

भले मिले संसार दशा में, दुर्लभ केवल - ज्ञान रहा।
ज्ञान चेतना किन्तु मुक्ति में, सिद्धों का सम्मान महा॥
ज्ञान चेतना के अधिकारी, प्राणों से जो रीत रहें।
प्राभृत सारों में पढ़ते हम, कुन्दकुन्द के गीत रहें॥१०१॥
योगों को तो सूक्ष्म किया फिर, सूक्ष्मों का भी नाश किया।
शुक्लध्यान फिर किया तीसरा, सूक्ष्म काय में वास किया॥
पल पल यूँ चलने से फलतः, योग मात्र से रिक्त हुआ।
अंतिम गुण में चरम शुक्ल से, कर्म जलाकर मुक्त हुआ॥१०२॥

कषाययोगैर्विरते गुणेऽस्मिन्, ध्यानं स्वभावोऽस्तु ततो हि मोक्षः।
मोक्षस्वरूपाद्विमुखा मतिस्ते, ह्यग्नेर्न धूमो भवति स्वभावः ॥१०३॥

अन्वयार्थ—प्रश्न सहित– **(कषाययोगैः)** कषाय और योगों से **(विरते)** रहित **(अस्मिन्)** इस **(गुणे)** गुणस्थान में **(ध्यानं)** ध्यान **(स्वभावः)** स्वभावरूप **(अस्तु)** होवे **(ततः)** उससे **(हि)** निश्चित **(मोक्षः)** मोक्ष हो? ऐसा कहने वाले हे भव्य **(ते)** तेरी **(मतिः)** बुद्धि **(मोक्षस्वरूपात्)** मोक्ष के स्वरूप से **(विमुखा)** विपरीत है। क्योंकि **(अग्नेः)** अग्नि का **(स्वभावः)** स्वभाव **(धूमः न हि)** धुँआ नहीं **(भवति)** होता है। धूम तो अग्नि का कार्य है, स्वभाव तो दाहकता है। उसी प्रकार ध्यान मुक्ति का कारण है, स्वभाव नहीं। ध्यान का कार्य मोक्ष है।

मुक्तो भवँस्तत्क्षण ऊर्ध्वमात्मा, लोकाग्रमेति प्रकटात् स्वभावात्।
धर्मास्तिकायस्य परं त्वभावात्, परं न तस्यास्ति गतिर्जिनोक्तिः॥१०४॥

अन्वयार्थ—कर्मबन्धन से **(मुक्तः भवन्)** मुक्त होता हुआ **(आत्मा)** अरहन्त परमात्मा **(तत्क्षणे)** उसी समय **(स्वभावात् प्रकटात्)** स्वभाव के प्रकट होने से **(ऊर्ध्वं)** ऊपर की ओर **(लोकाग्रं)** लोक के अग्रभाग तक **(एति)** जाता है। **(परं तु)** आगे तो **(धर्मास्तिकायस्यअभावात्)** धर्मास्तिकाय का अभाव होने से **(तस्य)** सिद्धात्मा की **(गतिः)** गति **(परं)** आगे **(न अस्ति)** नहीं होती है। **(जिनोक्तिः)** ऐसा जिनदेव ने कहा है।
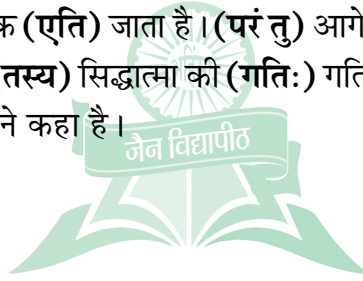
स्वभाव से ही स्वभाव मिलता, अंतिम गुण में ध्यान रहा।
उसको स्वभाव मानो जिससे, मोक्ष मिले वरदान रहा॥
मोक्ष तत्त्व का तुम्हें ज्ञान ना, आगम का ना अनुभव है।
धूम्र अग्नि का कार्य रहा पर, स्वभाव कैसे संभव है ?॥१०३॥
मुक्तात्मा में ऊर्ध्व गमन का, स्वभाव अव्यय उदित हुआ।
लोक शिखर तक एक समय में, जाना उसका उचित हुआ॥
धर्म द्रव्य का अभाव कारण, आगे उसका गमन नहीं।
निमित्त का भी प्रभाव अपना, होता कहते श्रमण गणी॥१०४॥

सिद्धा न जीवा इति सर्वथा न, प्राणैर्विमुक्ता न तु जीवनेन।
मोक्षे सुखं चेत्खलु तस्य भोक्ता, भोक्त्रा विना तत्किमु भोग्यवस्तु॥ १०५॥

अन्वयार्थ—(सिद्धा न जीवाः) सिद्धात्मा जीव नहीं है **(इति)** ऐसा **(न सर्वथा)** सर्वथा नहीं है क्योंकि सिद्ध भगवान् **(प्राणैः विमुक्ताः)** प्राणों से रहित हैं **(न तु जीवनेन)** जीवन से रहित नहीं हैं। **(चेत्)** यदि **(मोक्षे)** मोक्ष में **(सुखं)** सुख **(खलु)** निश्चित रूप से है **(तस्य)** तो उसके **(भोक्ता)** भोगने वाले भी अवश्य होंगे। **(भोक्त्रा विना)** भोक्ता के बिना **(तत्)** वह **(भोग्यवस्तु)** भोगने योग्य पदार्थ सुख **(किमु)** किस महत्त्व का है? कुछ नहीं।

मुक्ता न मुक्तित्वमुपोज्झ्य तेऽस्मिन्, भवे भविष्यन्ति विभाववन्तः।
द्रव्यं विना भावदशा कुतः स्याद्, घृतं न दुग्धत्वमियात्पुनर्वा॥१०६॥

अन्वयार्थ—(ते) वे प्रसिद्ध **(मुक्ताः)** मुक्त जीव **(मुक्तित्वं)** मुक्ति के स्वभाव को **(उपोज्झ्य)** छोड़कर **(विभाववन्तः)** विभाव वाले होकर **(अस्मिन् भवे)** इस संसार के-भव-पर्याय में **(न)** नहीं **(भविष्यन्ति)** होंगे। **(द्रव्यं विना)** द्रव्य के बिना **(भावदशा)** पर्याय की अवस्था **(कुतः स्यात्)** कैसे होगी? **(वा)** जैसे **(घृतं)** घी **(पुनः)** फिर से **(दुग्धत्वं)** दुग्ध अवस्था को **(न)** नहीं **(इयात्)** प्राप्त होता है।

''सिद्ध जीव'' ना नहीं सर्वथा, अनेकान्त भी विदित रहे।
प्राणों से तो रहित हुए हैं, जीवपने से सहित रहे॥
मोक्ष धाम में जब सुख है तो, भोक्ता भी अनिवार्य रहा।
भोक्ता बिन फिर भोग्य वस्तु क्या, मूल्य रहा क्या कार्य रहा॥१०५॥
मुक्त मुक्ति तज विभाव वाले, होकर भव में ना आते।
द्रव्यकर्म बिन विभाव कब हो, उन बिन किस विध विधि आते॥
दधि मथकर नवनीत निकाला, उसे तपाकर घृत पाते।
फिर से क्या घृत दुग्ध रूप हो, गौर करो जी तुम तातैं॥१०६॥

ध्येयान्विदेहांश्च विदेकदेहान्, गुणैर्विमुक्तांश्च गुणैः सुयुक्तान्।
शुद्धान्विशुद्धान्विधिभिर्न बद्धान्, सिद्धान् मुदेऽहं मनसा नमामि॥१०७॥

अन्वयार्थ—(ध्येयान्) ध्येयस्वरूप **(विदेहान्)** देह रहित **(च)** तथा **(विदेकदेहान्)** ज्ञान ही जिनका अद्वितीय शरीर है **(गुणैर्विमुक्तान्)** क्षायोपशमिक गुणों से अथवा देहाश्रित गुणों से विमुक्त-रहित **(गुणैः च सुयुक्तान्)** क्षायिक स्वरूप आत्म गुणों से युक्त **(शुद्धान्)** शुद्ध **(विशुद्धान्)** विशुद्ध **(विधिभिः)** कर्मों से **(न बद्धान्)** नहीं बँधे **(सिद्धान्)** अनन्तानन्त सिद्धों को **(अहं)** मैं **(मुदे)** प्रसन्नता के लिए **(मनसा)** मन से **(नमामि)** नमस्कार करता हूँ।

सम्माननीयांश्च विवान्तमानान्, सच्चेतनालिङ्गनपाशबद्धान्।
अनागतान् वा विगतागतांस्तान्, सिद्धान् मुदेऽहं मनसा नमामि ॥१०८॥

अन्वयार्थ—(सम्माननीयान्) सम्मान के योग्य **(विवान्तमानान्)** मान से रहित **(सच्चेतनालिङ्गन-पाशबद्धान्)** सच्चेतना के आलिंगन पाश से बँधे **(च)** और **(अनागतान्)** भविष्य में होने वाले **(वा)** तथा **(विगतागतान्)** अतीत में हुए तथा वर्तमान में हो रहे **(तान्)** उन **(सिद्धान्)** सिद्धों को **(अहं)** मैं **(मुदे)** प्रसन्नता के लिए **(मनसा)** मन से **(नमामि)** नमस्कार करता हूँ।

ध्येय बने हैं विदेह भी हैं, पूर्ण बोध के वदन बने।
बाह्य गुणों से परे हुये हैं, सकल गुणों के सदन बने॥
वसु विध विधि से विलग हुये हैं, शुद्ध बने हैं गगन बने।
तन से मन से वचनों से भी, सिद्धों को हो नमन घने॥१०७॥
मान्य रहे हैं प्रमाण भी हैं, मान मदों से विरत हुये।
शुद्ध चेतना की मृदुता में, पूर्ण डूबकर निरत हुये॥
आज कर रहे काल करेंगे, लोक शिखर तक गमनपने।
तन से मन से वचनों से भी, सिद्धों को हो नमन घने॥१०८॥

गणाधिपैर्यैर्मुनिसाधुसङ्घैः, पूज्योऽस्ति पूज्यैरमरैर्नरौघैः।
यान् सेवमानो भुवि धर्मचक्री, सिद्धान् मुदेऽहं मनसा नमामि॥ १०९॥

अन्वयार्थ– **(यैः)** जिन **(पूज्यैः)** पूज्य **(गणाधिपैः)** गणधर देवों के द्वारा **(मुनिसाधुसङ्घैः)** मुनि–साधुसंघ के द्वारा **(पूज्यः)** पूज्य **(अस्ति)** हैं। **(अमरैः)** देवों के द्वारा **(नरौघैः)** मनुष्य समूह के द्वारा भी पूज्य हैं तथा **(यान्)** जिनकी **(सेवमानः)** सेवा करने वाला **(भुवि)** मनुष्य लोक में **(धर्मचक्री)** धर्मचक्रवर्ती अर्थात् तीर्थंकर होता है ऐसे **(सिद्धान्)** सिद्धों को **(मनसा)** मन से **(मुदे)** हर्ष के लिए **(अहं)** मैं **(नमामि)** नमस्कार करता हूँ।

देवेषु मर्त्येषु सुरासुरेषु, तद्बिन्दुमात्रं गदितं सुखं वै ।
परन्तु यत्रामृतसिन्धुरस्ति, सिद्धान् मुदेऽहं मनसा नमामि ॥११०॥

अन्वयार्थ– **(देवेषु)** देवों में **(मर्त्येषु)** मनुष्यों में **(सुरासुरेषु)** सुर और असुरों में **(तत् सुखं)** वह इन्द्रिय सुख **(बिन्दुमात्रं)** बिन्दु बराबर **(वै)** ही **(गदितं)** कहा है। **(परन्तु)** परन्तु **(यत्र)** जहाँ **(अमृतसिन्धुः)** अमृत का समुद्र **(अस्ति)** है **(सिद्धान्)** उन सिद्धों को **(मुदे)** प्रमोद भाव के लिए **(अहं)** मैं **(मनसा)** मन से **(नमामि)** नमस्कार करता हूँ।

देवों में जो पूज्य बने हैं, देवेन्द्रों से पुज जाते।
जिनके पद रज शिर पर लेने, नरपुंगव सज धज आते॥
गणधर पूजित तीर्थंकरों के, ध्येय बने हैं श्रमण सुने।
तन से मन से वचनों से भी, सिद्धों को हो नमन घने॥१०९॥
सुरासुरों में नरामरों में, भोगभूमिजों भवनों में।
बिन्दु मात्र सुख बतलाया है, साधक वृन्दों श्रमणों में॥
किन्तु जहाँ पर सुधा सिन्धु है, जिसमें जो नित मगन सने।
तन से मन से वचनों से भी, सिद्धों को हो नमन घने॥११०॥

आगो न रागो न तथा परागो, भोगोपभोगौ न हि यत्र योगः।
जरा न जातिस्तनुजा तु जातु, सिद्धान् मुदेऽहं मनसा नमामि॥१११॥

अन्वयार्थ– **(यत्र)** जहाँ **(न)** न **(आगः)** पाप है **(न रागः)** न राग है **(तथा परागः)** तथा न गंध है। **(न हि)** वहाँ न ही **(भोगोपभोगौ)** भोग और उपभोग के साधन हैं। और न **(योगः)** योग है। **(जरा न)** न बुढ़ापा है, **(तनुजा)** शरीर से उत्पत्ति नहीं है। **(न तु जातु जातिः)** न कभी जन्म है। ऐसे **(सिद्धान्)** उन सिद्धों को **(अहं)** मैं **(मुदे)** प्रसन्नता के लिए **(मनसा)** मन से **(नमामि)** नमस्कार करता हूँ।

येषां न चायुर्मरणं कुतः स्यात्, मृत्योरभावे किमु तत्र भीतिः।
गतिर्मतिर्नास्ति यतिः समस्ति, सिद्धान् मुदेऽहं मनसा नमामि॥११२॥

अन्वयार्थ–(येषां न आयुः) जिनकी आयु नहीं है उनका **(मरणं च)** मरण भी **(कुतः स्यात्)** कैसे होगा? **(मृत्योः)** मृत्यु के **(अभावे)** अभाव होने पर **(तत्र)** वहाँ सिद्धों में **(भीतिः)** भय **(किमु)** क्यों होगा? वहाँ **(गतिः)** गमन, **(मतिः)** मनन, **(यतिः)** यतन भी **(न समस्ति)** नहीं है। **(सिद्धान्)** ऐसे सिद्धों को **(मुदे)** प्रसन्नता के लिए **(अहं)** मैं **(मनसा)** मन से **(नमामि)** नमन करता हूँ।

राग आग ना ताप पाप है, जहाँ गन्ध मकरन्द नहीं।
भोग नहीं उपभोग नहीं है, ध्यान योग सम्बन्ध नहीं॥
तथा जरा भी जरा नहीं है, देह बिना क्यों जनन बने।
तन से, मन से, वचनों से भी, सिद्धों को हो नमन घने॥१११॥
जहाँ आयु का उदय नहीं है, वहाँ भला फिर मरण कहाँ ?।
जहाँ मरण ही नहीं रहा हो, फिर क्या भय का भरण रहा ?॥
जनमें ना तो गमन यतन सो, उनमें फिर क्यों मनन बने।
तन से, मन से, वचनों से भी, सिद्धों को हो नमन घने॥११२॥

ध्रौव्येण चायेन तथा व्ययेन, तत्त्वं निजीयं परिणामयन्तः।
निरामया ये नितरां निकायाः, सिद्धान् मुदेऽहं मनसा नमामि ॥११३॥

अन्वयार्थ–(ये नितरां निकायाः) जो पूर्णरूप से काय रहित हैं अतः **(निरामयाः)** रोग रहित हैं **(तथा)** तथा **(आयेन व्ययेन ध्रौव्येण च)** उत्पत्तिरूप से, विनाशरूप से और ध्रौव्यरूप से **(निजीयं तत्त्वं)** निज तत्त्व को **(परिणामयन्तः)** परिणमन कराते हैं ऐसे **(सिद्धान्)** सिद्धों को **(अहं)** मैं **(मुदे)** आनन्द प्राप्ति के लिए **(मनसा)** मन से **(नमामि)** नमन करता हूँ।

पुष्यन्तु पश्यन्ति समं समस्तं, न नोऽत्र दृष्टावुपचारयन्ति।
सूक्ष्मत्वशीलं ह्यनुपालयन्ति, सिद्धान् मुदेऽहं मनसा नमामि ॥११४॥

अन्वयार्थ–जो **(समं)** एक साथ **(समस्तं)** सबको **(पश्यन्ति)** देखते हैं **(अत्र)** यहाँ इस लोक में **(नो)** हमारी **(दृष्टौ)** दृष्टि में जो **(न)** नहीं **(उपचारयन्ति)** उतरते हैं–विचरण करते हैं आते हैं **(सूक्ष्मत्वशीलं)** सूक्ष्मत्व स्वभाव को **(हि)** निश्चय से जो **(अनुपालयन्ति)** अनुपालन करते हैं **(पुष्यन्तु)** पोषण करते हैं **(सिद्धान्)** उन सिद्धों को **(अहं)** मैं **(मुदे)** प्रसन्नता के लिए **(मनसा)** हृदय से **(नमामि)** नमस्कार करता हूँ।

ध्रौव्य आय व्यय धर्मों वाले, आत्म तत्त्व की परिणति में।
कर्त्ता भोक्ता स्वामी बनकर, शोभित हैं पञ्चम गति में॥
निरे निरामय नित्य निरंजन, निजी ज्ञान में सघन बने।
तन से, मन से, वचनों से भी, सिद्धों को हो नमन घने॥११३॥
जो हैं उनके सबको लखते, जिनमें सब झिलमिल नचते।
फिर क्या कारण निरावरण हो, मेरी आँखों से बचते ?॥
सूक्ष्म बने हैं, अमूर्त सो हैं, मेरे भी सब विघन हने।
तन से, मन से, वचनों से भी, सिद्धों को हो नमन घने॥११४॥

रचना का समय व स्थान

व्योमगन्धगतिगन्धे, कुण्डले वीरवत्सरे।

श्रुतस्य पंचमीमित्वा, हीतिमियंत्विता कृतिः॥११५॥

अन्वयार्थ—(कुण्डले) कुण्डलपुर सिद्धक्षेत्र पर **(व्योमगन्धगतिगन्धे)** व्योम-आकाश ०, गन्ध-२, गति-५, गन्ध-२, उल्टे क्रम से २५२० **(वीर वत्सरे)** वीर निर्वाण सम्वत् में **(श्रुतस्य)** श्रुत की ज्येष्ठ शुक्ला **(पंचमी)** पंचमी को **(हि)** ही **(इत्वा)** प्राप्त करके **(इयं कृतिः)** यह रचना **(इतिं)** समाप्ति को **(इता)** प्राप्त हुई।

शतक	काल	स्थान
१. श्रमणशतकम्	वीर निर्वाण संवत् २५०१	अजमेर (राजस्थान)
२. भावनाशतकम्	वीर निर्वाण संवत् २५०२	फिरोजाबाद (उत्तरप्रदेश)
३. निरञ्जनशतकम्	वीर निर्वाण संवत् २५०३	कुण्डलपुर, दमोह (म० प्र०)
४. परीषहजयशतकम्	वीर निर्वाण संवत् २५०८	कुण्डलगिरि, कोनीजी, जबलपुर (म० प्र०)
५. सुनीतिशतकम्	वीर निर्वाण संवत् २५०९	ईसरी (गिरडीह, बिहार)
६. चैतन्यचन्द्रोदय	वीर निर्वाण संवत् २५२०	कुण्डलपुर, दमोह (म० प्र०)